

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

स० २०४१

प्रथम संस्करण

२०,०००

मूल्य तीन रुपये पचास पैसे

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

नम्र निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीतामे भगवान् अपनी दिव्य वाणीद्वारा मानवके उद्धारके लिये अनेक युक्तियुक्त उपाय बतलाये हैं, जिनसे जीवका बहुत जल्दी ही कल्याण हो सकता है। कोई कैसा ही मनुष्य क्यों न हो, वह अपने स्वभाव और अधिकारानुसार इसमें अपने कल्याणका साधन प्राप्त कर सकता है; पर विषय वैशिष्ट्यकी गूढ़ताका भलीभाँति बोधकरानेके लिये गीतातत्त्वार्थके मर्मज्ञकी आवश्यकता है। उसकी पूर्णता भी हमारे परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा बहुत ही सुन्दर, सरस एवं सरल भाषा-शैलीमें 'गीताका आरम्भ' नामक पुस्तक पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत करनेसे हुई। प्रस्तुत पुस्तकमें श्रीस्वामीजी महाराजने साधकोंको इस बातका बोध कराया है कि मनुष्य शास्त्रकी आज्ञानुसार कर्तव्य-पालन कर अपना उद्धार कर सकता है।

अतः गीताप्रेमी पाठकोंसे हमारा निवेदन है कि प्रस्तुत पुस्तकका अध्ययन, मनन एवं भलीभाँति चिन्तन कर अपने कल्याणका मार्ग प्रशस्त करें।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

भीमद्भगवद्गीताके पहले और दूसरे अध्यायोंका मूल पाठ ठ-भ
प्राकयन म-ज्ञ

पहला अध्याय

श्लोक-संख्या	प्रधान विषय	पृष्ठ-संख्या
१-११ पाण्डव और कौरव-सेनाके	मुख्य-मुख्य	
महारथियोंके नामोंका कथन	...	१-३६
१२-१९ दोनों सेनाओंके शङ्ख-वादनका वर्णन	...	३६-५२
२०-२७ अर्जुनद्वारा सेना-निरीक्षण	...	५२-६७
२८-४७ अर्जुनद्वारा कायरता (२८-३०), मोह (३१-३७), अनर्थ-परम्परा (३८-४४) और शोकयुक्त (४५-४६) वचन कहना तथा संजय- द्वारा अर्जुनकी स्थितिका कथन	...	६७-१०७
सूक्ष्म विषय		
१ धृतराष्ट्रका युद्ध-विषयक प्रश्न	...	१-१३
२ पाण्डवसेनाको देखकर दुर्योधनका द्रोणाचार्यके पास जाना	...	१३-१६
३ दुपदपुत्रका नाम लेकर दुर्योधनका द्रोणाचार्यको उकसाना	...	१७-१९
४-६ दुर्योधनद्वारा पाण्डवसेनाके मुख्य-मुख्य सत्रह महारथियोंके नामोंका कथन	...	१९-२४

[७]

५ अलेख-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ-संख्या
७	अपने सेनानायकोंको जाननेके लिये दुर्योधनकी द्रोणाचार्यसे प्रार्थना ...	२५-२७
८	दुर्योधनद्वारा अपनी सेनाके प्रधान-प्रधान सात महारथियोंके नामोंका कथन ...	२७-३०
९	दुर्योधनद्वारा अपने हितैषी शूरवीरोंकी महत्ताका वर्णन ...	३०-३१
१०	दुर्योधनके मनमें अपनी सेनाकी न्यूनताका और पाण्डवसेनाकी महत्ताका चिन्तन ... (विशेष बात ३३)	३१-३५
११	अपने शूरवीरोंसे भीष्मकी रक्षा करनेके लिये दुर्योधनकी प्रेरणा ...	३५-३६
१२	दुर्योधनकी प्रसन्नताके लिये भीष्मका गरजकर शङ्ख बजाना ...	३६-३९
१३	कौरवसेनाके अनेक बाजोंका बजना ...	३९-४१
१४-१५	श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेनके द्वारा शङ्खोंका बजाया जाना ...	४१-४६
१६	युधिष्ठिर, नकुल और सहदेवके द्वारा शङ्ख-वादन ...	४६-४७
१७-१८	पाण्डवसेनाके अनेक महारथियोंका शङ्ख बजाना	४७-४८
१९	पाण्डवसेनाकी भयंकर शङ्ख-ध्वनिसे कौरवोंके हृदय विदीर्ण होना ...	४८-५२
२०-२१	कौरवसेनाको देखकर अर्जुनका धनुष उठाना और दोनों सेनाओंके मध्यमें रथ खड़ा करनेके लिये भगवान्को आज्ञा देना ...	५२-५५

श्लोक-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ-संख्या
२२	अर्जुनद्वारा विपक्षियोंको देखनेकी इच्छा प्रकट करना ..	५५-५८
२३	अर्जुनद्वारा दुर्योधनका प्रिय करनेवालोंको देखनेकी इच्छा प्रकट करना ..	५८-६०
२४-२५	भगवान्द्वारा भीष्म-द्रोणके सामने रथको खड़ा करना और कुरुवर्जियोंको देखनेके लिये अर्जुनको आश देना ...	६०-६४
२६-२८	दोनों सेना भौंमे स्थित स्वजनोंको देखकर अर्जुनका मोहित होना और विपादयुक्त वचन बोलना	६४-६७
२९-३०	अर्जुनकी कायरताके आठ लक्षण	६७-७०
३१	शत्रुओंको विपरीत देखकर अर्जुनका युद्धके परिणाममें अपना हित न देखना ...	७०-७२
३२	अर्जुनद्वारा विजय, राज्य आदिको प्राप्त करनेकी अनिच्छा प्रकट करना ...	७२-७४
३३	स्वजनोंके बिना राज्य आदिको निरर्थक बताना	७४-७५
३४-३५	स्वयंके मारे जानेपर अथवा त्रिलोकीका राज्य मिलनेपर भी स्वजनोंको मारनेका निषेध	७६-८०
३६	आततायीको मारनेसे पापकी प्राप्ति बताना ...	८०-८३
३७	युद्ध करनेका सर्वथा अनौचित्य बताना ..	८३-८४
३८-३९	दुर्योधनादिका युद्धमें प्रवृत्त होनेका और अपना युद्धसे निवृत्त होनेका कारण बताना .. (विशेष बात ८६)	८४-८८
४०	कुलके नाशसे सनातन कुलधर्मोंका नष्ट होना और अधर्मका वृद्धि ..	८९-९०

श्लोक-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ-संख्या
३१	अधमं बढ़नेसे स्त्रियोंका दूषित होना और वर्णसंकर पैदा होना ...	९०-९२
४२	वर्णसंकरसे कुल और कुलघातियोंका नरकोंमें जाना और पितरोंका पतन होना ...	९२-९४
४३-	वर्णसंकरकारक दोषोंसे कुलधर्मों और जातिधर्मोंका नाश होनेका कथन ...	९४
४४	नष्ट हुए कुलधर्मोंवाले मनुष्योंका नरकोंमें वाच होनेका कथन ...	९५-९६
४५	स्वजनोंको मारनेके लिये प्रवृत्त होनेके लिये अर्जुनका पश्चात्ताप करना ...	९६-९९
४६	अर्जुनका युद्धसे उपरत होकर स्वजनोंद्वारा मारे जानेमें भी अपना कल्याण देखना ..	९९-१०२
	(विशेष बात १०१)	
४७	संजयद्वारा शोकाविष्ट अर्जुनकी अवस्थाका वर्णन १०२-१०४ पुष्पिका ...	१०४-१०७
	पहले अव्यायके पद, अक्षर और उवाच ..	१०७-१०८
	पहले अध्यायमें प्रयुक्त छन्द ...	१०८

दूसरा अध्याय

प्रधान विषय

१-१०	अर्जुनकी कायरताके विषयमें संजयद्वारा भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादका वर्णन ...	१०९-१३८
११-३०	सांख्ययोगका वर्णन ...	१३८-२११
३१-३८	क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन ...	२११-२२६
३९-५३	कर्मयोगका वर्णन ..	२२६-२७०
५४-७२	स्थितप्रज्ञके लक्षणों आदिका वर्णन ...	२७०-३३०

श्लोक-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ-संख्या
१	संजयद्वारा अर्जुनके विषादका प्रतिपादन ...	१०९-११६
२-३	भगवान्द्वारा विषादका अनौचित्य बताकर अर्जुनको युद्धके लिये आशा देना ...	११२-११७
४	अर्जुनका भीष्म और द्रोणको मारना अनुचित बताना ...	११७-१२०
५	अर्जुनका युद्ध न करनेमें श्रेय देखना ...	१२०-१२४
	(विशेष बात १२३)	
६	युद्ध करने तथा न करनेमें और विजय होने तथा न होनेमें अर्जुनद्वारा सन्देह प्रकट करना ...	१२४-१२६
७	कर्तव्य-निर्णयके लिये अर्जुनद्वारा भगवान्का शिष्यत्व स्वीकार करना और उनके शरण होना	१२६-१३२
८	अर्जुनद्वारा सांसारिक भोगोंसे शोक-निवृत्तिका उपाय न देखना ...	१३२-१३४
९-१०	युद्ध न करनेका निश्चय प्रकट करके अर्जुनका चुप होना और मुस्कराते हुए भगवान्द्वारा उपदेश आरम्भ करना ...	१३४-१३८
११	भगवान्द्वारा शोकका अनौचित्य बताना ...	१३८-१४४
१२-१३	शरीरीकी नित्यताका वर्णन ...	१४४-१५५
	(विशेष बात १४८)	
१४-१५	विषय-पदार्थोंकी अनित्यता और उनसे व्यथित न होनेकी महिमा ...	१५५-१६२
१६	सत् और असत्की परिभाषा ...	१६२-१६५
१७-१८	सत् असत्की व्याख्या और युद्ध करनेके लिये आज्ञा ...	१६५-१७३

श्लोक-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ-संख्या
१	(विशेष बात १७०, विशेष बात १७२)	
१९	देहीके अकर्तृत्व और अविनाशित्वका कथन ...	१७३-१७५
२०	देहीकी निर्विकारताका कथन ...	१७५-१७९
२१	देहीके अकर्तृत्वकी जाननेकी महिमा ...	१७९-१८०
२२	ब्रह्मके दृष्टान्तसे देहीकी निर्विकारताका वर्णन ...	१८०-१८६
	(विशेष बात १८५)	
२३-२५	देहीकी अविनाशिता, नित्यता और निर्विकारताका वर्णन ...	१८७-१९६
	(विशेष बात १९३)	
२६-२७	दूसरोंकी मान्यताके अनुसार भी देहीके लिये शोक करनेको अनुचित बताना ...	१९६-२००
२८	शरीरोंकी अनित्यताका वर्णन ...	२००-२०१
२९	शरीरोंकी अलौकिकताका वर्णन ...	२०१-२०८
३०	शरीरोंकी नित्यताका वर्णन ...	२०८-२११
	(प्रकरण-सम्बन्धी विशेष बात २१०)	
३१-३२	स्वधर्मरूप कर्तव्यका पालन करनेकी श्रेष्ठता और लाभका वर्णन ...	२११-२१५
	(मार्मिक बात २१३)	
३३-३६	स्वधर्मरूप कर्तव्यका-पालन न करनेसे होनेवाली हानियोंका कथन ...	२१५-२२०
३७-३८	युद्धरूप कर्तव्यका पालन करनेसे लाभ बताते हुए युद्धके लिये आज्ञा देना ...	२२०-२२६
	(प्रकरण-सम्बन्धी विशेष बात २२३)	
३९	कर्मयोगकी दृष्टिसे समबुद्धिकी सुननेकी आज्ञा	२२६-२२८
४०	समबुद्धिके अनुष्ठानकी महिमा ...	२२९-२३१

- ४१ व्यवसायात्मिका बुद्धिकी एकताका और अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धिकी अनेकताका निरूपण ... २३१-२३३
- ४२-४४ अव्यवसायी मनुष्योंकी व्यवसायात्मिका बुद्धि न होनेके हेतुका कथन ... २३३-२३९
(विशेष बात २३७)
- ४५ अर्जुनको निष्काम होनेके लिये आज्ञा देना ... २३९-२४२
- ४६ निष्कामताका निरूपण ... २४२-२४४
- ४७ कर्तव्य-कर्म करनेकी विधि ... २४४-२५०
- ४८ कर्तव्य-कर्म करनेकी विधिकी अनुष्ठानमें लानेका प्रकार ... २५०-२५५
(बुद्धि और समता-सम्बन्धी विशेष बात २५३)
- ४९ सकाम कर्मकी अपेक्षा समबुद्धिकी श्रेष्ठता बताकर समबुद्धिका आश्रय लेनेकी आज्ञा देना ... २५५-२५७
- ५० समबुद्धिके आश्रयका फल बताकर योगमें लगनेकी आज्ञा देना ... २५७-२६०
- ५१ समबुद्धिकी विशेष महिमाका कथन ... २६०-२६३
- ५२-५३ बुद्धिके मोहकलिलको तरनेपर वैराग्य प्राप्त होने और बुद्धिके भटल तथा निश्चल होनेपर योग प्राप्त होनेका कथन ... २६३-२७०
- ५४ स्थितप्रज्ञके विषयमें अर्जुनके चार प्रश्न ... २७०-२७३
- ५५ कामनाओंके त्यागमें स्वरूपमें स्थिति होनेका कथन ... २७४-२७८
- ५६-५७ स्थितप्रज्ञके भावपरक भाषणका वर्णन ... २७८-२८५
- ५८-५९ कृष्णके दृष्टान्तसे स्थितप्रज्ञके संयमका और उसके भीतर रहनेवाली रसबुद्धिकी निवृत्तिका वर्णन ... २८५-२८९

श्लोक-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ-संख्या
६०	रसबुद्धिकी निवृत्ति न होनेसे हानि	... २९०-२९१
६१	रसबुद्धिकी निवृत्तिके लिये भगवत्परायणताकी आवश्यकताका कथन	... २९१-२९४
६२-६३	रसबुद्धिके रहनेसे होनेवाले पतनका क्रम	... २९४-२९८
६४-६५	राग-द्वेषसे रहित एवं अपने वशीभूत इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करनेपर भी स्थितप्रज्ञता होनेका कथन	... २९८-३०३
	(मार्मिक वात ३०२)	
६६	असंयमी पुरुषकी व्यवसायात्मिका बुद्धि और भावना न होनेका तथा उसको सुख और शान्ति प्राप्त न होनेका कथन	... ३०३-३०५
६७	असंयमी साधकके मनकी प्रवृत्ताका कथन	... ३०६-३०९
६८	इन्द्रिय-संयमसे स्थितप्रज्ञताकी प्राप्ति का कथन	३०९ ३११
६९	संयमी पुरुषकी महिमा	... ३११-३१५
७०	समुद्रके दृष्टान्तसे स्थितप्रज्ञकी पूर्णताका कथन	३१५-३१८
७१	कामना, स्पृहा, ममता और अहंताके त्यागसे शान्तिकी प्राप्ति	... ३१८-३२३
	(अहंता-ममतासे रहित होनेका उपाय ३२२)	
७२	कामना आदिसे रहित होनेकी विशेष महिमाका वर्णन	... ३२३-३३०
	(विशेष वात ३२८)	
	पुष्पिका	... ३३०-३३१
	दूसरे अध्यायके पद, अक्षर और उवाच	३३१
	दूसरे अध्यायमें प्रयुक्त छन्द	३३१-३३२



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ प्रथमोऽध्यायः

वृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डुानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युधामन्यु विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थं त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
 पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥१०॥
 अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
 भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥
 तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
 सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥
 ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
 सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥
 ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
 माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥
 पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
 पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
 अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
 नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥
 काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
 घृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
 द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
 सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥
 स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
 नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥
 अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
 प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।

कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्नरणसमुद्यमे ॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्दुष्टे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।

उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।

आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्वन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

कृपया परमाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

गाण्डीवं संसते हस्ताच्चक्चैव परिदह्यते ।
 न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥
 निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
 न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥
 न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
 किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
 येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
 त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
 आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
 मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥
 एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
 अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥
 निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्वाज्जनार्दन ।
 पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥
 तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्सखान्धवान् ।
 स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्माम माधव ॥३७॥
 यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
 कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च वातकम् ॥३८॥
 कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
 कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥
 कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
 धर्मो नष्टे कूलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
 स्त्रीषु दुष्टासु वाष्ण्येय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥
 संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
 पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥
 दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
 उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुरुधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥
 उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
 नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥
 अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
 यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥
 यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
 धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
 विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो

नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णकुलेक्षणम् ।
 विपीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

[थ]

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

क्लेश्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।

क्षुद्रं हृदयदौर्वल्यं त्यक्तवोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।

इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिद्धन ॥ ४ ॥

गुरुनहत्वा हि महानुभावान्

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।

हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव

भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो

यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषाम-

स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्

यच्छोकमुच्छोषगमिन्द्रियाणाम् ।

अवाप्य

भूमावसपत्नमृद्धं

गज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

सजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विपीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच

अशौच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतास्रनगतास्रंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

नथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापाविनोऽनिन्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

अं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

नासतो विद्यन्ते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यञ्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-

न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-

न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाहोऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
 तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥
 अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
 अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥
 आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
 माश्चर्यवद्ब्रूदति तथैव चान्यः ।
 आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
 श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥
 देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
 तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥
 स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
 धर्म्याद्वि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥
 यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
 सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥
 अथ चेत्त्वमिमं धर्म्य संग्रामं न करिष्यसि ।
 ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥
 अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
 संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥
 भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
 येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥
 अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
 निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
 तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥
 सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
 ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥
 एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
 बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥
 नेहाभिरुमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
 स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥
 व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
 बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्ध्योऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥
 यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
 वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
 कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
 क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
 भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहतचेतसाम् ।
 व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥
 त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
 निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥
 यावानर्थं उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
 तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥
 कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
 मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
 सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥
 दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
 बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥
 बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
 तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥
 कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
 जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥
 यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
 तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥
 श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
 समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
 स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
 आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥
 दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
 वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
 नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥
 यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
 इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥
 विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
 रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥
 यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
 इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
 तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
 वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥
 ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
 सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
 क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
 स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥
 रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
 आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
 प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्मोपजायते ।
 प्रसन्नचेतसो ह्यशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥
 नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
 न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
 तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥
 तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
 इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥
 या निशा सर्गभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
 यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥
 आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममा निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो

नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्राक्कथन

मनुष्यमात्रके उद्धारके लिये तीन राजमार्ग प्रस्थानत्रय नामसे कहे जाते हैं—एक वैदिक है, जिसको उपनिषद् कहते हैं; एक दार्शनिक है, जिसको ब्रह्मसूत्र कहते हैं; और एक स्मार्त है, जिसको भगवद्गीता कहते हैं। वैदिक प्रस्थान और दार्शनिक प्रस्थान तो बहुत गहरे हैं और हरेक मनुष्य उनका अधिकारी भी नहीं है; परन्तु स्मार्त प्रस्थान—भगवद्गीताकी शैली बहुत सरल है और मनुष्यमात्र इसको पढ़नेका अधिकारी है।

वैदिक प्रस्थानमें मन्त्र हैं, दार्शनिक प्रस्थानमें सूत्र हैं और स्मार्त प्रस्थान—भगवद्गीतामें श्लोक हैं। भगवद्गीतामें श्लोक होते हुए भी भगवान्‌के वचन होनेसे ये मन्त्र ही हैं। इन श्लोकोंमें बहुत गहरा अर्थ भरा हुआ होनेसे इनको सूत्र भी कह सकते हैं।

भगवद्गीतामें बहुत गहरा अर्थ भरा हुआ है। इसका उपदेश महान् अलौकिक है। इसलिये इसपर कई टीकाएँ हो गयीं और कई टीकाएँ होती ही चली जा रही हैं, फिर भी सन्त-महात्माओं,

विद्वानोके मनमें गीताके नये नये भाव प्रकट होते रहते हैं । इस गम्भीर ग्रन्थपर कितना ही विचार किया जाय, तो भी इसका कोई पार नहीं पा सकता । इस छोटे-से ग्रन्थमें इतनी अलौकिक विवक्षगता है कि अपना वास्तविक कल्याण चाहनेवाला किसी भी वर्ण, आश्रम, देश, सम्प्रदाय, मत आदिका कोई भी मनुष्य क्यों न हो, इस ग्रन्थको पढ़ते ही वह इसमें आकृष्ट हो जाता है । अगर मनुष्य इस ग्रन्थका थोड़ा-सा भी पठन-पाठन करे तो उसको अपने उद्धारके लिये बहुत ही सन्तोषजनक उपाय मिल सकते हैं ।

इस छोटे-से ग्रन्थमें भगवान् ने बहुत ही विवक्षण भाव भर दिये हैं । उसमें जैसे-जैसे गहरे उतरते जाते हैं, वैसे-ही-वैसे उसमेंसे गहरी बातें मिलती चली जाती हैं । जब अच्छे विद्वान् पुरुषके भावोंका भी जल्दी अन्त नहीं आता, फिर जिनका यावन्मात्र अनन्त है, ऐसे भगवान् के द्वारा कहे हुए वचनोंमें भरे हुए भावोंका अन्त आ ही कैसे सकता है ? नहीं आ सकता ।

भगवद्गीतामें मनुष्यके उद्धारके ऐसे अनेक युक्तियुक्त उपाय बताये गये हैं, जिनसे जीवका बहुत जल्दी कल्याण हो सकता है । इनमें मुख्यरूपसे तीन साधन बताये गये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग । ये तीनों ही साधन परमात्मतत्त्वको जनानेमें सर्वथा स्वतन्त्र हैं । इनपर श्रद्धा-विश्वास न करनेसे ही मनुष्य तरह-तरहके दुःख पा रहा है ।

कैसा ही मनुष्य क्यों न हो, उसको गीतामें अपने स्वभाव और अधिकारके अनुसार अपने कल्याण का साधन मिल सकता है ।

इसी प्रकार कैसी ही परिस्थिति क्यों न हो, उसी परिस्थितिमें रहता हुआ मनुष्य अनायास ही अपना कल्याण कर सकता है। हरेक दर्शनके अलग-अलग अधिकारी होते हैं, पर गीताकी यह विलक्षणता है कि जो सुगमतापूर्वक केवल अपना उद्धार चाहते हैं, वे सब-के-सब गीताके अधिकारी हैं।

वास्तवमें इस ग्रन्थकी महिमाका वर्णन करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है।

महाभारत-ग्रन्थमें महाभारत युद्धका जो वर्णन हुआ है, वह भीष्मपर्वसे ही शुरू हुआ है। युद्धारम्भके पहले दिन ही भगवान् ने अर्जुनको गीताका उपदेश दिया है। इस गीतामें पहले दोनों सेनाओंके निरीक्षणका प्रसङ्ग आता है। दुर्योधन पाण्डवसेनाको देखकर द्रोणाचार्यके पास जाता है और अर्जुन कौरवसेनाको देखकर, हाथमें धनुष उठाकर अपने सारथि—जगत्के आचार्य भगवान् श्रीकृष्णको आज्ञा देते हैं कि 'हे अग्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये, जिससे मैं यह देख लूँ कि मेरेको किन-किनके साथ युद्ध करना है।'

अर्जुनको यह विश्वास था कि मेरे रहते हुए दुर्योधन आदिकी विजय नहीं हो सकती, मैं अकेला ही इनपर विजय कर सकता हूँ। कारण कि अर्जुनने असुरों, राक्षसों, देवताओं आदिपर विजय की थी और किरातरूपसे आये साक्षात् भगवान् शङ्करके साथ भी युद्ध किया था। अतः अर्जुनके भीतर बड़ी शूरीरता और आत्मविश्वास था। उनको भगवान् के बलका भी सहारा था। इसलिये अपनी विजय होनेमें उनको सन्देह नहीं था। इस दृष्टिसे अर्जुनने

भगवान् अपने उपदेशका आरम्भ कर देते हैं और बड़े विलक्षणरूप-से सबके अनुभवकी बात बताते हैं । भारतीय संस्कृतिको माननेवाले लोग तो यह अच्छी तरह जानते हैं कि शरीर धारण करनेके पहले भी मैं स्वयं था और शरीर छूटनेके बाद भी मैं स्वयं रहूँगा । शरीर तो निरन्तर बदलता रहता है और मैं स्वयं निरन्तर रहता हूँ । साधारण रीतिसे ऐसा विवेक सबमें होनेपर भी मनुष्य भोग-पदार्थोंमें आसक्ति करके भोगोंको भोगनेमें और उनका संग्रह करनेमें लगा रहता है तथा शरीर, इन्द्रियों आदिसे सुख लेता रहता है । इस सुखासक्तिके कारण वह शरीरको ही अपना स्वरूप मान बैठता है, जिससे उसकी शरीरमें अहंता और ममता पैदा हो जाती है अर्थात् अपनेको शरीर माननेसे 'अहंता' और शरीरको अपना माननेसे 'ममता' पैदा हो जाती है । इस कारण वह शरीरसे अपनी पृथक्ता- (अलगव-) का स्पष्ट अनुभव नहीं कर पाता । अगर मनुष्य शरीरसे अपनी पृथक्ताका ठीक-ठीक अनुभव कर ले, तो यह शोक, चिन्ता, उद्वेग, राग-द्वेष आदि विकारोंसे सर्वथा रहित हो जाता है । इसीको मुक्ति—दुःखोंसे छूटना कहते हैं । दुःखोंसे छूटनेके लिये ही भगवान् ने दूसरे अध्यायमें सांख्ययोग और कर्मयोग—ये दो उपाय बताये हैं । शरीर-शरीरीका भेद जैसे सांख्ययोगके द्वारा स्पष्ट समझमें आता है, ऐसे ही कर्मयोगके द्वारा भी स्पष्ट समझमें आता है ।

जो सासारिक भोग और संग्रहसे विरक्त है, जिसकी बुद्धि तीव्र है और जो अपना कल्याण चाहता है, वह सांख्ययोगका

अधिकारी होता है। जो अपना कल्याण तो वैसे ही चाहता है, जैसे कि साधुयोगी चाहता है, पर भोग और संग्रहमें आसक्ति होनेके कारण उनका त्याग नहीं कर पाता, वह कर्मयोगका अधिकारी होता है।

साधुयोगी विवेकपूर्वक शरीर-शरीरी असत्-सत्की भिन्नताका अनुभव करके स्वयंकी निर्विकारताका अनुभव करता है। कर्मयोगी कर्ममात्र केवल संसारके हितके लिये ही करता है, अपने लिये नहीं। उसका ऐसा भाव रहता है कि संसारसे मिले हुए शरीर, इन्द्रियों आदिसे संसारकी सेवा तो करनी है, पर संसारसे कुछ लेना नहीं है। इस तरह कर्मयोगका अनुष्ठान करनेपर जड़तासे सुगमतापूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

मनुष्योंने शरीरके साथ जो अपनेपनका घनिष्ठ सम्बन्ध मान रखा है, उस मान्यताके कारण ही अपने स्वरूपका बोध नहीं होता। इस बोधकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण कर्म संसारके हितके लिये ही निष्कामभावपूर्वक करनेसे कर्मसामग्री-सहित अपने अहंकार-का प्रवाह संसारकी तरफ हो जाता है और परिणाममें स्वरूपकी समता स्वतः अनुभवमें आ जाती है। इस समताको भगवान्ने 'योग' कहा है (२।४८)। इस योगकी अनुभूति विवेकके द्वारा हो जाय तो उसको ज्ञानयोग कहते हैं, कर्मोंके द्वारा हो जाय तो उसको कर्मयोग कहते हैं, ध्यानके द्वारा हो जाय तो उसको ध्यानयोग कहते हैं, प्राणायाम आदिके द्वारा हो जाय तो उसको हठयोग कहते हैं, भगवान्का भजन करनेसे हो जाय तो उसको भक्तियोग कहते हैं।

कहा कि ये जो राजाओग दुर्योधनको युद्धके लिये उत्साहित कर रहे हैं, युद्धमें उसकी सहायता कर रहे हैं, इन सबको जरा देखूँ तो सही कि ये हैं कौन ?

जब भगवान् ने अर्जुनके रथको दोनो सेनाओके बीचमें पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके सामने खड़ा किया और 'इन कुरुवंशियोंको देख'—ऐसा कहा, तो अर्जुनकी दृष्टि कौरवों और पाण्डवोंके आदरणीय, पूजनीय और वन्दनीय भीष्म, द्रोण आदिपर पड़ी। दोनों सेनाओंमें अपने ही कुटुम्बी देखकर उनके मनमें विचार आया कि हम तो अपने ही कुलके नाशका उद्योग कर रहे हैं। युद्ध करनेसे दोनो तरफ हमारा ही नाश होगा और बड़ा भारी अनर्थ होगा। ऐसे विचारसे अर्जुन विषादमग्न हो गये और कहने लगे कि 'इन स्वजनोंको देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, शरीरमें कँपकाँपी आ रही है, हाथसे धनुष छूट रहा है। ऐसी अवस्थामें मैं खड़ा रहनेके लिये भी असमर्थ हूँ। मेरे लो ऐता माद्वम हो रहा है कि मैं अभी-अभी मूर्च्छित होकर गिर पडूँगा। मैं शकुनोंपर विचार करता हूँ तो शकुन भी विपरीत हो रहे हैं। अतः जिसमें स्वप्नोका विनाश हो, ऐसी विजय मैं नहीं चाहता और राज्य तथा सुख भी नहीं चाहता। मैं जिनके लिये राज्य, धन तथा सुख चाहता हूँ, वे ही सब-के-सब मरणोन्मुख हो रहे हैं, मरनेके लिये तैयार हो रहे हैं। आचार्य आदि गुरुजनोंको मारकर मैं युद्धमें जीतना भी नहीं चाहता। कारण कि गुरुजनोंको मारकर हमलोगोंको किसी भी तरहकी प्रसन्नता नहीं होगी और लाभ भी नहीं होगा, प्रत्युत सब तरहसे हानि ही होगी

और पाप भी लगेगा। अतः ऐसी अवस्थामें इनको मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ? दुर्योधन आदिपर तो राज्यका लोभ सवार हो गया है। इसलिये वे कुलके नाशसे होनेवाले दोषको और आपसमें होनेवाले द्रोह, वैरभावको नहीं देख रहे हैं, जो कि कितना अनर्थकारक है ! परन्तु हमलोग लोभाविष्ट नहीं हैं, अतः हम ऐसी अनर्थ-परम्पराके निमित्त क्यों बनें ? हमलोग युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हो गये—यह हमने बड़ी भारी गलती की, पाप किया ! अब अगर बिना सामना किये, बिना प्रतीकार किये मेरेको ये दुर्योधनादि मार भी दें, तो उस मरनेमें भी मैं अपना कल्याण समझूंगा। कारण कि इससे हम जो युद्ध करनेके लिये तैयार हो गये—इस पापका प्रायश्चित्त हो जायगा।’

इस तरह अर्जुन इस निश्चयपर पहुँचे कि युद्ध करना सम्पूर्ण अनर्थोंका हेतु है और वे शोकमग्न होकर धनुष-बाण छोड़कर बैठ गये। ऐसे शोकमग्न अर्जुनको बड़े जोरसे फटकारते हुए भगवान् बोले कि ‘तू जो यह समझता है कि मैं धर्मको लेकर युद्धसे उपरत हो रहा हूँ, यह तो तेरी कायरता है, तेरी नपुंसकता है, तेरे हृदयकी दुर्बलता है। यह न तो कल्याण करनेवाली है, न स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति करानेवाली है और न संसारमें कीर्ति करनेवाली है। इस तुच्छ दुर्बलताका त्याग करके तू युद्धके लिये खड़ा हो जा।’

इसके बाद अर्जुन अपने सन्देहोंका समाधान करनेमें अपने-को असमर्थ जानकर भगवान्‌के शरण हो जाते हैं। अतः

भगवान् अपने उपदेशका आरम्भ कर देते हैं और बड़े विद्वान्-रूप-से सबके अनुभवकी बात बताते हैं । भारतीय संस्कृतिको माननेवाले लोग तो यह अच्छी तरह जानते हैं कि शरीर धारण करनेके पहले भी मैं स्वयं था और शरीर छूटनेके बाद भी मैं स्वयं रहूँगा । शरीर तो निरन्तर बदलता रहता है और मैं स्वयं निरन्तर रहता हूँ । साधारण रीतिसे ऐसा विवेक सबमें होनेपर भी मनुष्य भोग-पदार्थोंमें आसक्ति करके भोगोंको भोगनेमें और उनका संग्रह करनेमें लगा रहता है तथा शरीर, इन्द्रियों आदिसे सुख लेता रहता है । इस सुखासक्तिके कारण वह शरीरको ही अपना स्वरूप मान बैठता है, जिससे उसकी शरीरमें अहंता और ममता पैदा हो जाती है अर्थात् अपनेको शरीर माननेसे 'अहंता' और शरीरको अपना माननेसे 'ममता' पैदा हो जाती है । इस कारण वह शरीरसे अपनी पृथक्ता-(अलगव-) का स्पष्ट अनुभव नहीं कर पाता । अगर मनुष्य शरीरसे अपनी पृथक्ताका ठीक-ठीक अनुभव कर ले, तो यह शोक, चिन्ता, उद्वेग, राग-द्वेष आदि विकारोंसे सर्वथा रहित हो जाता है । इसीको मुक्ति—दुःखोंसे छूटना कहते हैं । दुःखोंसे छूटनेके लिये ही भगवान् ने दूसरे अध्यायमें सांख्ययोग और कर्मयोग—ये दो उपाय बताये हैं । शरीर-शरीरीका भेद जैसे सांख्ययोगके द्वारा स्पष्ट समझमें आता है, ऐसे ही कर्मयोगके द्वारा भी स्पष्ट समझमें आता है ।

जो सासारिक भोग और संग्रहसे विरक्त है, जिसकी बुद्धि तीव्र है और जो अपना कल्याण चाहता है, वह सांख्ययोगका

अधिकारी होता है। जो अपना कल्याण तो वैसे ही चाहता है, जैसे कि साधुयोगी चाहता है, पर भोग और संग्रहमें आसक्ति होनेके कारण उनका त्याग नहीं कर पाता, वह कर्मयोगका अधिकारी होता है।

साधुयोगी विवेकपूर्वक शरीर-शरीरी असत्-सत्की भिन्नताका अनुभव करके स्वयंकी निर्विकारताका अनुभव करता है। कर्मयोगी कर्ममात्र केवल संसारके हितके लिये ही करता है, अपने लिये नहीं। उसका ऐसा भाव रहता है कि संसारसे मिले हुए शरीर, इन्द्रियो आदिसे संसारकी सेवा तो करनी है, पर संसारसे कुछ लेना नहीं है। इस तरह कर्मयोगका अनुष्ठान करनेपर जड़तासे सुगमतापूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

मनुष्योंने शरीरके साथ जो अपनेपनका घनिष्ठ सम्बन्ध मान रखा है, उस मान्यताके कारण ही अपने स्वरूपका बोध नहीं होता। इस बोधकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण कर्म संसारके हितके लिये ही निष्कामभावपूर्वक करनेसे कर्मसामग्री-सहित अपने अहंकार-का प्रवाह संसारकी तरफ हो जाता है और परिणाममें स्वरूपकी समता स्वतः अनुभवमें आ जाती है। इस समताको भगवान्ने 'योग' कहा है (२ । ४८)। इस योगकी अनुभूति विवेकके द्वारा हो जाय तो उसको ज्ञानयोग कहते हैं, कर्मोंके द्वारा हो जाय तो उसको कर्मयोग कहते हैं, व्यानके द्वारा हो जाय तो उसको व्यानयोग कहते हैं, प्राणायाम आदिके द्वारा हो जाय तो उसको हठयोग कहते हैं, भगवान्का भजन करनेसे हो जाय तो उसको भक्तियोग कहते हैं।

जब मनुष्य कर्मों और उनके फलोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लेना है, तो वह अपने निर्विकार स्वरूपसे व्युत्पन्न हो जाता है और इसीसे अपने स्वरूपके साथ जो स्वतःसिद्ध नित्ययोग है, उसका अनुभव नहीं होता। मैं शरीरसे अलग हूँ—इस तरह अपने स्वरूपका विश्वास हो जाय तो मेरा कुछ नहीं है’—इस निर्ममभावसे, ‘मेरेको कुछ नहीं चाहिये’—इस निष्कामभावसे, और ‘मेरे लिये कुछ नहीं करना है’—इस निरहकारभावसे अपने स्वरूपका अनुभव हो जाता है। इसी बातको भगवान् ने दूबारे अध्यायका उपसंहार करते हुए कहा है कि ममता, कामना और अहंता—इन तीनोंका त्याग करनेसे ‘ब्राह्मी स्थिति’ की प्राप्ति हो जाती है।

अर्जुनकी शङ्काओंका सर्वथा समाधान कब हुआ ?

अर्जुनकी शङ्काओंका सर्वथा समाधान तो मोहके मिटनेसे ही हुआ है। अर्जुनकी शङ्काएँ मोहसे ही पैदा हुई हैं; अतः मोहके रहते हुए उन सबका ठीक समाधान हो ही कैसे सकता है ? मोहरहित होनेपर शङ्काकी, सन्देहकी गन्ध भी नहीं रहती। इसीलिये मोह दूर होनेपर अर्जुनने कहा कि अब मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूँ—‘स्थितोऽस्मि गतसन्देहः’ (१८।७३)। मोहका स्वरूप है—जो वास्तवमें अपना है, उसको अपना न मानना और जो अपना नहीं है, उसको अपना मानना। अब विचार करना है कि कौन अपना है और कौन अपना नहीं है। अपना वही है, जो पहले हमारे साथ था,

अभी हमारे साथ है और आगे भी हमारे साथ रहेगा । इस तरह जो नित्य-निरन्तर हमारे साथ रहता है और हम नित्य-निरन्तर जिसके साथ रहते हैं, वही वास्तवमें अपना है । परन्तु जो कभी हमारे साथ रहता है और कभी हमारे साथ नहीं रहता, वह अपना है ही नहीं ।

जो सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण वस्तुओंमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें नित्य-निरन्तर रहता है अर्थात् जिसका किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिमें अभाव नहीं है, उसीके साथ हमारा सम्बन्ध है । उत्पन्न और नष्ट होनेवालों-के साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं; क्योंकि हम स्वयं नित्य-निरन्तर रहनेवाले हैं ।

गीताका उपदेश देकर भगवान् ने अर्जुनसे युद्ध क्यों कराया ?

भगवान् ने अर्जुनसे युद्ध नहीं कराया है, प्रत्युत उनको अपने कर्तव्यका ज्ञान कराया है । युद्धका विचार तो अर्जुनका खुदका ही था; वे स्वयं ही युद्धमें प्रवृत्त हुए थे, तभी वे भगवान् को निमन्त्रण देकर लाये थे । परन्तु उस विचारको अपनी बुद्धिसे अनिष्टकारक समझकर वे युद्धसे त्रिमुख हो रहे थे अर्थात् अपने कर्तव्यके पाठनसे हट रहे थे । इसपर भगवान् ने कहा कि यह जो तू युद्ध नहीं करना चाहता, यह तेरा मोह है । अतः समयपर जो कर्तव्य स्वतः प्राप्त हुआ है, उसका त्याग करना उचित नहीं है ।

कोई बड़ीनारायण जा रहा था; परन्तु रास्तेमें उसे दिशाभ्रम हो गया अर्थात् उसने दक्षिणको उत्तर और उत्तरको दक्षिण

मान लिया । अतः वह ब्रह्मीनारायणकी तरफ न चलकर उल्टा चलने लग गया । सामनेसे उसको एक आदमी मिल गया । उस आदमीने पूछा कि 'भाई, कहाँ जा रहे हो ?' वह बोला—'ब्रह्मीनारायण' । वह आदमी बोला कि 'भाई ब्रह्मीनारायण, इधर नहीं है, उधर है । आप तो उल्टे जा रहे हो ।' अतः वह आदमी उसको ब्रह्मीनारायण भेजनेवाला नहीं है; किन्तु उसको दिशाका ज्ञान कराकर ठीक रास्ता बतानेवाला है । ऐसे ही भगवान्ने अर्जुनको अपने कर्तव्यका ज्ञान कराया है, युद्ध नहीं कराया है ।

स्वजनोंको देखनेसे अर्जुनके मनमें यह बात आयी थी कि मैं युद्ध नहीं करूँगा—'न योत्स्ये' (२ । ९), पर भगवान्का उपदेश सुननेपर अर्जुनने ऐसा नहीं कहा कि मैं युद्ध नहीं करूँगा; किन्तु ऐसा कहा कि मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा—'करिष्ये वचनं तव' (१८।७३) अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन करूँगा । अर्जुनके इन वचनोसे भी यही सिद्ध होता है कि भगवान्ने अर्जुनको अपने कर्तव्यका ज्ञान कराया है ।

अगर अर्जुन युद्ध नहीं करते तो जिन्होंने माँकी आज्ञासे द्रौपदीके साथ अपनेसहित पाँचों भाइयोंका ब्याह करना स्वीकार कर लिया था, वे युधिष्ठिर तो माँकी युद्ध करनेकी आज्ञासे युद्ध अवश्य करते ही । भीमसेन भी युद्धसे कभी भी पीछे नहीं हटते; क्योंकि उन्होंने कौरवोको मारनेकी प्रतिज्ञा कर रखी थी । द्रौपदीने तो यहाँतक कह दिया था कि अगर मेरे पति (पाण्डव) कौरवोंसे युद्ध नहीं करेंगे, तो मेरे पिता (द्रुपद), भाई (धृष्टद्युम्न) और मेरे

पाँचों पुत्र कौरवोंसे युद्ध करेंगे ! इस तरह ऐसे कई वारण थे, जिससे युद्धको टालना सम्भव नहीं था ।

वास्तवमें युद्ध होना अवश्यम्भावी था; क्योंकि सबकी आयु समाप्त हो चुंकी थी । इसको कोई भी टाल नहीं सकता था । स्वयं भगवान् ने विश्वरूपदर्शनके समय अर्जुनसे कहा था कि 'मैं बड़ा हुआ काल हूँ और सबका संहार करनेके लिये यहाँ आया हूँ । अतः तेरे युद्ध किये बिना भी ये विपक्षमें खड़े योद्धा लोग बचेंगे नहीं' (११ । ३२) । इसलिये यह नरसंहार अवश्यम्भावी होनहार ही था । यह नरसंहार अर्जुन 'युद्ध न करते, तो भी होता और युधिष्ठिर तथा भीमसेन भी युद्ध न करते, तो भी होता ।

होनहारको रोक दे—यह मनुष्यके हाथकी बात नहीं है, पर अपने कर्तव्यका पालन करके मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है और कर्तव्यव्युत होकर अपना पतन कर सकता है । तात्पर्य है कि मनुष्य अपना इष्ट-अनिष्ट करनेमें स्वतन्त्र है । इसलिये मनुष्यको शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार अपने कर्तव्यके पालनमें तत्पर रहना चाहिये, उससे कभी व्युत नहीं होना चाहिये ।

पहले और दूसरे अध्यायका नाम 'गीताका आरम्भ' रखा गया है; क्योंकि इसमें तीन प्रकारसे गीताका आरम्भ हुआ है—(१) महाभारतमें भीष्मपर्वके तेरहवें अध्यायसे 'भगवद्गीतापर्व' आरम्भ होता है । उसमें भी गीता-ग्रन्थका खास आरम्भ भीष्मपर्वके पचीसवें अध्यायसे धृतराष्ट्रद्वारा प्रश्न (गीता १ । १) करनेपर

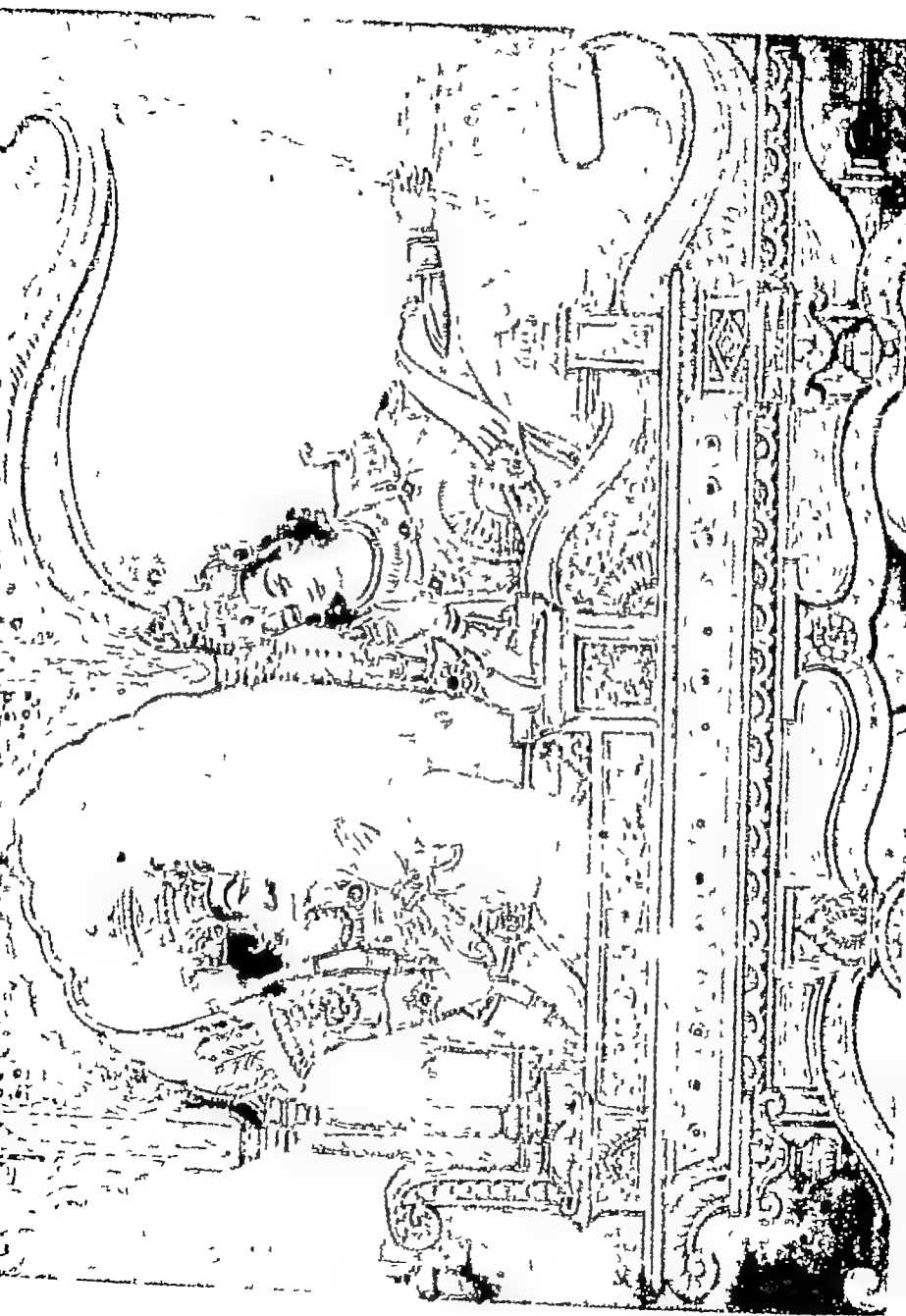
आरम्भ होता है, जिसका उपसंहार भीष्मपर्वके बयालीसवें अध्यायमें हुआ है, जो कि गीताका अठारहवाँ अध्याय है । (२) भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादका आरम्भ सञ्जयने पहले अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'अथ' पदसे किया है, जिसका उपसंहार अठारहवें अध्यायके चौहत्तरवें श्लोकमें आये 'इति' पदसे हुआ है । (३) गीताके उपदेशका आरम्भ भगवान्ने दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे किया है, जिसका उपसंहार अठारहवें अध्यायके छालठवें श्लोकमें हुआ है ।

इन दोनों अध्यायोंकी व्याख्या साधकोंकी सेवामें प्रस्तुत है । साधकोंको आरम्भसे लेकर अन्ततक गीताका अध्ययन-मनन करके अपने मनुष्यजन्मको सार्थक बनाना चाहिये ।

विनीत—

स्वामी रामसुखदास





॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

गीताका आरम्भ

[श्रीमद्भगवद्गीताके पहले और दूसरे अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या]

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसबाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं बभूवे जगद्गुरुम् ॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

सम्बन्ध—

प्रतिज्ञाके अनुसार बाग्ह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञात-
वासके समाप्त होनेपर पाण्डवोंने जब अपना आधा राज्य
मौगा, तो दुर्योधनने आधा राज्य तो क्या, तोखी सुईकी नोक-
जितनी जमीन भी बिना युद्धके देना स्वीकार नहीं किया ।
तब पाण्डवोंने माता कुन्तीकी आज्ञाके अनुसार युद्ध करना
स्वीकार कर लिया । इस तरह पाण्डवों और कौरवोंका युद्ध

अब प्रश्न होता है कि अर्जुनने शोक कब किया और क्यों किया ? जब अर्जुनने दोनों सेनाओंमें अपने ही निजी कुटुम्बियोंको देखा कि दोनों तरफ हमारे ही कुटुम्बी मरेगे, तो उनको शोक हुआ ।

अर्जुनने दोनों सेनाओंमें अपने कुटुम्बियोंको क्यों देखा ? भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करके अर्जुनसे कहा कि 'तुम युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए इन कुरु शियोंको देखो ।'

भगवान्ने दोनों सेनाओंमें कुरुवंशियोंको देखनेके लिये क्यों कहा ? अर्जुनने पहले भगवान्से कहा था कि 'हे अच्युत ! दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा करो, जिससे मैं देखूँ कि यहाँ मेरे साथ दो हाथ करनेवाले कौन हैं ?'

अर्जुनने ऐसा क्यों कहा ? जब युद्धकी तैयारीके बाजे बजे, तो उत्साहमें भरकर अर्जुनने दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करनेके लिये कहा ।

बाजे क्यों बजे ? जब कौरव-सेनाके बाजे बजे, तब पाण्डव सेनाके भी बाजे बजे ।

कौरव*सेनाके बाजे क्यों बजे ? कौरवसेनाके मुख्य सेनापति भीष्मजीने जब सिंहाली दहाड़के समान जोरसे शस्त्र बजाया, तो कौरवसेनाके बाजे बजे ।

* 'कौरव' शब्दके अन्तर्गत धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन आदि और पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिर आदि सभी आ जाते हैं । परन्तु इस श्लोकमें धृतराष्ट्रने युधिष्ठिर आदिकी 'पाण्डवाः' संज्ञा दी है । अतः व्याख्यामें 'कौरव' शब्द दुर्योधन आदिके लिये ही दिया गया है ।

भीष्मजीने शंख क्यों बजाया ? दुर्योधनको हर्षित करनेके लिये, प्रसन्न करनेके लिये भीष्मजीने शंख बजाया ।

दुर्योधन अप्रसन्न क्यों था ? दुर्योधनने गुरु द्रोणाचार्यके पास जाकर कहा कि 'आपके प्रतिपक्षमें पाण्डवोंकी सेना खड़ी है, इसको देखिये अर्थात् जिन पाण्डवोंपर आप प्रेम—स्नेह रखते हैं, वे ही आपके विरोधमें खड़े हैं । पाण्डवसेनाकी व्यूह-रचना भी धृष्टद्युम्नके द्वारा की गयी है, जो आपको मारनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है । इस प्रकार दुर्योधनकी चालाकीसे, राजनीतिसे भरी हुई तीखी बातोंको सुनकर द्रोणाचार्य चुप रहे, कुछ बोले नहीं । इससे दुर्योधन अप्रसन्न हो गया ।

द्रोणाचार्य चुप क्यों रहे ? दुर्योधनने द्रोणाचार्यको उकसानेके लिये चालाकीसे राजनीतिकी जो बातें कहीं, वे बातें द्रोणाचार्यको बुरी लगीं । उन्होंने यह सोचा कि अगर मैं इन बातोंका खण्डन करूँ, तो युद्धके मौकेपर आपसमें खटपट हो जायगी, जो उचित नहीं है । मैं इन बातोंका अनुमोदन भी नहीं कर सकता; क्योंकि यह चालाकीसे बातचीत कर रहा है । सरलतासे बातचीत नहीं कर रहा है । इसलिये द्रोणाचार्य चुप रहे ।

दुर्योधनने ऐसी बातें कब कहीं और क्यों कहीं ? इसका वर्णन सजयने धृतराष्ट्रके प्रति किया है कि दुर्योधन व्यूहाकार खड़ी हुई पाण्डवसेनाको देखकर गुरु द्रोणाचार्यको उकसानेके लिये उनके पास गया ।

संजयने यह वर्णन धृतराष्ट्रके प्रति क्यों किया ? जब धृतराष्ट्रने युद्धकी कथाको आरम्भसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहा, तब संजयने ये सब बातें धृतराष्ट्रके प्रति कहीं ।

धृतराष्ट्रने संजयसे क्यों पूछा ? दस दिन युद्ध होनेके बाद संजयने अचानक आकर जब धृतराष्ट्रसे यह कहा कि 'कौरव-पाण्डवोंके पितामह, शान्तनुके पुत्र भीष्म मारे गये (रथसे गिरा दिये गये) । ज. सम्पूर्ण योद्धाओंमें मुख्य और सम्पूर्ण धनुर्वीरियोंमें श्रेष्ठ थे, ऐसे पितामह भीष्म आज शर-शय्यापर सो रहे हैं * ।' यह बात सुनकर धृतराष्ट्र बहुत दुःखी हुए । उन्होंने संजयसे पूछा—संजय ! आरम्भसे दस दिनका युद्ध किस प्रकार हुआ ? मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने युद्धक्षेत्रमें क्या-क्या किया ? धृतराष्ट्रका यह प्रश्न ही गीताके पहले अध्यायका प्रथम श्लोक है ।

‘धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे’—कुरुक्षेत्रमें देवताओंने यज्ञ किया था । राजा कुरुने भी यहाँ तपस्या की थी । यज्ञादि धर्ममय कार्य होनेसे

* सजयोऽहं महाराज नमस्ते भरतर्षभ ।

इतो भीष्मः शान्तनवो भरतानां पितामहः ॥

ककुटं सर्वयोधानां धाम सर्वधनुष्मताम् ।

शरत्तत्पगतः सोऽद्य श्रेते कुरुपितामहः ॥

(महाभारत, भीष्म० १३ । ३-४)

† वैशम्पायन और जनमेजयके संवादके अन्तर्गत ‘धृतराष्ट्र-संजय-संवाद’ है और धृतराष्ट्र तथा संजयके संवादके अन्तर्गत ‘भीष्मार्जुनसंवाद’ है ।

तथा कुरुकी तपस्याभूमि होनेसे इसको धर्मभूमि कुरुक्षेत्र कहा गया है ।

यहाँ 'धर्मक्षेत्रे' और 'कुरुक्षेत्रे' पदोंमें 'क्षेत्र' शब्द देनेमें धृतराष्ट्रका अभिप्राय है कि यह अपनी—कुरुवंशियोंकी भूमि है, जिसके लिये लड़ाई की जा रही है । यह केवल लड़ाईकी भूमि ही नहीं है, प्रत्युत यह तीर्थभूमि भी है, जिसमें प्राणी जीते-जी पवित्र कर्म कर सकते हैं और मरनेपर उनका कल्याण हो जाता है । इस तरह लौकिक और पारलौकिक सब तरहका लाभ जिसमें हो जाय—ऐसा विचार करके और श्रेष्ठ पुरुषोंकी सम्मति लेकर ही युद्धके लिये यह भूमि चुनी गयी है ।

संसारमें प्रायः तीन बातोंको लेकर लड़ाई होती है—भूमि, धन और स्त्री । इन तीनोंमें भी राजाओका आपसमें लड़ना मुख्यतः जमीनको लेकर होता है । यहाँ 'कुरुक्षेत्र' पद देनेका तात्पर्य भी यही है कि कुरुवंशमें धृतराष्ट्र और पाण्डुके पुत्र सब एक हो जाते हैं । कुरुवंशी होनेसे दोनोंका कुरुक्षेत्रमें अर्थात् राजा कुरुकी जमीनपर समान हक लगता है । इसलिये दोनों जमीनके लिये लड़ाई करने आये हुए हैं ।

यद्यपि अपनी भूमि होनेके कारण दोनोंके लिये 'कुरुक्षेत्रे' पद देना युक्तिसंगत है, न्यायसंगत है, तथापि हमारी सनातन वैदिक संस्कृति ऐसी विलक्षण है कि कोई भी कार्य करना होता है तो वह धर्मको सामने रखकर ही होता है । लड़ाई—जैसा कार्य भी धर्मभूमि—तीर्थ-भूमिमें ही करते हैं, जिससे युद्धमें मरनेवालोंका उद्धार हो जाय,

कल्याण हो जाय । अतः यहाँ कुरुक्षेत्रके साथ 'धर्मक्षेत्रे' पद आया है ।

यहाँ आरम्भमें 'धर्म' पदसे एक और बात भी मालूम होती है । अगर आरम्भके 'धर्म' पदमेंसे 'धर्' लिया जाय और अठारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकके 'मम' पदमेंसे 'म' लिया जाय, तो 'धर्म' शब्द बन जाता है । अतः सम्पूर्ण गीता धर्मके अन्तर्गत है अर्थात् धर्मका पालन करनेसे गीताके सिद्धान्तोंका पालन हो जाता है और गीताके सिद्धान्तोंके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेसे धर्मका अनुष्ठान हो जाता है ।

इन 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' पदोंसे सभी मनुष्योंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि कोई भी काम करना हो, तो वह धर्मको सामने रख कर ही करना चाहिये । प्रत्येक कार्य सबके हितकी दृष्टिसे ही करना चाहिये, केवल अपने सुख-आरामकी दृष्टिसे नहीं; और कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें शास्त्रको सामने रखना चाहिये (गीता १६ । २४) ।

'समवेता युयुत्सवः'—राजाओंके द्वारा बार-बार सन्धिका प्रस्ताव रखनेपर भी दुर्योधनने सन्धि करना स्वीकार नहीं किया । इतना ही नहीं; भगवान् श्रीकृष्णके कहनेपर भी मेरे पुत्र दुर्योधनने साफ कह दिया है कि बिना युद्धके मैं तीखी सुईकी नोक-जितनी जमीन भी पाण्डवोंको नहीं दूँगा* । तब मजबूर होकर पाण्डवोंने भी युद्ध करना स्वीकार किया है । इस प्रकार मेरे पुत्र और

* यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव ।

तावदप्यपरित्याज्यं भूमेनः पाण्डवान् प्रति ॥

(महाभारत, उद्योग० १२७ । २५)

पाण्डुपुत्र—दोनों ही सेनाओंके सहित युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए हैं ।

दोनों सेनाओंमें युद्धकी इच्छा रहनेपर भी दुर्योधनमें युद्धकी इच्छा विशेषरूपसे थी । उसका खास उद्देश्य राज्य-प्राप्तिका ही था । वह राज्य-प्राप्ति धर्मसे हो चाहे अधर्मसे, न्यायसे हो चाहे अन्यायसे, विहितरीतिसे हो चाहे निषिद्धरीतिसे, किसी भी तरहसे हमें राज्य मिलना चाहिये—ऐसा उसका भाव था । इसलिये विशेषरूपसे दुर्योधनका पक्ष ही युयुत्सु अर्थात् युद्धकी इच्छावाला था ।

पाण्डवोंमें धर्मकी मुख्यता थी । उनका ऐसा भाव था कि हम चाहे जैसा जीवन-निर्वाह कर लेंगे, पर अपने धर्ममें बाधा नहीं आने देंगे, धर्मके विरुद्ध नहीं चलेंगे । इस बातको लेकर महाराज युधिष्ठिर युद्ध नहीं करना चाहते थे । परन्तु जिस माँकी आज्ञासे युधिष्ठिरने चारों भाइयोंसहित द्रौपदीसे विवाह किया था, उस माँकी आज्ञा होनेके कारण ही महाराज युधिष्ठिरकी युद्धमें प्रवृत्ति हुई थी* अर्थात् केवल माँकी आज्ञाके पालनरूप धर्मसे ही युधिष्ठिर युद्धकी इच्छावाले हुए हैं । तात्पर्य है कि दुर्योधन आदि तो राज्यको लेकर ही युयुत्सु थे, पर पाण्डव धर्मको लेकर ही युयुत्सु बने हुए हैं ।

● माता कुन्तीने पाण्डवोंको युद्ध करनेके लिये आशा दी थी—

एतद् धनंजयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः ॥

यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ।

(महाभारत, उद्योग० १३७ । ९-१०)

माता कुन्ती बड़ी सहिष्णु थी । कष्टसे बचकर सुख, आराम, राज्य आदि चाहना—यह बात उसमें नहीं थी । वही एक ऐसी विलक्षण माता

‘मामकाः पाण्डवाश्चैव’—पाण्डव अपने पिताके बड़े भाई होनेसे धृतराष्ट्रको पिताके समान समझते थे और उनकी आज्ञाका पालन करते थे । धृतराष्ट्रके द्वारा अनुचित आज्ञा देनेपर भी पाण्डव उचित-अनुचितका विचार न करके उनकी आज्ञाका पालन करते थे । अतः यहाँ ‘मामकाः’ पदके अन्तर्गत कौरव और पाण्डव दोनों आ जाते हैं । फिर भी ‘पाण्डवाः’ पद अलग देनेका तात्पर्य है कि धृतराष्ट्रका अपने पुत्रोंमें तथा पाण्डुपुत्रोंमें समानभाव नहीं था । उनमें पक्षपात था, अपने पुत्रोंके प्रति मोह था । वे दुर्योधन आदिको

थी, जिसने भगवान्‌से विपत्तिका ही वरदान माँगा था । उसमें सुख-लोलुपता नहीं थी । परन्तु उसके मनमें दो बातोंको लेकर दुःख था । पहली बात, जमीनके लिये, राज्यके लिये कौरव-पाण्डव आपसमें लड़ते, चाहे जो करते, पर मेरी पुत्रवधू द्रौपदीको इन दुष्टोंने सभामें नग्न करना चाहा, अपमानित करना चाहा । ऐसी घृणित चेष्टा करना मनुष्यता नहीं है । यह बात माता कुन्तीको बहुत बुरी लगी ।

दूसरी बात, भगवान्‌ श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी ओरसे सन्धिके प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर आये तो दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, शकुनि आदिने भगवान्‌को पकड़कर कैद करना चाहा । इस बातको सुनकर कुन्तीके मनमें बड़ा विचार हुआ कि इन दुष्टोंको अब जल्दी खत्म करना चाहिये । कारण कि इनके जीते रहनेसे इनके पाप बढ़ते ही चले जायेंगे, जिससे इनका बहुत नुकसान होगा । इन्हीं कारणोंसे माता कुन्तीने पाण्डवोंको युद्धके लिये आज्ञा दी थी ।

तो अपना मानते थे, पर पाण्डवोंको अपना नहीं मानते थे* । इस कारण उन्होंने अपने पुत्रोंके लिये 'मामकाः' और पाण्डुपुत्रोंके लिये 'पाण्डवाः' पदका प्रयोग किया है; क्योंकि भीतर जो भाव होते हैं, वे ही प्रायः वाणीसे बाहर निकलते हैं । इस द्वैधीभावके कारण ही धृतराष्ट्रको अपने कुलके संहारका दुःख भोगना पड़ा । इससे मनुष्यमात्रको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम अपने भाइयोंमें, भाइयोंके पुत्रोंमें, गलियोंमें, मुहल्लोंमें, गाँवोंमें, प्रान्तोंमें, देशोंमें, सम्प्रदायोंमें द्वैधीभाव अर्थात् ये अपने हैं, ये दूसरे हैं—ऐसा भाव न रखें । कारण कि द्वैधीभावसे आपसमें प्रेम, रनेह नहीं होता, प्रत्युत कलह पैदा होती है ।

['मामकाः' और 'पाण्डवाः'† इनमेंसे पहले 'मामकाः' पदका अन्तर संजय अगले (दूसरे) श्लोकसे तेरहवें श्लोकतक देंगे कि आपके पुत्र दुर्योधनने पाण्डवोंकी सेनाको देखकर द्रोणाचार्यके मनमें

* धृतराष्ट्रके मनमें द्वैधीभाव था कि दुर्योधन आदि मेरे पुत्र हैं और युधिष्ठिर आदि मेरे पुत्र नहीं हैं, प्रत्युत पाण्डुके पुत्र हैं । इस भावके कारण दुर्योधनका भीमको विष खिलाकर जलमें फेंक देना, लाक्षाग्रहमें पाण्डवोंको जलानेका प्रयत्न करना, युधिष्ठिरके साथ छलपूर्वक जुआ खेलना, पाण्डवोंका नाश करनेके लिये सेना लेकर वनमें जाना आदि कार्योंके करनेमें दुर्योधनको धृतराष्ट्रने कभी मना नहीं किया । कारण कि उनके भीतर यही भाव था कि किसी तरह पाण्डवोंका नाश हो जाय तो मेरे बेटोंका राज्य सुरक्षित रहेगा ।

† 'मामकाः' और 'पाण्डवाः'का अलग-अलग वर्णन करनेकी दृष्टिसे ही संजयके वचनोंमें 'दुर्योधनः' (१ । २) और पाण्डवः (१ । १४) शब्द प्रयुक्त हुए हैं ।

पाण्डवोंके प्रति द्वेष पैदा करनेके लिये उनके पास जाकर पाण्डवोंके मुख्य-मुख्य सेनापतियोंके नाम गिनाये। उसके बाद अपनी सेनाके मुख्य-मुख्य योद्धाओंके नाम लेकर उनके रण-कौशल आदिकी प्रशंसा की। दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये भीष्मजीने जोरसे शंख बजाया। उसको सुनकर कौरव-सेनामें शंख आदि बाजे बज उठे। फिर चौदहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक 'पाण्डवाः' पदका उत्तर देंगे कि रथमें बैठे हुए पाण्डवपक्षीय भगवान् श्रीकृष्णने शंख बजाया। उसके बाद अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव आदिने अपने-अपने शंख बजाये, जिससे दुर्योधनकी सेनाका हृदय दहल गया। उसके बाद भी संजय पाण्डवोंकी बात कहते-कहते बीसवें श्लोकसे श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादका प्रसङ्ग छेड़ देंगे।]

‘किमुकुर्वत’—‘किम्’ शब्दके तीन अर्थ होते हैं—विकल्प, निन्दा (आक्षेप) और प्रश्न।

युद्ध हुआ कि नहीं ? इस तरहका विकल्प तो यहाँ लिया नहीं जा सकता; क्योंकि दस दिनतक युद्ध हो चुका था और भीष्मजीको रथसे गिरा देनेके बाद संजय हस्तिनापुर आकर धृतराष्ट्रको वहाँकी घटना सुना रहे हैं।

मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने यह क्या किया, जो कि युद्ध कर बैठे ! उनको युद्ध नहीं करना चाहिये था—ऐसी निन्दा या आक्षेप भी यहाँ नहीं लिया जा सकता, क्योंकि युद्ध तो चढ ही रहा था और धृतराष्ट्रके भीतर भी आक्षेपपूर्वक पूछनेका भाव नहीं था।

यहाँ 'किम्' शब्दका अर्थ प्रश्न लेना ही ठीक बैठता है । धृतराष्ट्र संजयसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी छोटी-बड़ी सब घटनाओंको अनुक्रमसे विस्तारपूर्वक ठीक-ठीक जाननेके लिये ही प्रश्न कर रहे हैं ।

सम्बन्ध—

धृतराष्ट्रके प्रश्नका उत्तर संजय आगेके श्लोकसे देना आरम्भ करते हैं ।

श्लोक—

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

अर्थ—

संजय बोले—उम समय वज्रव्यूहसे खड़ी हुई पाण्डव-सेनाको देखकर राजा दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन बोला ।

व्याख्या—

'तदा'—जिस समय दोनो सेनाएँ युद्धके लिये खड़ी हुई थीं, उस समयकी बात संजय यहाँ 'तदा' पदसे कहते हैं । कारण कि धृतराष्ट्रका प्रश्न 'युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया'—इस विषयको सुननेके लिये ही है ।

'तु'—धृतराष्ट्रने अपने और पाण्डुके पुत्रोंके विषयमें पूछा है । अतः संजय पहले धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी बात बतानेके लिये यहाँ 'तु' पदका प्रयोग करते हैं ।

‘दृष्ट्वा *पाण्डवानां कं व्यूढम्’—पाण्डवोंकी वज्रव्यूहसे खड़ी सेनाको देखनेका ताःपर्य है कि पाण्डवोंकी सेना बड़ी ही सुचारुरूप-से और एक ही भावसे खड़ी थी अर्थात् उनके सैनिकोंमें दो भाव नहीं थे, मतभेद नहीं था। उनके पक्षमें धर्म और भगवान् श्रीकृष्ण थे। जिसके पक्षमें धर्म और भगवान् होते हैं, उसका दूसरोपर बड़ा असर पड़ता है। अतः संख्यामें कम होनेपर भी पाण्डवोंकी सेनाका तेज (प्रभाव) था और उसका दूसरोंपर बड़ा असर पड़ता था। अतः पाण्डवसेनाका दुर्योधनपर भी बड़ा असर पड़ा जिससे वह द्रोणाचार्यके पास जाकर नीतियुक्त गम्भीर वचन बोलता है।

छ इस अध्यायमें तीन चार ‘दृष्ट्वा’ पदका प्रयोग हुआ है—
पाण्डवसेनाको देखकर दुर्योधनका द्रोणाचार्यके पास जाना (१।२);
कौरवसेनाको देखकर अर्जुनका धनुषको उठाना (१।२०); और
अपने स्वजनो- (कुटुम्बियों-) को देखकर अर्जुनका मोहाविष्ट होना (१।२८)। इन तीनोंमेंसे दो ‘दृष्ट्वा’ (देखकर) तो आपसमें सेना देखनेके लिये आये हैं और एक ‘दृष्ट्वा’ स्वजनोंको देखनेके लिये आया है, जिससे अर्जुनका प्रभाव बदल जाता है।

† कौरवसेनामें मतभेद था; क्योंकि दुर्योधन, दुःशासन अदि तो युद्ध करना चाहते थे; पर भीष्म, द्रोण, विकर्ण आदि युद्ध करना नहीं चाहते थे। यह निग्रम है कि जहाँ आपसमें मतभेद होता है, वहाँ तेज (प्रभाव) नहीं रहता—

कॉच, कटोरो, कुम्भ, पय मोती, मिन्त, अवास।

ताल, घाव, तिरिया, कटक, फाटा करे विनास ॥

‘राजा दुर्योधनः’—दुर्योधनको राजा कहनेका तात्पर्य है कि धृतराष्ट्रका सबसे अधिक अपनापन (मोह) दुर्योधनमें ही था । परम्पराकी दृष्टिसे भी युवराज दुर्योधन ही था । राज्यके सब कार्योंकी देखभाल दुर्योधन ही करता था । धृतराष्ट्र तो नाममात्रके राजा थे । युद्ध होनेमें भी मुख्य हेतु दुर्योधन ही था । इन सभी कारणोंसे संजयने दुर्योधनके लिये ‘राजा’ शब्दका प्रयोग किया है ।

‘आचार्यमुपसङ्गम्य’—दुर्योधनके द्रोणाचार्यके पास जानेमें मुख्यतः तीन कारण मालूम देते हैं—(१) अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये अर्थात् द्रोणाचार्यके भीतर पाण्डवोंके प्रति द्वेष पैदा करके उनको अपने पक्षमें विशेषतासे करनेके लिये दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास गया ।

(२) व्यवहारमें गुरुके नाते आदर देनेके लिये भी द्रोणाचार्यके पास जाना उचित था ।

(३) मुख्य व्यक्तिका सेनामें यथास्थान खड़े रहना बहुत आवश्यक होता है, अन्यथा व्यवस्था बिगड़ जाती है । इस वास्ते दुर्योधनका द्रोणाचार्यके पास खुद जाना उचित ही था ।

अब शङ्का यह होती है कि दुर्योधनको तो पितामह भीष्मके पास जाना चाहिये था, जो कि सेनापति थे । पर दुर्योधन गुरु द्रोणाचार्यके पास ही क्यों गया ? इसका समाधान यह है कि द्रोण और भीष्म—दोनों उभयपक्षपाती थे अर्थात् वे कौरव और पाण्डव—दोनोंका ही पक्ष रखते थे । उन दोनोंमें भी द्रोणाचार्यको ज्यादा राजी करना था; क्योंकि द्रोणाचार्यके साथ दुर्योधनका

गुरुके नाते तो स्नेह था, पर कौटुम्बिक स्नेह नहीं था; और अर्जुनपर द्रोणाचार्यकी विशेष कृपा थी। इस वास्ते उनको राजी करनेके लिये दुर्योधनका उनके पास जाना ही उचित था। व्यवहारमें भी यह देखा जाता है कि जिसके साथ स्नेह नहीं है, उससे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये मनुष्य उसको ज्यादा आदर देकर राजी करता है।

दुर्योधनके मनमें यह विश्वास था कि भीष्मजी तो हमारे ही दादाजी हैं; अतः उनके पास न जाऊँ तो भी कोई बात नहीं है। न जानेसे अगर वे नाराज भी हो जायँगे तो मैं रो करके, किसी तरहसे उनको राजी कर लूँगा। कारण कि पितामह भीष्मके साथ दुर्योधनका कौटुम्बिक सम्बन्ध और स्नेह था ही, भीष्मका भी उसके साथ कौटुम्बिक सम्बन्ध और स्नेह था। इस वास्ते भीष्मजीने दुर्योधनको राजी करनेके लिये जोरसे शख बजाया है (१।१२)।

‘वचनमब्रवीत्’—यहाँ ‘अब्रवीत्’ इतना कहना ही पर्याप्त था; क्योंकि ‘अब्रवीत्’ क्रियाके अन्तर्गत ही ‘वचनम्’ आ जाता है अर्थात् दुर्योधन बोलेगा, तो वचन ही बोलेगा। इस वास्ते यहाँ ‘वचनम्’ शब्दकी आवश्यकता नहीं थी। फिर भी ‘वचनम्’ शब्द देनेका तात्पर्य है कि दुर्योधन नीतियुक्त गम्भीर वचन बोळता है, जिससे द्रोणाचार्यके मनमें पाण्डवोंके प्रति द्वेष पैदा हो जाय और वे हमारे ही पक्षमें रहते हुए ठीक तरहसे युद्ध करें। जिससे हमारी विजय हो जाय, हमारा स्वार्थ सिद्ध हो जाय। --

सम्बन्ध—

द्रोणाचार्यके पास जाकर दुर्योधन क्या वचन बोला ? इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महर्षी चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

अर्थ—

हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूहरचनासे खड़ी की हुई पाण्डवोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ।

व्याख्या—

‘आचार्य’—द्रोणके लिये ‘आचार्य’ सम्बोधन देनेमें दुर्योधनका यह भाव मालूम होता है कि आप हम सबके—कौरवों और पाण्डवोंके आचार्य हैं । शस्त्रविद्या सिखानेवाले होनेसे आप सबके गुरु हैं । इस वास्ते आपके मनमें किसीका पक्ष या आग्रह नहीं होना चाहिये । परन्तु आपके मनमें पहलेसे ही पाण्डवोंका पक्ष है । अतः आप जरा सोचिये कि यह बात कहाँतक ठीक है ?

‘तव शिष्येण धीमता’—इन पदोका प्रयोग करनेमें दुर्योधनका भाव यह है कि आप इतने सरल हैं कि अपनेको मारनेके लिये पैदा होनेवालेको भी आपने अस्त्र-शस्त्रकी विद्या सिखायी है और वह आपका शिष्य धृष्टद्युम्न इतना बुद्धिमान् है कि उसने आपको मारनेके लिये आपसे ही अस्त्र-शस्त्रकी विद्या सीखी है ।

‘द्रुपदपुत्रेण’—यह पद कहनेका आशय यह है कि आपको मारनेके उद्देश्यको लेकर ही द्रुपदने याज और उपयाज - नामक ब्राह्मणोंसे यज्ञ कराया, जिससे धृष्टद्युम्न पैदा हुआ है, वही यह द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न आपके सामने (प्रतिपक्षमें) सेनापतिके रूपमें खड़ा है ।

यद्यपि दुर्योधन यहाँ ‘द्रुपदपुत्र’ के स्थानपर ‘धृष्टद्युम्न’ भी कह सकता था, तथापि यहाँ ‘द्रुपदपुत्र’ कहनेका तात्पर्य है कि द्रोणाचार्यके साथ द्रुपद वैर रखता था । उस वैरभावको याद दिखानेके लिये ही दुर्योधन ‘द्रुपदपुत्रेण’ शब्दका प्रयोग करता है कि अब वैर निकाढनेका अच्छा मौका है !

‘पाण्डुपुत्राणां एतां व्यूढां महतीं चमूं पश्य—द्रुपदपुत्रके द्वारा पाण्डवोंकी इस व्यूहाकार खड़ी हुई बड़ी भारी सेनाको देखिये । तात्पर्य है कि जिन पाण्डवोंपर आप स्नेह रखते हैं, उन्हीं पाण्डवोंने आपके प्रतिपक्षमें खास आपको मारनेवाले द्रुपदपुत्रको सेनापति बनाकर व्यूहरचना करनेका अधिकार दिया है । अगर पाण्डव आपसे स्नेह रखते तो कम-से-कम आपको मारनेवालेको अपनी सेनाका मुख्य सेनापति नहीं बनाते, इतना अधिकार तो नहीं देते । परन्तु सब कुछ जानते हुए भी उन्होंने उसीको सेनापति बनाया है ।

यद्यपि कौरवोंकी अपेक्षा पाण्डवोंकी सेना संख्यामें कम थी अर्थात् कौरवोंकी सेना ग्यारह अक्षौहिणी* और पाण्डवोंकी सेना

* एक अक्षौहिणी सेनामें २१८७० रथ, २१८७० हाथी, ६५६१० घोड़े और १०९३५० पैदल सैनिक होते हैं (महाभारत, आदि० २ । २३-२६) ।

सात अक्षौहिणी थी; तथापि दुर्योधन पाण्डवोंकी सेनाको बड़ी भारी बता रहा है। पाण्डवोंकी सेनाको बड़ी भारी कहनेमें दो भाव मालूम देते हैं—(१) पाण्डवोंकी सेना ऐसे ढंगसे व्यूहाकार खड़ी हुई थी; जिससे दुर्योधनको थोड़ी सेना भी बहुत बड़ी दीख रही थी और (२) पाण्डव-सेनामें सब-के-सब योद्धा एक मतके हैं। इस एकताके कारण पाण्डवोंकी थोड़ी सेना भी बलमें, उत्साहमें बड़ी मालूम दे रही थी। ऐसी सेनाको दिखाकर दुर्योधन द्रोणाचार्यसे यह कहना चाहता है कि युद्ध करते समय आप इस सेनाको सामान्य और छोटी न समझें। आप विशेष बल लगाकर सावधानीसे युद्ध करें। पाण्डवोंका सेनापति है तो आपका शिष्य द्रुपदपुत्र ही, अतः उसपर विजय करना आपके लिये क्या बड़ी बात है ?

‘एतां पश्य’ कहनेका तात्पर्य है कि यह पाण्डव-सेना युद्धके लिये तैयार होकर सामने खड़ी है। इस वास्ते हमलोग इस सेनापर किस तरहसे विजय कर सकते हैं—इस विषयमें आपको जो सोचना है, करना है, वह जल्दी-से-जल्दी कर लीजिये।

सम्बन्ध—

द्रोणाचार्यसे पाण्डवोंकी सेना देखनेके लिये प्रार्थना करके अब दुर्योधन पाण्डवसेनाके महारथियोंको दिखाता है।

श्लोक—

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
 युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
 धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
 पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
 युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
 सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अर्थ—

यहाँ (पाण्डवोंकी सेनामें) बड़े-बड़े शूरवीर हैं, जिनके बहुत बड़े-बड़े धनुष हैं तथा जो युद्धमें भीम और अर्जुनके समान हैं । उनमें युयुधान (सात्यकि), राजा विराट और महारथी द्रुपद भी हैं । धृष्टकेतु और चेकितान तथा पराक्रमी काशिराज भी हैं । पुरुजित् और कुन्तिभोज—ये दोनों भाई तथा मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैव्य भी हैं । पराक्रमी युधामन्यु और पराक्रमी उत्तमौजा भी हैं । सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र भी हैं । ये सब-के-सब महारथी हैं ।

व्याख्या—

‘अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि’—जिनसे बाण चलाये जाते हैं, फेंके जाते हैं, उनका नाम ‘इष्वास’ अर्थात् धनुष है । ऐसे बड़े-बड़े इष्वास (धनुष) जिनके पास हैं, वे सभी ‘महेष्वास’ हैं । तात्पर्य है कि बड़े धनुषोंपर बाण चढ़ाने और प्रत्यक्षा खींचनेमें बहुत बल लगता है । जोरसे खींचकर छोड़ा गया बाण विशेष मार करता है । ऐसे बड़े-बड़े धनुष पासमें होनेके कारण ये सभी बहुत बलवान् और शूरवीर हैं । ये मामूली

योद्धा नहीं हैं । युद्धमें ये भीम और अर्जुनके समान हैं अर्थात् कलमें भीमके समान और अस्त्र-शस्त्रकी कलामें अर्जुनके समान हैं ।

‘युयुधानः’—युयुधान (सात्यकि) ने अर्जुनसे अस्त्र-शस्त्रकी विद्या सीखी थी । इसलिये भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा दुर्योधनको नारायणी सेना देनेपर भी वह कृतज्ञ होकर अर्जुनके पक्षमें ही रहा, दुर्योधनके पक्षमें नहीं गया । द्रोणाचार्यके मनमें अर्जुनके प्रति द्वेषभाव पैदा करनेके लिये दुर्योधन महारथियोंमें सबसे पहले अर्जुनके शिष्य युयुधानका नाम लेता है । तात्पर्य है कि इस अर्जुनको तो देविये ! इसने आपसे ही अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखा है और आपने अर्जुनको यह वरदान भी दिया है कि ‘संसारमें तुम्हारे समान और कोई धनुर्धर न हो’ ऐसा प्रयत्न करूँगा* । इस तरह आपने तो अर्जुनपर इतना स्नेह रखा है, पर वह कृतघ्न होकर आपके विपक्षमें लड़नेके लिये खड़ा है, जबकि अर्जुनका शिष्य युयुधान उसीके पक्षमें खड़ा है ।

[युयुधान महाभारतके युद्धमें न मरकर यादवोंके आपसके युद्धमें मारे गये ।]

‘विराटश्च’—जिसके कारण हमारे पक्षका वीर सुशर्मा अपमानित किया गया, आपको सम्मोहन-अस्त्रसे मोहित होना पड़ा और हम लोगोंको भी जिसकी गायें छोड़कर युद्धसे भागना पड़ा, वह राजा विराट आपके प्रतिपक्षमें खड़ा है ।

* प्रयतिष्ये तथा कर्तुं यथा नान्यो घनुर्धरः ।

त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥

(महाभारत, आदि० १३१ । २७)

राजा विराटके साथ द्रोणाचार्यका ऐसा कोई वैरभाव या द्वेष-भाव नहीं था; परन्तु दुर्योधन यह समझता है कि अगर युयुधानके वाद में द्रुपदका नाम लूँ, तो द्रोणाचार्यके मनमें यह भाव आ सकता है कि दुर्योधन पाण्डवोंके विरोधमें मेरेको उकसाकर युद्धके लिये विशेषतासे प्रेरणा कर रहा है तथा मेरे मनमें पाण्डवोंके प्रति वैरभाव पैदा कर रहा है। इसलिये दुर्योधन द्रुपदके नामसे पहले विराटका नाम लेता है, जिससे द्रोणाचार्य मेरी चालाकी न समझें और विशेषतासे युद्ध करें।

[राजा विराट उत्तर, श्वेत और शंख नामक तीनो पुत्रोंसहित महाभारत-युद्धमें मारे गये ।]

‘द्रुपदश्च महारथः’—जिसने सभामें यह कहकर आपका अपमान किया था कि मैं राजा हूँ और तुम भिक्षुक हो; अतः मेरी-तुम्हारी मित्रता कैसी। आपने तो द्रुपदको पहलेकी मित्रताकी याद दिलायी, पर उसने आपका तिरस्कार किया तथा वैर-भावके कारण आपको मारनेके लिये पुत्र भी पैदा किया। वही महारथी द्रुपद आपसे लड़नेके लिये विपक्षमें खड़ा है।

[राजा द्रुपद युद्धमें द्रोणाचार्यके हाथसे मारे गये ।]

‘धृष्टकेतुः’—यह धृष्टकेतु कितना मूर्ख है कि जिसके पिता शिशुपालको श्रीकृष्णने भरी सभामें चक्रसे मार डाला था, उसी श्रीकृष्णके पक्षमें यह लड़नेके लिये खड़ा है।

[धृष्टकेतु द्रोणाचार्यके हाथसे मारे गये ।]

‘चेकितानः’—सब यादवसेना तो हमारी ओरसे लड़नेके लिये तैयार है और यह यादव चेकितान पाण्डवोंकी सेनामें खड़ा है !

[चेकितान दुर्योधनके हाथसे मारे गये ।]

‘काशिराजश्च वीर्यवान्’—यह काशिराज बड़ा ही शूरवीर और महारथी है । यह भी पाण्डवोंकी सेनामें खड़ा है । इसवास्ते आप सावधानीसे युद्ध करना; क्योंकि यह बड़ा पराक्रमी है ।

[काशिराज महाभारत-युद्धमें मारे गये ।]

‘पुरुजित्कुन्तिभोजश्च—यद्यपि पुरुजित् और कुन्तिभोज—ये दोनो कुन्तीके भाई होनेसे हमारे और पाण्डवोंके मामा हैं, तथापि इनके मनमें पक्षपात होनेके कारण ये हमारे विपक्षमें युद्ध करनेके लिये खड़े हैं ।

[पुरुजित् और कुन्तिभोज—दोनों ही युद्धमें द्रोणाचार्यके हाथसे मारे गये ।]

‘शैब्यश्च नरपुङ्गवः’—यह शैब्य युधिष्ठिरका श्वशुर है । ये मनुष्योंमें श्रेष्ठ और बहुत बलवान् हैं । परिवारके नाते यह भी हमारा सम्बन्धी है, परन्तु यह पाण्डवोंके ही पक्षमें खड़ा है ।

‘युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्’ - पाञ्चालदेशके बड़े बलवान् और वीर योद्धा युधामन्यु और उत्तमौजा मेरे वैरी अर्जुनके रथके पहियोंकी रक्षामें नियुक्त किये गये हैं, आप इनकी ओर भी नजर रख ना ।

[युधामन्यु और उत्तमौजा—इन दोनोंको रातमें सोते हुए अश्वत्थामाने मार डाला ।]

‘सौभद्रः’—यह श्रीकृष्णकी बहन सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु है । इसने गर्भमें ही चक्रव्यूहभेदनकी विद्या सीखी है । यह बहुत शूरावीर है । चक्रव्यूहरचनाके समय आप इसका खयाल रखना ।

[युद्धमें दुःशासनपुत्रके द्वारा अन्यायपूर्वक सिरपर गदाका प्रहार करनेसे अभिमन्यु मारे गये ।]

‘द्रौपदेयाश्च’—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—इन पाँचोंके द्वारा क्रमशः द्रौपदीके गर्भसे प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शनानीक और श्रुतसेन पैदा हुए हैं । इन पाँचोंको आप देख लीजिये । द्रौपदीने भरी समामें मेरी हँसी उड़ाकर मेरे हृदयको जलाया है, उसीके इन पाँचों पुत्रोंको युद्धमें मारकर आप उसका बदला चुकाइये ।

[रातमें सोते हुए इन पाँचोंको अश्वत्थामाने मार डाला ।]

‘सर्व एव महारथाः’—ये सब-के-सब महारथी हैं । इनके अलावा और भी बहुत-से महारथी पाण्डवसेनामें खड़े हैं ।

जो शास्त्र और शस्त्रविद्या—दोनोंमें प्रवीण है और युद्धमें अकेले ही एक साथ दस हजार धनुर्वारी योद्धाओंका संचालन कर सकता है, उस वीर पुरुषको ‘महारथी’ कहते हैं* ।

* एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।

शस्त्रशाल्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥

सम्बन्ध—

द्रोणाचार्यके मनमें पाण्डवोंके प्रति द्वेष पैदा करने और युद्धके लिये जोश दिलानेके लिये दुर्योधनने पाण्डवसेनाकी विशेषता बतायी । दुर्योधनके मनमें विचार आया कि द्रोणाचार्य पाण्डवोंके पक्षपाती हैं ही; अतः वे पाण्डवसेनाकी महत्ता सुनकर मेरेको यह कह सकते हैं कि जब पाण्डवकी सेनामें इतनी विशेषता है, तो उनके साथ तू सन्धि क्यों नहीं कर लेता ? ऐसा विचार आते ही दुर्योधन आगेके तीन श्लोकोंमें अपनी सेनाकी विशेषता बताता है ।

श्लोक—

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

अर्थ—

हे द्विजोत्तम ! हमारे पक्षमें भी जो मुख्य हैं, उनपर भी आप ध्यान दीजिये । आपको याद दिलानेके लिये मेरी सेनाके जो नायक हैं, उनको मैं कहता हूँ ।

व्याख्या—

‘अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम’—
दुर्योधन द्रोणाचार्यसे कहता है कि हे द्विजश्रेष्ठ ! जैसे पाण्डवोंकी सेनामें श्रेष्ठ महारथी हैं, ऐसे ही हमारी सेनामें भी उनसे कम विशेषता-वाले महारथी नहीं हैं, प्रत्युत उनकी सेनाके महारथियोंकी अनेकता ज्यादा ही विशेषता रखनेवाले हैं । उनको भी आप समझ लीजिये ।

तीसरे श्लोकमें 'पश्य' और यहाँ 'निबोध' क्रिया देनेका तात्पर्य है कि पाण्डवोंकी सेना तो सामने खड़ी है, इस वास्ते उसको देखनेके लिये दुर्योधन 'पश्य' (देखिये) क्रियाका प्रयोग करता है । परन्तु अपनी सेना सामने नहीं है अर्थात् अपनी सेनाकी तरफ द्रोणाचार्यकी पीठ है, इसलिये उसको देखनेकी बात न कहकर उनका हृषाल करनेके लिये, उनपर ध्यान देनेके लिये दुर्योधन 'निबोध' (ध्यान दीजिये) क्रियाका प्रयोग करता है ।

'नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते'—मेरी सेनामें भी जो विशिष्ट-विशिष्ट सेनापति हैं, सेनानायक हैं, महारथी हैं; मैं उनके नाम केवल आपको याद दिलानेके लिये, आपकी दृष्टि उधर खींचनेके लिये ही कह रहा हूँ ।

'संज्ञार्थम्' पदका तात्पर्य है कि हमारे बहुत-से सेनानायक हैं, उनके नाम मैं कहींतक गिनाऊँ । इसलिये मैं उनका केवल संकेतमात्र करता हूँ; क्योंकि आप तो सबको जानते ही हैं ।

इस श्लोकमें दुर्योधनका यह भाव मालूम होता है कि हमारा पक्ष किसी भी तरह कमजोर नहीं है । परन्तु राजनीतिके अनुसार शत्रुपक्ष चाहे कितना ही कमजोर हो और अपना पक्ष चाहे कितना ही सबल हो, ऐसी अवस्थामें भी शत्रुपक्षको कमजोर नहीं समझना चाहिये और अपनेमें उपेक्षा, उदासीनता आदिकी भावना किञ्चिन्मात्र भी नहीं आनी चाहिये । इसलिये सावधानीके लिये मैंने उनकी सेनाकी बात कही और अब अपनी सेनाकी बात कहता हूँ ।

दूसरा भाव यह है कि पाण्डवोंकी सेनाको देखकर दुर्योधनपर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसके मनमें कुछ भय भी हुआ । कारण कि संख्यामें कम होते हुए भी पाण्डवसेनाके पक्षमें बहुत-से धर्मात्मा पुरुष थे और स्वयं भगवान् थे । जिस पक्षमें धर्म और भगवान् रहते हैं, उसका सवपर बड़ा प्रभाव पड़ता है । पापी-से-पापी, दुष्ट-से-दुष्ट व्यक्तिपर भी उसका प्रभाव पड़ता है । इतना ही नहीं, पशु-पक्षी, वृक्ष-वृतां आदिपर भी उसका प्रभाव पड़ता है । कारण कि धर्म और भगवान् नित्य हैं । कितनी ही ऊँची-ऊँची भौतिक शक्तियाँ क्यों न हो, हैं वे सभी अनित्य ही । इस वास्ते दुर्योधनपर पाण्डवसेनाका बड़ा असर हुआ । परन्तु उसके भीतर भौतिक बलका विश्वास मुख्य होनेसे वह द्रोणाचार्यको विश्वास दिखानेके लिये कहता है कि हमारे पक्षमें जितनी विशेषता है, उतनी पाण्डवोंकी सेनामें नहीं है । अतः हम उनपर सहज ही विजय कर सकते हैं ।

श्लोक—

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

अर्थ—

आप (द्रोणाचार्य) और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ।

व्याख्या—

‘भवान् भीष्मश्च’—आप और पितामह भीष्म—दोनों ही बहुत विशेष पुरुष हैं । आप दोनोंके समकक्ष संसारमें तीसरा

—ये दो चिरंजीवी हैं, जब कि पाण्डवोंकी सेनामें ऐसा एक भी नहीं है । अपनी सेनामें धर्म-आत्मा भोक्ता भी कमो नहीं है । इस वास्ते अपने डरनेकी कोई बात नहीं है । अपनी विजय तो निश्चित ही है ।

श्लोक—

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थं त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अर्थ—

इनके अतिरिक्त बहुत-से शूरा हैं, जिन्होंने मेरे लिये अपने जीनेकी इच्छा का भी त्याग कर दिया है और जो अनेक प्रकारके शस्त्र-अस्त्रोंको चढ़ानेवाले हैं तथा जो सब-के-सब युद्धकलामें अत्यन्त चतुर हैं ।

व्याख्या—

‘अन्ये च बहवः शूरा मदर्थं त्यक्तजीविताः’—मैंने अभी-तक अपनी सेनाके जितने शूराओंके नाम गिनाये हैं, उनके अतिरिक्त भी हमारी सेनामें बाह्यीक, शल्य, भगदत्त, जयद्रथ आदि बहुत-से शूरावीर महारथी हैं, जो मेरे हित के लिये, मेरी ओरसे लड़नेके लिये अपने जीनेकी इच्छा का त्याग करके यहाँ आये हैं । वे मेरी विजयके लिये मर भले ही जायँ, पर युद्धसे हटेंगे नहीं । उनकी मैं आपके सामने क्या कृतज्ञता प्रकट करूँ ?

‘नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः’—ये सभी लोग तलवार, गदा, त्रिशूल आदि हाथमें रखकर प्रहार करनेवाले नाना

प्रकारके शस्त्रोंकी कलामें निपुण हैं और बाण, तोमर, शक्ति आदि हाथसे फेंककर प्रहार करनेवाले अस्त्रोंकी कलामें भी निपुण हैं । युद्ध कैसा करना चाहिये; किस तरहसे, किस पैतरेसे और किस युक्तिसे युद्ध करना चाहिये; सेना को किस तरह खड़ा करना चाहिये आदि युद्धकी कलाओंमें भी ये बड़े निपुण हैं, कुशल हैं ।

सम्बन्ध—

दुर्योधनकी बातें सुनकर भी जब द्रोणाचार्य कुछ भी नहीं बोले, तब अपनी चालाकी न चल सकनेसे दुर्योधनके मनमें क्या विचार आता है—इसको संजय आगेके श्लोकमें कहते हैं* ।

श्लोक—

अपर्याप्तं तदस्त्राकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।

पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अर्थ—

वह हमारी सेना पाण्डवोंपर विजय करनेमें अपर्याप्त है, असमर्थ है; क्योंकि उसके संरक्षक (उभयपक्षपाती) भीष्म हैं । परन्तु इन पाण्डवोंकी सेना हमारेपर विजय करनेमें पर्याप्त है, समर्थ है; क्योंकि इसके संरक्षक (निजसेनापक्षपाती) भीमसेन हैं ।

* संजय व्यासप्रदत्त दिव्यदृष्टिसे सैनिकोंके मनमें आयी बातको भी जान लेनेमें समर्थ थे—

प्रकाशं वाप्रकाशं वा दिवा वा यदि वा निशि ।

मनसा चिन्तितमपि सर्वं वेत्स्यति संजयः ॥

(महाभारत, भीष्म० २ । ११)

व्याख्या—

‘अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्’—अधर्म-अन्याय

के कारण दुर्योधनके मनमें भय होनेसे वह अपनी सेनाके विषयमें सोच रहा है कि हमारा सैन्यबल बहुत बड़ा होनेपर भी अर्थात् पाण्डवोंकी अपेक्षा चार अशौहिणी अधिक होनेपर भी पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करनेमें है तो असमर्थ ही ! कारण कि हमारी सेनामें मनभेद हैं । उसमें इतनी एकता (संगठन), निर्भयता, निःसंकोचता नहीं है, जितनी कि पाण्डवोंकी सेनामें है । हमारी सेनाके खास संरक्षक पितामह भीष्म उभयपक्षवादी हैं अर्थात् उनके भीतर कोरव और पाण्डव—दोनों सेनाओंका पक्ष है । वे कृष्णके बड़े भक्त हैं । उनके हृदयमें युधिष्ठिरका बड़ा आदर है, प्रभाव है । अर्जुनपर भी उनका बड़ा स्नेह है । इस वास्ते वे हमारे पक्षमें होते हुए भी भीतरसे पाण्डवोंका भला चाहते हैं । वे ही भीष्म हमारी सेनाके मुख्य सेनापति हैं । ऐसी दशामें हमारी सेना पाण्डवोंके मुक्तावलेमें कैसे समर्थ हो सकती है ? नहीं हो सकती ।

‘पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्’ —परन्तु यह जो पाण्डवोंकी सेना है, यह हमारेपर विजय करनेमें समर्थ है । कारण कि इनकी सेनामें मनभेद नहीं है, प्रत्युत सभी एकमत-संगठित हैं । इनकी सेनाका संरक्षक बलवान् भीमसेन है, जो कि वचनसे ही मेरेको हराता आया है । यह अकेला ही मेरेसहित सौ भाइयोंका मारनेकी प्रतिज्ञा कर चुका है अर्थात्

यह हमारा नाश करनेमें हरदम तुला हुआ है ! इसका शरीर वज्रके समान मजबूत है । इसको मैंने जहर पिलाया था, तो भी यह मरा नहीं । मुझे तो ऐसा माझम होना है कि यह हमारी जड़ ही उखाड़ना चाहता है । ऐसा यह भीमसेन पाण्डवोंकी सेनाका संरक्षक है, इस वास्ते यह सेना वास्तवमें समर्थ है, पूर्ण है ।

यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि दुर्योधनने अपनी सेनाके संरक्षकके लिये भीष्मजीका नाम लिया, जो कि सेनापतिके पदपर नियुक्त हैं । परंतु पाण्डवसेनाके संरक्षकके लिये भीमसेनका नाम लिया, जो कि सेनापति नहीं है । इसका समाधान यह है कि दुर्योधन इस समय सेनापतियोंकी बात नहीं सोच रहा है; किन्तु दोनों सेनाओंकी शक्तिके विषयमें सोच रहा है कि किस सेनाकी शक्ति अधिक है ! दुर्योधनपर आरम्भसे ही भीमसेनकी शक्तिका, बलवत्ताका अधिक प्रभाव पड़ा हुआ है । इस वास्ते वह पाण्डवसेनाके संरक्षकके लिये भीमसेनका ही नाम लेता है ।

विशेष बात—

अर्जुन कौरवसेनाको देखकर किसीके पास न जाकर हाथमें धनुष उठाते हैं (गीता १।२०), पर दुर्योधन पाण्डवसेनाको देखकर द्रोणाचार्यके पास जाता है और उनसे पाण्डवोंकी व्यूहचनयुक्त सेनाको देखनेके लिये कहता है । इससे सिद्ध होता है कि

दुर्योधनके हृदयमे भय बैठा हुआ है* । भीतरमे भय होनेपर भी वह चाळाकीसे द्रोणाचार्यको प्रसन्न करना चाहता है, उनको पाण्डवोंके विरुद्ध उकसाना चाहता है । कारण कि दुर्योधनके हृदयमे अधर्म है, अन्याय है, पाप है । अन्यायी, पापी व्यक्ति कभी निर्भय और सुख-शान्तिसे नहीं रह सकता—यह नियम है । परन्तु अर्जुनके भीतर धर्म है, न्याय, है । इस वास्ते अर्जुनके भीतर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये चाळाकी नहीं है, भय नहीं है; किन्तु उत्साह है, वीरता है । तभी तो वे वीरतामे आकर सेना-निरीक्षण करनेके लिये भगवान्को आज्ञा देते हैं कि हे अच्युत ! दोनों सेनाओके मध्यमें मेरे रथको खड़ा कर दीजिये । इसका तात्पर्य है कि जिसके भीतर नाशवान् धन-सम्पत्ति आदिका आश्रय है, आदर है, और जिसके भीतर अधर्म है, अन्याय है, अत्याचार है, उसके भीतर वास्तविक बल नहीं होता । वह भीतरसे खोखला होता है और वह कभी निर्भय नहीं होता । परन्तु जिसके भीतर अपने धर्मका पाठन है और भगवान्का आश्रय है, वह कभी भयभीत नहीं हो सकता । उसका बल सच्चा होता है । वह सदा निश्चिन्त और निर्भय रहता है ।

* जब कौरवोंकी सेनाके शंख आदि बाजे बजे, तो उनके शब्दका पाण्डवसेनापर कुछ भी असर नहीं पड़ा, परन्तु जब पाण्डवोंकी सेनाके शंख बजे, तो उनके शब्दसे दुर्योधन आदिके हृदय विदीर्ण हो गये (१ । १३, १९) । इससे सिद्ध होता है कि अधर्म-अन्यायका पक्ष लेनेके कारण दुर्योधन आदिके हृदय कमजोर हो गये थे, और उनमें भय बैठा हुआ था ।

इस वास्ते अपना कल्याण चाहनेवाले सावकोको अधर्म, अन्याय आदिका सर्वथा त्याग करके एकमात्र भगवान्का आश्रय लेकर भगवत्प्रीत्यर्थ अपने धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये । भौतिक सम्पत्तिको महत्त्व देकर और सयोगजन्य सुखके प्रलोभनमें फँसकर कभी अधर्मका आश्रय नहीं लेना चाहिये, क्योंकि इन दोनोंसे कभी प्राणीका हित नहीं होता, अहित ही होता है ।

सम्बन्ध—

अब दुर्योधन पितामह भीष्मको प्रसन्न करनेके लिये सभी महारथियोंसे कहता है—

श्लोक—

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अर्थ—

आप सब-के-सब लोग सभी मोर्चोंपर अपनी-अपनी जगह दृढ़तासे स्थित रहते हुए ही पितामह भीष्मकी चारों ओरसे रक्षा करें ।

व्याख्या

‘अयनेषु च सर्वेषु भवन्तः सर्व एव हि’—

जिन-जिन मोर्चोंपर आपकी नियुक्ति कर दी गयी है, आप सभी योद्धालोग उन्हीं मोर्चोंपर दृढ़तासे स्थित रहते हुए सब तरफसे, सब प्रकारसे भीष्मजीकी रक्षा करें ।

भीष्मजीको सब ओरसे रक्षा करें—यह कहकर दुर्योधन भीष्मजीको भीतरसे अपने पक्षमें लेना चाहता है । ऐसा कहनेका दूसरा भाव यह है कि जब भीष्मजी युद्ध करें, तो किसी भी

व्यूहद्वारसे शिखण्डी उनके सामने न आ जाय—इसका ख्याल रखें। अगर शिखण्डी उनके सामने आ जायगा, तो भीष्मजी उसपर शस्त्रास्त्र नहीं चलायेंगे। कारण कि शिखण्डी पहले जन्ममें भी स्त्री ही था और इस जन्ममें भी पहले स्त्री ही था, पीछे पुरुष बना है। इस वास्ते भीष्मजी इसको स्त्री ही समझते हैं और उन्होंने शिखण्डीसे युद्ध न करनेकी प्रतिज्ञा की है। यह शिखण्डी शंकरके वरदानसे भीष्मजीको मारनेके लिये ही पैदा हुआ है। अतः जब शिखण्डीसे भीष्मजीकी रक्षा हो जायगी, तो फिर वे सबको मार देंगे, जिससे निश्चित ही हमारी विजय हो जायगी। इस बातको लेकर दुर्योधन सभी महारथियोंसे भीष्मजीकी रक्षा करनेके लिये कह रहा है।

सम्बन्ध—

द्रोणाचार्यके द्वारा कुछ भी न बोलनेके कारण दुर्योधनका मानसिक उत्साह भङ्ग हुआ देखकर उसके प्रति भीष्मजीके किये हुए स्नेह—सौहार्दकी बात संजय आगेके श्लोकमें प्रकट करते हैं।

श्लोक—

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।

सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं धूमौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

अर्थ—

दुर्योधनके हृदयमें हर्ष पैदा करते हुए प्रभावशाली कुरुवृद्ध पितामह भीष्मने सिंहके समान गरजकर जोरसे शंख बजाया।

व्याख्या—

‘तस्य संजनयन् हर्षम्’—यद्यपि दुर्योधनके हृदयमें हर्ष होना तो शंखध्वनिका कार्य है और शंखध्वनि कारण है, इस वास्ते यहाँ शंखध्वनिका वर्णन पहले और हर्ष होनेका वर्णन पीछे होना चाहिये अर्थात् यहाँ ‘शंख वजाते हुए दुर्योधनको हर्षित किया’—ऐसा कहा जाना चाहिये। परन्तु यहाँ ऐसा न कहकर यही कहा है कि ‘दुर्योधनको हर्षित करते हुए भीष्मजीने शंख वजाया’; क्योंकि ऐसा कहकर संजय यह भाव प्रकट कर रहे हैं कि पितामह भीष्मकी शंखवादन क्रियामात्रसे दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न हो ही जायगा। भीष्मजीके इस प्रभावको द्योतन करनेके लिये ही संजय आगे ‘प्रतापवान्’ विशेषण देते हैं।

‘प्रतापवान्’—भीष्मजी शस्त्र और शस्त्र—इन दोनोंमें बड़े प्रभावशाली थे। उनके त्यागका भी बड़ा प्रभाव था। वे कनक-कामिनीके त्यागी थे अर्थात् उन्होंने राज्य स्वीकार नहीं किया और ब्याह नहीं किया। क्षत्रियोंमें तो भीष्मजीका बड़ा प्रभाव था।

जब अकेले भीष्म अपने भाई विचित्रवीर्यके लिये काशिराजकी कन्याओंको स्वयंवरसे हरकर ला रहे थे, तो वहाँ स्वयंवरके लिये इकट्ठा हुए सब क्षत्रिय उनपर टूट पड़े। तब अकेले भीष्मजीने उन सबको हरा दिया। जिनसे भीष्म अस्त्र-शस्त्रकी विद्या पढ़े थे, उन गुरु परशुरामजीके सामने भी उन्होंने अपनी हार स्वीकार नहीं की। इस प्रकार शस्त्रके विषयमें वे बड़े प्रभावशाली थे। जब भीष्म शर-शय्यापर सोये थे, तो भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराजसे

कहा कि आपको धर्मके विषयमें कोई शङ्का हो तो भीष्मजीसे पूछ लो; क्योंकि शास्त्रज्ञानका सूर्य अस्ताचलको जा रहा है अर्थात् भीष्मजी इस लोकसे जा रहे हैं* । इस प्रकार शास्त्रके विषयमें भी वे बड़े प्रभावशाली थे ।

‘कुरुवृद्धः’—यद्यपि कुरुवंशियोंमें आयुकी दृष्टिसे भीष्मजीसे भी अधिक वृद्ध बाह्लीक थे (जो कि भीष्मजीके पिता शान्तनुके छोटे भाई थे), तथापि कुरुवंशियोंमें जितने बड़े-बूढ़े थे, उन सबमें भीष्मजी धर्म और ईश्वरको विशेषतासे जाननेवाले थे । अतः ज्ञानवृद्ध होनेके कारण संजय भीष्मजीके लिये ‘कुरुवृद्धः’ विशेषण देते हैं ।

‘पितामहः’—इस पदका आशय यह मालूम देता है कि दुर्योधनके द्वारा चालाकीसे कही गयी बातोंका द्रोणाचार्यने कोई उत्तर नहीं दिया । उन्होंने यही समझा कि दुर्योधन चालाकीसे मेरेको ठगना चाहता है, इस वास्ते वे चुप ही रहे । परंतु पितामह (दादा) होनेके नाते भीष्मजीको दुर्योधनकी चालाकीमें उसका वचपना दीखता है । इस वास्ते पितामह भीष्म द्रोणाचार्यके समान चुप न रहकर वात्सल्यभावके कारण दुर्योधनको हर्षित करते हुए शंख बजाते हैं ।

‘सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ’—जैसे सिंहके गर्जना करनेपर हाथी आदि बड़े-बड़े पशु भी भयभीत हो जाते हैं, ऐसे ही

* तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरंधरे ।

ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात् त्वां चोदयाम्यहम् ॥

(महाभारत, शान्ति० ४६ । २३)

गर्जना करनेमात्रसे सभी भयभीत हो जायँ और दुर्योधन प्रसन्न हो जाय—इसी भावसे भीष्मजीने सिंहके समान गरजकर जोरसे शंख बजाया ।

सम्बन्ध—

पितामह भीष्मके द्वारा शंख बजानेका परिणाम क्या हुआ, इसको संजय आगेके श्लोकमें कहते हैं ।

श्लोक—

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहस्रैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

अर्थ—

उसके बाद शंख, भेरी (नगाड़े), ढोल, मृदङ्ग और नरसिंघे वाजे एक साथ बज उठे । उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ।

व्याख्या—

‘ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः’—यद्यपि भीष्मजीने युद्धारम्भकी घोषणा करनेके लिये शंख नहीं बजाया था, प्रत्युत दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये ही शंख बजाया था, तथापि कौरव-सेनाने भीष्मजीके शंखवादनको युद्धकी घोषणा ही समझा । इस वास्ते भीष्मजीके शंख बजानेपर कौरवसेनाके शंख आदि सब वाजे एक साथ बज उठे ।

‘शंख’ समुद्रसे उत्पन्न होते हैं । ये ठाकुरजीकी सेवा-पूजामें रखे जाते हैं और आरती उतारने आदिके काममें आते हैं । माङ्गलिक कार्योंमें तथा युद्धके आरम्भमें ये मुखसे फूँक देकर बजाये

जाते हैं । 'मेरी' नाम नगाड़ोंका है (जो बड़े नगाड़े होते हैं, उनको नादत कहते हैं) । ये नगाड़े लोहेके बने हुए और भैसेके चमड़ेसे मढ़े हुए होते हैं तथा लकड़ीके ढण्डेसे बजाये जाते हैं । ये मन्दिरोमें और राजाओके किलोमें रखे जाते हैं । उत्सव और माङ्गलिक कार्योंमें ये विशेषतासे बजाये जाते हैं तथा राजाओके यहाँ रोज बजाये जाते हैं । 'पणव' नाम ढोलका है । ये लोहेके अथवा लकड़ीके बने हुए और बकरेके चमड़ेसे मढ़े हुए होते हैं, तथा हाथसे या लकड़ीके ढण्डेसे बजाये जाते हैं । ये आकारमें ढोलकीकी तरह होनेपर भी ढोलकीसे बड़े होते हैं कार्यके आरम्भमें पगवोको बजाना गणेशजीके पूजनके समान माङ्गलिक माना जाता है । 'आनक' नाम मृदङ्गका है । इनको पखावज भी कहते हैं । आकारमें ये लकड़ीकी बनायी हुई ढोलकीके समान होते हैं । ये भिट्टीके बने हुए और चमड़ेसे मढ़े हुए होते हैं और हाथसे बजाये जाते हैं । 'गोमुख' नाम नरसिंघेका है । ये आकारमें साँप की तरह टेढ़े होते हैं और इनका मुख गायकी तरह होता है । ये मुखको फूँकसे बजाये जाते हैं ।

‘सहस्रैवाभ्यहन्यन्त’ * कौरवसेनामें उत्साह बहुत था । इस वास्ते पितामह भीष्मका शस्त्र बजते ही कौरवसेनाके सब बाजे

* कायको अत्यन्त सुगमतापूर्वक च्योतन करनेके लिये जहाँ कर्म आदिको ही कर्ता बना-दिया जाता है, उसको 'कर्म कर्तृ' प्रयोग कहते हैं । जैसे कोई तलवारसे काट रहा है, तो इस कर्म को सुगम बतानेके

अनायास ही एक साथ बज उठे । उनके बजनेमें देरी नहीं हुई तथा उनको बजानेमें परिश्रम भी नहीं हुआ ।

‘स शब्दस्तुमुलोऽभवत्’—अलग-अलग विभागोंमें, टुकड़ियोंमें खड़ी हुई कौरवसेनाके शङ्ख आदि बाजोंका शब्द बड़ा भयंकर हुआ अर्थात् उनकी आवाज बड़ी जोरसे गूँजती रही ।

सम्बन्ध—

इस अध्यायके आरम्भमें ही धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा था कि युद्धक्षेत्रमें मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? तो संजयने दूसरे श्लोकसे नेहवें श्लोकतक धृतराष्ट्रके पुत्रोंने क्या किया—इसका उत्तर दिया । अब आगेके श्लोकसे संजय ‘पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया’—इसका उत्तर देते हैं ।

श्लोक—

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

अर्थ—

उसके बाद सफेद घोड़ोंसे युक्त बड़े भारी रथपर बैठे हुए लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुनने दिव्य शङ्खोंको बड़े जोरसे बजाया ।

लिये ‘तलवार काट रही है’ ऐसा प्रयोग किया जाता है । ऐसे ही यहाँ ‘बाजे बजाये गये’ ऐसा प्रयोग होना चाहिये; परन्तु बाजे बजानेमें सुगमता बतानेके लिये, सेनाका उत्साह दिखानेके लिये ‘बाजे बज उठे’ ऐसा प्रयोग किया गया है ।

व्याख्या—

‘ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते’—चित्ररथ गन्धर्वने अर्जुनको सौ दिव्य घोड़े दिये थे । इन घोड़ोंमें यह विशेषता थी कि इनमेंसे युद्धमें कितने ही घोड़े क्यों न मारे जायँ, पर ये संख्यामें सौ-के-सौ ही बने रहते थे, कम नहीं होते थे और ये पृथ्वी, स्वर्ग आदि सभी स्थानोंमें जा सकते थे । इन्हीं सौ घोड़ोंमेंसे सुन्दर और सुशिक्षित चार सफेद घोड़े अर्जुनके रथमें जुते हुए थे ।

‘महति स्यन्दने स्थितौ’—यज्ञोंमें आहुतिरूपसे दिये गये वीको खाते-खाते अग्निंको अजीर्ण हो गया था । इस वास्ते अग्निदेव खाण्डववनकी विलक्षण-विलक्षण जड़ी-बूटियाँ खाकर (जलाकर) अपना अजीर्ण दूर करना चाहते थे । परन्तु देवताओंके द्वारा खाण्डववनकी रक्षा की जानेके कारण अग्निदेव अपने कार्यमें सफल नहीं हो पाते थे । वे जब-जब खाण्डववनको जलाते, तब-तब इन्द्र वर्षा करके उसको (अग्निंको) बुझा देते । अन्तमें अर्जुनकी सहायतासे अग्निने उस पूरे वनको जलाकर अपना अजीर्ण दूर किया और प्रसन्न होकर अर्जुनको यह बहुत बड़ा रथ दिया था । नौ बैलगाड़ियोंमें जितने अस्त्र-शस्त्र आ सकते हैं, उतने अस्त्र-शस्त्र इस रथमें पड़े रहते थे । यह सोनेसे मढ़ा हुआ और तेजोमय था । इसके पहिये बड़े ही दृढ़ और विशाल थे, इसकी ध्वजा विजलीके समान चमकती थी । यह ध्वजा एक योजन (चार कोस) तक फहराया करती थी । इतनी लम्बी होनेपर भी इसमें न तो बोझ था, न यह कहीं रुकती थी और न कहीं वृक्ष आदिमें अटकती ही थी । इस ध्वजाके ऊपर हनुमान्जी विराजमान थे ।

‘स्थितौ’—कहनेका तात्पर्य है कि उस सुन्दर और तेजोमय रथ पर साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण और उनके प्यारे भक्त अर्जुनके विराजमान होनेसे उस रथकी शोभा और तेज बहुत ज्यादा बढ़ गया था ।

‘माधवः पाण्डवश्चैव’—‘मा’ नाम लक्ष्मीका है और ‘धव’ नाम पतिका । इस वास्ते ‘माधव’ नाम लक्ष्मीपतिका है । यहाँ ‘पाण्डव’ नाम अर्जुनका है; क्योंकि अर्जुन सभी पाण्डवोंमें मुख्य हैं—‘पाण्डवानां धनञ्जयः’ (गीता १० । ३७) ।

अर्जुन ‘नर’ के और श्रीकृष्ण ‘नारायण’ के अवतार हैं । महाभारतके प्रत्येक पर्वके आरम्भमें नर (अर्जुन) और नारायण (भगवान् श्रीकृष्ण) को नमस्कार किया गया है—‘नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्’ । इस दृष्टिसे पाण्डवसेनामें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन—ये दोनों मुख्य थे । संजयने भी गीताके अन्तमें कहा है कि ‘जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन रहेंगे, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अटल नीति रहेगी’* ।

‘दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः’—भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके हाथोंमें जो शङ्ख थे, वे तेजोमय और अलौकिक थे । उन शङ्खोंको उन्होंने बड़े जोरसे बजाया ।

* यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुवः नीतिर्मतिर्मम ॥

(गीता १८ । ७८)

सम्बन्ध—

अब संजय आगेके चार श्लोकोंमें पूर्वश्लोकका खुलासा करते हुए दूसरोंके शंखवादनका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

अर्थ—

अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य नामक, धनञ्जय अर्जुनने देवदत्त नामक और भयानक कर्म करनेवाले वृकोदर भीमने पौण्ड्र नामक महाशङ्ख बजाया ।

व्याख्या—

‘पाञ्चजन्यं हृषीकेशः’—सबके अन्तर्यामी अर्थात् सबके भीतरकी बात जाननेवाले साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके पक्षमें खड़े होकर पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया । भगवान्ने पञ्चजन नामक शंखरूपधारी दैत्यको मारकर उसको शंखरूपसे ग्रहण किया था, इस वास्ते इस शंखका नाम ‘पाञ्चजन्य’ हो गया ।

‘देवदत्तं धनञ्जयः’—राजसूय यज्ञके समय अर्जुनने बहुत-से राजाओंको जीतकर बहुत धन इकट्ठा किया था । इस कारण अर्जुनका नाम ‘धनञ्जय’ पड़ गया ।* निवातकवचादि दैत्योके साथ युद्ध करते समय इन्द्रने अर्जुनको ‘देवदत्त’ नामक शंख दिया था । इस

* सर्वास्त्रनपदाञ्जित्वा वित्तमादाय केवलम् ।

मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाद्रुमौ धनञ्जयम् ॥

(महाभारत, विराट० ४४। ११)

शंखकी ध्वनि बड़े जोरसे होती थी, जिससे शत्रुओंकी सेना घबरा जाती थी । इस शंखको अर्जुनने बजाया ।

‘पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः’—हिड्बासुर, बकासुर, जटासुर आदि असुरोंको तथा कीचक, जरासन्ध आदि बलवान् वीरोको मारनेके कारण ही भीमसेनका नाम ‘भीमकर्मा’ पड़ गया । उनके पेटमें जठराग्निके सिवाय ‘वृक’, नामकी एक विशेष अग्नि थी, जिससे बहुत अधिक भोजन पचता था । इस कारण उनका नाम ‘वृकोदर’ पड़ गया । ऐसे भीमकर्मा वृकोदर भीमसेनने बहुत बड़े आकरवाला ‘पौण्ड्र’ नामक शंख बजाया ।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि कौरवपक्षमें मुख्य सेनापति पितामह भीष्म हैं, इस वास्ते उनका सबसे पहले शंख बजाना ठीक ही है; परन्तु पाण्डवसेनामें मुख्य सेनापति धृष्टद्युम्नके रहते हुए ही सारथि बने हुए भगवान् श्रीकृष्णने सबसे पहले शंख क्यों बजाया ? इसका समाधान है कि भगवान् सारथि बनें चाहें महारथी बनें, उनकी मुख्यता कभी मिट ही नहीं सकती । वे जिस किसी भी पदपर रहें, सदा सबसे बड़े ही बने रहते हैं । कारण कि वे अच्युत हैं, कभी च्युत होते ही नहीं । पाण्डवसेनामें भगवान् श्रीकृष्ण ही मुख्य थे और वे ही सबका संचालन करते थे । जब वे बाल्यावस्थामें थे, उस समय भी नन्द, उपनन्द आदि उनकी बात मानते थे । तभी तो उन्होने बालक श्रीकृष्णके कहनेसे परम्परासे चली आयी इन्द्र-पूजाको छोड़कर गोवर्धनकी पूजा करना शुरू कर दिया । तात्पर्य है कि भगवान् जिस किसी अवस्थामें, जिस

किसी स्थानपर और जहाँ कहीं भी रहते हैं, वहाँ वे मुख्य ही रहते हैं । इस वास्ते भगवान् ने पाण्डवसेनामें सबसे पहले शंख बजाया ।

जो स्वयं छोटा होता है, वही ऊँचे स्थानपर नियुक्त होनेसे बड़ा माना जाता है । इस वास्ते जो ऊँचे स्थानके कारण अपनेको बड़ा मानता है, वह स्वयं वास्तवमें छोटा ही होता है । परन्तु जो स्वयं बड़ा होता है, वह जहाँ भी रहता है, उसके कारण वह स्थान ही बड़ा हो जाता है ! जैसे, भगवान् यहाँ सारथि बने हैं तो उनके कारण वह सारथिका स्थान (पद) ऊँचा हो गया !

श्लोक—

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

अर्थ—

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक शंख बजाया तथा नकुल और सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाये ।

व्याख्या—

‘अनन्तविजयं राजा.....सुघोषमणिपुष्पकौ’—अर्जुन, भीम और युधिष्ठिर—ये तीनों कुन्तीके पुत्र हैं तथा नकुल और सहदेव—ये दोनों माद्रीके पुत्र हैं, यह विभाग दिखानेके लिये ही यहाँ ‘कुन्तीपुत्र’ विशेषण दिया गया है ।

युधिष्ठिरको ‘राजा’ कहनेका तात्पर्य है कि युधिष्ठिरजी वनवासके पहले अपने आधे राज्य-(इन्द्रप्रस्थ-) के राजा थे और

नियमके अनुसार बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास के बाद वे राजा होने चाहिये थे । 'राजा' विशेषण देकर संजय यह भी संकेत करना चाहते हैं कि आगे चलकर युधिष्ठिर ही सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलके राजा होंगे ।

श्लोक—

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।

सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

अर्थ—

हे राजन् ! श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न एवं राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद और द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा ढम्बी-ढम्बी मुजाओंवाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सभीने सब ओरसे अलग-अलग (अपने-अपने) शंख बजाये ।

व्याख्या—

‘काश्यश्च परमेष्वासः.....शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्’—महारथी शिखण्डी बहुत शूरवीर था । यह पहले जन्ममें स्त्री (काशिराजकी कन्या अम्बा) था और इस जन्ममें भी राजा द्रुपदको पुत्रीरूपसे प्राप्त हुआ था । आगे चलकर यही शिखण्डी स्थूणाकर्ण नामक यक्षसे पुरुषत्व प्राप्त करके जीवनभर पुरुष बना रहा । भीष्मजी इन सब बातोंको जानते थे और शिखण्डीको स्त्री ही समझते थे । इस कारण वे इसपर बाण नहीं चलाते थे । अर्जुनने

युद्धके समय इसीको आगे करके भीष्मजीपर बाण चलाये और उनको रथसे नीचे गिरा दिया ।

अर्जुनका पुत्र अभिमन्यु बहुत शूरावीर था । युद्धके समय इसने द्रोणनिर्मित चक्रव्यूहमें घुसकर अपने पराक्रमसे बहुत-से वीरोंका संहार किया । अन्तमें कौरवसेनाके छः महारथियोने इसको अन्यायपूर्वक घेरकर इसपर शस्त्र-अस्त्र चलाये । दुःशासनपुत्रके द्वारा सिरपर गदाका प्रहार होनेसे इसकी मृत्यु हो गयी ।

संजयने शंखवादनके वर्णनमें कौरवसेनाके शूरावीरोंमेंसे केवल भीष्मजीका ही नाम लिया और पाण्डवसेनाके शूरावीरोंमेंसे भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन, भीम आदि अठारह वीरोंके नाम लिये । इससे सिद्ध होता है कि संजयके मनमें अधर्मके पक्ष (कौरवसेना-) का आदर नहीं है, इस वास्ते वे अधर्मके पक्षका अधिक वर्णन करना उचित नहीं समझते । परन्तु उनके मनमें धर्मके पक्ष-(पाण्डवसेना-) का आदर होनेसे और भगवान् श्रीकृष्ण तथा पाण्डवोंके प्रति आदरभाव होनेसे वे उनके पक्षका ही अधिक वर्णन करना उचित समझते हैं, और उनके पक्षका वर्णन करनेमें ही उनको आनन्द आ रहा है ।

सम्बन्ध—

पाण्डवसेनाके शंखवादनका कौरवसेनापर क्या असर हुआ—इसको आगेके श्लोकमें कहते हैं ।

श्लोक—

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

अर्थ—

पाण्डवसेनाके शंखोके उस भयंकर शब्दने आकाश और पृथ्वीको भी गुंजाते हुए अन्यायपूर्वक राज्य हड़पनेवाले दुर्योधन आदिके हृदय विदीर्ण कर दिये ।

व्याख्या—

‘स घोषो धार्तराष्ट्राणां..... तुमुलो व्यनुनादयन्’— पाण्डवसेनाकी वह शंखध्वनि इतनी विशाल, गहरी, ऊँची और भयंकर हुई कि उससे (ध्वनि-प्रतिध्वनिसे) पृथ्वी और आकाशके बीचका भाग गूँज उठा । उस शब्दसे अन्यायपूर्वक राज्यको हड़पनेवालोंके और उनकी सहायताके लिये (उनके पक्षमें) खड़े हुए राजाओंके हृदय विदीर्ण हो गये । तात्पर्य है कि हृदयको किसी अस्त्र-शस्त्रसे विदीर्ण करनेसे जैसी पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा उनके हृदयमें शखध्वनिसे हो गयी । उस शंखध्वनिने कौरवसेनाके हृदयमें युद्धका जो उत्साह था, वह था, उसको कमजोर बना दिया, जिससे उनके हृदयमें पाण्डवसेनाका भय उत्पन्न हो गया ।

संजय ये बातें धृतराष्ट्रको सुना रहे हैं । धृतराष्ट्रके सामने ही संजयका ‘धृतराष्ट्रके पुत्रो अथवा सम्बन्धियोंके हृदय विदीर्ण कर दिये’ ऐसा कहना सम्यक्तापूर्ण और युक्तिसंगत नहीं मालूम देता । इस वास्ते संजयको ‘धार्तराष्ट्राणाम्’ न कहकर ‘तावकीनानाम्’ (आपके पुत्रो अथवा सम्बन्धियोंके—ऐसा) कहना चाहिये था; क्योंकि ऐसा कहना ही सम्यक्ता है । इस दृष्टिसे यहाँ ‘धार्तराष्ट्राणाम्’ पदका अर्थ ‘जिन्होंने अन्यायपूर्वक राज्यको

धारण किया*,—ऐसा लेना ही युक्तिसंगत तथा सम्यक्पूर्ण माह्वम देता है । अन्यायका पक्ष लेनेसे ही उनके हृदय विदीर्ण हो गये —इस दृष्टिसे भी यह अर्थ लेना ही युक्तिसंगत माह्वम देता है ।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि कौरवोंकी ग्यारह अश्वैहिणी† सेनाके शख आदि बाजे बजे, पर उनके शब्दका पाण्डवसेनापर कुछ भी असर नहीं हुआ और पाण्डवोंकी सात

ॐ 'अन्यायेन धृत राष्ट्रं यैस्ते धृतराष्ट्राः' ऐसा बहुव्रीहि समास करनेके बाद 'धृतराष्ट्रा एव', इस विग्रहमें स्वार्थमें तद्धितका 'अण्' प्रत्यय किया गया, जिससे 'धार्तराष्ट्राः' यह रूप बन गया । यहाँ षष्ठी विभक्ति-के प्रयोगकी आवश्यकता होनेसे षष्ठीमें 'धार्तराष्ट्राणाम्' ऐसा प्रयोग किया गया है ।

† यद्यपि दुर्योधनके पक्षमें ग्यारह अश्वैहिणी सेनाका होना सम्भव ही नहीं था, तथापि जब पाण्डव वनवासमें चले गये तो दुर्योधनने धर्मराज युधिष्ठिरकी राज्य करनेकी नीतिको अपनाया । जैसे युधिष्ठिर-जी अपना कर्तव्य समझकर प्रजाको सुख देनेके लिये धर्म और न्याय-पूर्वक राज्य करते थे, ऐसे ही दुर्योधनने भी अपना राज्य स्थापित करनेके लिये, अपना प्रभाव जमानेके लिये प्रजाके साथ युधिष्ठिरके समान बर्ताव किया । तेरह वर्षतक प्रजाके साथ अच्छा बर्ताव करनेसे युद्धके समय इतनी सेना जुट गयी, जो कि पहले पाण्डवोंके पक्षमें थी और पाण्डवोंको चाहती थी । इस प्रकार नौ अश्वैहिणी सेना तो प्रजाके साथ अच्छे बर्तावके प्रभावसे दुर्योधनके पक्षमें हो गयी और भगवान् श्रीकृष्णकी एक अश्वैहिणी नारायणी सेनाको तथा मद्रराज शल्यकी एक अश्वैहिणी सेनाको दुर्योधनने चालाकीसे अपने पक्षमें कर लिया, जो कि पाण्डवोंके पक्षमें थी । इस वास्ते दुर्योधनके पक्षमें ग्यारह अश्वैहिणी सेना और पाण्डवोंके पक्षमें सात अश्वैहिणी सेना थी ।

अक्षौहिणी सेनाके शंख बजे तो उनके शब्दसे कौरवसेनाके हृदय विदीर्ण हो गये ! इसका समाधान यह है कि जिनके हृदयमें अधर्म, पाप, अन्याय नहीं है अर्थात् जो धर्मपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते हैं, उनका हृदय मजबूत होता है, उनके हृदयमें भय नहीं होता । न्यायका पक्ष होनेसे उनमें उत्साह होता है, शूरवीरता होती है । पाण्डवोंने वनवासके पहले भी न्याय और धर्मपूर्वक राज्य किया था और वनवासके बाद भी नियमके अनुसार कौरवोंसे न्यायपूर्वक राज्य माँगा था । इस वास्ते उनके हृदयमें भय नहीं था, प्रत्युत उत्साह था, शूरवीरता थी । तात्पर्य है कि पाण्डवोंका पक्ष धर्मका था । इस कारण कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके बाजोंके शब्दका पाण्डवसेनापर कोई असर नहीं हुआ । परन्तु जो अधर्म, पाप, अन्याय आदि करते हैं, उनके हृदय स्वाभाविक ही कमजोर होते हैं । उनके हृदयमें निर्भयता, निःशङ्कता नहीं रहती । उनका खुदका किया पाप, अन्याय ही उनके हृदयको निर्वल बना देता है । अधर्म अधर्मको खा जाता है । दुर्योधन आदिने पाण्डवोंको अन्यायपूर्वक मारनेका बहुत प्रयास किया था । उन्होंने छल-कपटसे अन्यायपूर्वक पाण्डवोंका राज्य छीना था और उनको बहुत तंग किया था । इस कारण उनके हृदय कमजोर, निर्वल हो चुके थे । तात्पर्य है कि कौरवोंका पक्ष अधर्मका था । इस वास्ते पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाकी शंखध्वनिसे उनके हृदय विदीर्ण हो गये, उनमें बड़े जोरकी पीड़ा हो गयी ।

इस प्रसङ्गसे साधकको सावधान हो जाना चाहिये कि उसके द्वारा अपने शरीर, वाणी, मनसे कभी भी कोई अन्याय और अधर्मका

आचरण न हों । अन्याय और अधर्मयुक्त आचरणसे मनुष्यका हृदय कमजोर, निर्बल हो जाता है । उसके हृदयमें भय पैदा हो जाता है । लंकाधिपति रावणसे त्रिलोकी डरती थी । वही रावण जब सीताजोका हरण करने जाता है तो भयभीत होकर इधर-उधर देखता है* । इन वास्ते साधक अन्याय-अधर्मयुक्त आचरण कभी न करे ।

सम्बन्ध—

धृतराष्ट्रने पहले श्लोकमें अपने और पाण्डुके पुत्रोंके विषयमें प्रश्न किया था । उसका उत्तर संजयने दूसरे श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक दे दिया । अब संजय भगवद्गीताके प्राकट्यका प्रसङ्ग आगेके श्लोकसे आरम्भ करते हैं ।

श्लोक—

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
दृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्थ—

हे महीपते धृतराष्ट्र ! अब शत्रुओंके चलनेकी तैयारी हो ही रही थी कि उस समय अन्यायपूर्वक राज्यको धारण करनेवाले

* सून ब्रीच दसकंधर देखा । आवा निकट जाती कै वेपा ॥
जाकैं डर सूर असुर डेराहीं । निसि न नीद दिन अन्न न खाहीं ॥
सो दससीस खान की नाहीं । इत उत चित्तइ चला भड़िहाई ॥
इमि कुपंथ पग देत खगेसा । रह न तेज तन बुधि बल लेसा ॥

(मानस ३ । २७ । ४-५)

राजाओं और उनके साथियोंको व्यवस्थितरूपसे सामने खड़े हुए देखकर कपिच्वज पाण्डुपुत्र अर्जुनने अपना गाण्डीव धनुष उठा लिया और अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे ये वचन कहे ।

व्याख्या—

‘अथ’—इस पदका तात्पर्य है कि अब संजय भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप ‘भगवद्गीता’ का आरम्भ करते हैं । जैसे महाभारतमें भीष्मपर्वके तेरहवें अध्यायमें भगवद्गीतापर्व आरम्भ होता है, पर भगवद्गीताका आरम्भ पचीसवें अध्यायसे होता है, ऐसे ही भगवद्गीताके उपदेशका आरम्भ दूमरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे होता है, पर श्रीकृष्णार्जुनसंवादका आरम्भ इस श्लोकमें आये ‘अथ’ पदसे होता है । अठारहवें अध्यायके चौहत्तरवें श्लोकमें आये ‘इति’ पदसे यह संवाद समाप्त होता है । ऐसे ही अठारहवें अध्यायके द्वाव्वठवें श्लोकमें भगवद्गीताका उपदेश समाप्त होता है ।

‘प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते’—यद्यपि पितामह भीष्मने युद्धारम्भकी घोषणाके लिये शंख नहीं बजाया था, प्रत्युत केवल दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये ही उन्होंने शंख बजाया था, तथापि कौरव और पाण्डव-सेनाने उसको युद्धारम्भकी घोषणा ही मान ली और अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र हाथमें उठाकर तैयार हो गये । इस तरह सेनाको शस्त्र उठाये देखकर वीरतामें भरकर अर्जुनने भी अपना गाण्डीव धनुष हाथमें उठा लिया ।

‘व्यवस्थितान् धार्तराष्ट्रान् दृष्ट्वा’—तात्पर्य है कि जब आपके पुत्र दुर्योधनने पाण्डवोंकी सेनाको देखा, तो वह भागा-भागा द्रोणाचार्यके पास गया । परन्तु जब अर्जुनने कौरवोंकी सेनाको देखा, तो उनका हाथ सीधे गाण्डीव धनुषपर ही गया—

‘धनुरुद्यम्य’ । इससे मात्स्य होता है कि दुर्योधनके भीतर भय है और अर्जुनके भीतर निर्भयता है, उत्साह है, वीरता है ।

‘कपिध्वजः’—अर्जुनके लिये ‘कपिध्वज’ विशेषण देकर संजय धृतराष्ट्रको अर्जुनके रथकी ध्वजापर विराजमान हनुमान्जीका स्मरण कराते हैं । जब पाण्डव वनमें रहते थे, तो एक दिन अकस्मात् वायुने एक दिव्य सहस्रदल कमल लाकर द्रौपदीके सामने डाल दिया । उसे देखकर द्रौपदी बहुत प्रसन्न हो गयी और उसने भीमसेनसे कहा कि ‘वीरवर ! आप ऐसे बहुत-से कमल ला दीजिये’ । द्रौपदीकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये भीमसेन वहाँसे चल पडे । जब वे कदलीवनमें पहुँचे तो वहाँ उनकी हनुमान्जीसे भेंट हो गयी । उन दोनोंकी आपसमें कई बातें हुई । अन्तमें हनुमान्जीने भीमसेनसे वरदान माँगनेके लिये आग्रह किया, तो भीमसेनने कहा कि ‘मेरेपर आपकी कृपा बनी रहे ।’ इसपर हनुमान्जीने कहा कि ‘हे वायुपुत्र ! जब तुम बाण और शक्तिके आघातसे व्याकुल शत्रुओंकी सेनामें घुसकर सिंहनाद करोगे, तो उस समय मैं अपनी गर्जनासे उस सिंहनादको और बढ़ा दूँगा । इसके सिवाय अर्जुनके रथकी ध्वजापर बैठकर मैं ऐसी भयंकर गर्जना करूँगा, जो शत्रुओंके प्राणोंको हरनेवाली होगी, जिससे तुम लोग अपने शत्रुओंको सुगमतासे मार सकोगे* ।’ इस प्रकार जिनके रथकी ध्वजापर हनुमान्जी विराजमान हैं, उनकी विजय निश्चित है ।

* तदाहं बृंहयिष्यामि स्वरवेण रवं तव ।

विलयस्य ध्वजस्थश्च नादान् मोक्षयामि दारुणान् ॥

शत्रूणां ये प्राणहराः सुखं येन हनिष्यथ ।

(महाभारत, वन० १५१। १७-१८) .

‘पाण्डवः’—धृतराष्ट्रने पहले प्रश्नके रूपमें ‘पाण्डवाः’ पदका प्रयोग किया था । अतः धृतराष्ट्रको बार-बार पाण्डवोंकी याद दिलानेके लिये संजय (१ । १४ में और यहाँ) ‘पाण्डवः’ शब्दका प्रयोग करते हैं ।

‘दृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महींपते’—पाण्डवसेनाको देखकर दुर्योधन तो कौरवोंके गुरु द्रोणाचार्यके पास जाकर चालाकीसे भरे हुए वचन बोलता है; परन्तु अर्जुन कौरवसेनाको देखकर जो जगद्गुरु हैं, अन्तर्यामी हैं, मन-बुद्धि आदिके प्रेरक हैं—ऐसे भगवान् श्रीकृष्णसे (आगे कहे जानेवाले) शूरावीरता, उत्साह और अपने कर्तव्यसे भरे हुए वचन बोलते हैं ।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।

कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्नरणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

अर्थ—

हे अच्युत ! दोनो सेनाओंके मध्यमें मेरे रथको आप तब तक खड़ा कीजिये, जबतक मैं युद्धक्षेत्रमें खड़े हुए इन युद्धकी इच्छावालोंको देख लूँ कि इस युद्धरूप उद्योगमें मेरेको किनके साथ युद्ध करना योग्य है ।

व्याख्या—

‘अच्युत’—भगवान् श्रीकृष्णके लिये यह सम्बोधन देनेका तात्पर्य यह है कि आप किसी भी अवस्था, परिस्थिति आदिमें

अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होते । आप सदा एकरस रहते हैं ।

गीतामें यह 'अच्युत' सम्बोधन तीन बार आया है । एक तो इस श्लोकमें आया है । यहाँ 'अच्युत' सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि आप कभी च्युत नहीं होते, इस वास्ते आप दोनों सेनाओके बीचमें मेरा रथ खड़ा करेंगे तो यह रथ भी कभी च्युत नहीं होगा अर्थात् इस रथको कोई इधर-उधर नहीं कर सकेगा ।

बीचमें (११ । ४२ में) 'अच्युत' सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि पहले मैं युद्धमें उत्साहपूर्वक प्रवृत्त हुआ, फिर शोक-मोहके कारण व्याकुल होकर आपकी शरणमें गया, आपके साथ बात-चीत करते-करते आपके विश्वरूपको देखनेकी इच्छा हुई तो आपने अपना विश्वरूप दिखा दिया और मैं उसको देखकर भयभीत हो गया—इस तरह मेरी तो कई अवस्थाएँ हुई, पर आपकी एक ही अवस्था रही ।

अन्तमें (१८ । ७३ में) 'अच्युत' सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि जब भगवान् ने अर्जुनसे पूछा कि तेरा मोह नष्ट हुआ कि नहीं ? तो उत्तरमें अर्जुनने कहा कि 'हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैं अपनी स्वाभाविक स्थितिमें स्थिर हो गया हूँ, अर्थात् कर्मयोगकी दृष्टिसे निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-पालनमें स्थित होनेसे, ज्ञानयोगकी दृष्टिसे स्वरूपमें स्थित होनेसे और भक्तियोगकी दृष्टिसे 'आप ही मेरे हैं और मैं आपका ही हूँ' इस

वास्तविक सम्बन्धमें स्थित होनेसे मैं भी कषा व्युत्पन्न नहीं होनेवाला हो गया हूँ !

तात्पर्य यह हुआ कि अर्जुनकी तो आदि, मध्य और अन्तमें तीन प्रकारकी अवस्थाएँ हुईं, पर भगवान्की आदि, मध्य और अन्तमें एक ही अवस्था रही अर्थात् वे एकरस हो बने रहें ।

‘सेनयोरुभयोर्मध्ये मे रथं स्थापय’—दोनों सेनाएँ जहाँ युद्ध करनेके लिये एक-एकके सामने खड़ी थीं, वहाँ उन दोनों सेनाओंमें इतनी दूरी थी, अन्तर था कि एक सेना दूसरी सेनापर बाण आदि मार सके । उन दोनों सेनाओंका मध्य भाग दो तरफसे मध्य था—
(१) सेनाएँ जितनी चौड़ी खड़ी थीं, उस चौड़ाईका मध्य भाग और (२) दोनों सेनाओंका मध्य भाग, जहाँसे कौरवसेना जितनी दूरीपर खड़ी थी, उतनी ही दूरीपर पाण्डवसेना खड़ी थी । ऐसे मध्य भागमें रथ खड़ा करनेके लिये अर्जुन भगवान्से कहते हैं ।

‘सेनयोरुभयोर्मध्ये’ पद गीतामें तीन बार आया है—यहाँ (१ । २१में), इसी अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें और दूसरे अध्यायके दसवें श्लोकमें । तीन बार आनेका तात्पर्य है कि पहले अर्जुन शूरवीरताके साथ अपने रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेकी आज्ञा देते हैं (१ । २१), भगवान् दोनों सेनाओंके बीचमें रथको खड़ा करके कुरुवंशियोंको देखनेके लिये कहते हैं (१ । २४), और दोनों सेनाओंके बीचमें ही विषादमग्न अर्जुनको गीताका उपदेश देते हैं । इस प्रकार पहले अर्जुनमें शूरवीरता थी, बीचमें कुटुम्बियोंको देखनेसे मोहके कारण युद्धसे उपरति हो गयी और अन्तमें

अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होते । आप सदा एकरस रहते हैं ।

गीतामे यह 'अच्युत' सम्बोधन तीन बार आया है । एक तो इस श्लोकमें आया है । यहाँ 'अच्युत' सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि आप कभी च्युत नहीं होते, इस वास्ते आप दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा करेंगे तो यह रथ भी कभी च्युत नहीं होगा अर्थात् इस रथको कोई इधर-उधर नहीं कर सकेगा ।

बीचमें (११ । ४२ में) 'अच्युत' सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि पहले मैं युद्धमें उत्साहपूर्वक प्रवृत्त हुआ, फिर शोक-मोहके कारण व्याकुल होकर आपकी शरणमें गया, आपके साथ बात-चीत करते-करते आपके विश्वरूपको देखनेकी इच्छा हुई तो आपने अपना विश्वरूप दिखा दिया और मैं उसको देखकर भयभीत हो गया—इस तरह मेरी तो कई अवस्थाएँ हुई, पर आपकी एक ही अवस्था रही ।

अन्तमें (१८ । ७३ में) 'अच्युत' सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि जब भगवान् ने अर्जुनसे पूछा कि तेरा मोह नष्ट हुआ कि नहीं ? तो उत्तरमें अर्जुनने कहा कि 'हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैं अपनी स्वाभाविक स्थितिमें स्थिर हो गया हूँ, अर्थात् कर्मयोगकी दृष्टिसे निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-पालनमें स्थित होनेसे, ज्ञानयोगकी दृष्टिसे स्वरूपमें स्थित होनेसे और भक्तियोगकी दृष्टिसे 'आप ही मेरे हैं और मैं आपका ही हूँ' इस

वास्तविक सम्बन्धमें स्थित होनेसे मैं भी कपा ब्युन नहीं होनेवाला हो गया हूँ !

तात्पर्य यह हुआ कि अर्जुनकी तो आदि, मध्य और अन्तमें तीन प्रकारकी अवस्थाएँ हुई, पर भगवान्की आदि, मध्य और अन्तमें एक ही अवस्था रही अर्थात् वे एकरस हो बने रहें ।

‘सेनयोरुभयोर्मध्ये मे रथं स्थापय’—दोनों सेनाएँ जहाँ युद्ध करनेके लिये एक-एकके सामने खड़ी थीं, वहाँ उन दोनों सेनाओंमें इतनी दूरी थी, अन्तर था कि एक सेना दूसरी सेनापर बाण आदि मार सके । उन दोनों सेनाओका मध्य भाग दो तरफसे मध्य था—
(१) सेनाएँ जितनी चौड़ी खड़ी थीं, उस चौड़ाईका मध्य भाग और (२) दोनों सेनाओका मध्य भाग, जहाँसे कौरवसेना जितनी दूरीपर खड़ी थी, उतनी ही दूरीपर पाण्डवसेना खड़ी थी । ऐसे मध्य भागमें रथ खड़ा करनेके लिये अर्जुन भगवान्से कहते हैं ।

‘सेनयोरुभयोर्मध्ये’ पद गीतामें तीन बार आया है—यहाँ (१ । २१में), इसी अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें और दूसरे अध्याय-के दसवें श्लोकमें । तीन बार आनेका तात्पर्य है कि पहले अर्जुन शूरवीरताके साथ अपने रथको दोनों सेनाओके बीचमें खड़ा करनेकी आज्ञा देते हैं (१ । २१), भगवान् दोनों सेनाओके बीचमें रथको खड़ा करके कुरुवंशियोंको देखनेके लिये कहते हैं (१ । २४), और दोनों सेनाओंके बीचमें ही विषादमग्न अर्जुनको गीताका उपदेश देते हैं । इस प्रकार पहले अर्जुनमें शूरवीरता थी, बीचमें कुटुम्बियोंको देखनेसे मोहके कारण युद्धसे उपरति हो गयी और अन्तमें

उनको भगवान् से गीताका महान् उपदेश प्राप्त हुआ, जिससे उनका मोह दूर हो गया। इससे यह भाव निकलता है कि मनुष्य जहाँ-कहाँ और जिस-किसी परिस्थितिमें स्थित है, वहाँ ही रहकर वह प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करे, तो वह वहाँ ही रहकर निष्काम हो जायगा और वहाँ ही उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। कारण कि परमात्मा सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें एकरूपसे रहते हैं।

‘यावदेतान्निरीक्षेऽहं ... रणसमुद्यमे’—दोनों सेनाओं-के बीचमें रथ कबतक खड़ा करें ? इसपर अर्जुन कहते हैं कि युद्धकी इच्छाको लेकर कौरवसेनामें आये हुए सेनासहित जितने भी राजा लोग खड़े हैं, उन सबको जबनक मैं देख न दूँ, तबतक आप रथको वहीं खड़ा रखिये। इस युद्धके उद्योगमें मेरेको किन-किनके साथ युद्ध करना है ? उनमें कौन मेरे समान बलवाले हैं ? कौन मेरेसे कम बलवाले हैं और कौन मेरेसे अधिक बलवाले हैं ? उन सबको मैं जरा देख दूँ।

यहाँ ‘योद्धुकामान्’ पदसे अर्जुन कह रहे हैं कि हमने तो सन्धिकी बात ही सोची थी, पर उन्होंने सन्धिकी बात स्वीकार नहीं की; क्योंकि उनके मनमें युद्ध करनेकी ज्यादा इच्छा है। अतः उनको मैं देखूँ कि कितने बलको लेकर ये युद्ध करनेकी इच्छा रखते हैं।

श्लोक—

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

अर्थ—

दुष्टबुद्धि दुर्योधनका युद्धमें प्रिय करनेकी इच्छावाले जो ये राजाजोग इस सेनामें आये हुए हैं, युद्ध करनेको उतावले हुए इन सबको मैं देख लूँ ।

व्याख्या—

‘धार्तराष्ट्रस्य* दुर्वुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः’—यहाँ दुर्योधन-को दुष्टबुद्धि कहकर अर्जुन यह बताना चाहते हैं कि इस दुर्योधनने हमारा नाश करनेके लिये आजतक कई तरहके षडयन्त्र रचे हैं । हमको अपमानित करनेके लिये कई तरहके उद्योग किये हैं । नियम-के अनुसार और न्यायपूर्वक हम आधे राज्यके अधिकारी हैं, पर उसको भी यह हड़पना चाहता है, देना नहीं चाहता । ऐसी तो इसकी दुष्टबुद्धि है और यहाँ आये हुए राजालोग युद्धमें इसका प्रिय करना चाहते हैं । मित्रोका यह कर्तव्य होता है कि वे ऐसा काम करें, ऐसी बात बतायें, जिससे अपने मित्रका लोक-परलोकमें हित हो । परन्तु ये राजालोग दुर्योधनकी दुष्टबुद्धिको शुद्ध न करके उल्टे उसको बढ़ाना चाहते हैं और दुर्योधनसे युद्ध कराकर, युद्धमें उसकी सशयता करके उसका पतन हो कराना चाहते हैं । तात्पर्य है कि दुर्योधनका हित किस बातमें है, उसको राज्य भी किस बातसे मिलेगा और उसका परलोक भी किस बातसे सुधरेगा—इन बातोंका

* ‘धार्तराष्ट्र’ पदके दो अर्थ होते हैं—(१) धृतराष्ट्रके पुत्र अथवा सम्बन्धी (२) अन्यायपूर्वक राष्ट्र (राज्य) को धारण करनेवाले यहाँ धृतराष्ट्रके पुत्र—दुर्योधनके लिये ही ‘धार्तराष्ट्रस्य’ पद आया है ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्—दोनों सेनाओं के बीचमें जहाँ खाली जगह थी, वहाँ भगवान् ने अर्जुनके श्रेष्ठ रथको खड़ा कर दिया ।

‘भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महोक्षिताम्’—उस रथको भी भगवान् ने त्रिलक्षण चतुराईसे ऐसी जगह खड़ा किया, जहाँसे अर्जुनको कौटुम्बिक सम्बन्धवाले पितामह भीष्म, विद्याके सम्बन्धवाले आचार्य द्राग और कौरवसेनाके मुख्य-मुख्य राजाओं सामने दिखायी दे सकें ।

‘उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरुनिति’—‘कुरु’ पदमें धृतराष्ट्रके पुत्र और पाण्डुके पुत्र—ये दोनों आ जाते हैं; क्योंकि ये दोनों ही कुरुवंशी हैं । युद्धके लिये एकत्र हुए इन कुरुवंशियोंको देखो—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि इन कुरुवंशियोंको देखकर अर्जुनके भीतर यह भाव पैदा हो जाय कि हम सब एक ही तो हैं ! इस पक्षके हो, चाहे उस पक्षके हो, भले हो, चाहे बुरे हो; सदाचारी हो, चाहे दुराचारी हो, पर हैं सब अपने ही कुटुम्बी । इस कारण अर्जुनमें छिपा हुआ कौटुम्बिक ममतायुक्त मोह जाग्रत् हो जाय और मोह जाग्रत् होनेसे अर्जुन जिज्ञासु बन जाय, जिससे अर्जुनको निमित्त बनाकर भावी कलियुगी जीवोंके लिये गीताका महान् उपदेश दिया जा सके और जिससे कलियुगी जीवोंका कल्याण हो जाय । इसी भावसे भगवान् ने यहाँ ‘पश्यैतान् समवेतान् कुरुन्’ कहा है । नहीं तो भगवान् ‘पश्यैतान् धार्तराष्ट्रान् समानिति’—ऐसा भी तो कह सकते थे, परन्तु ऐसा कहनेसे अर्जुनके भीतर युद्ध करनेका जोश आता

श्लोक २४-२५]

जिससे गीताके प्राकट्यका अवसर ही नहीं आता । और अर्जुनके भीतर प्रसुप्त कौटुम्बिक मोह भी दूर नहीं होता, जिसको दूर करना भगवान् अपनी जिम्मेवारी मानते हैं । जैसे कोई फोड़ा हो जाता है तो वैद्यलोग पहले उसको पकानेकी चेष्टा करते हैं, और जब वह पक जाता है तो उसको चीरा-देकर साफ कर देते हैं । ऐसे ही भगवान् भक्तके भीतर छिपे हुए मोहको जाग्रत् करके मिटाते हैं । यहाँ भी भगवान् अर्जुनके भीतर छिपे हुए मोहको 'कुरुन् पश्य' कहकर जाग्रत् कर रहे हैं, जिसको आगे उपदेश देकर नष्ट कर देंगे ।

अर्जुनने कहा था कि 'इनको मैं देख लूँ'—'निरीक्षे' (१ । २२), 'अवेक्षे' (१ । २३); अतः यहाँ भगवान्को 'पश्य' (तू देख ले)—ऐसा कहनेकी जरूरत ही नहीं थी । भगवान्को तो देवलय खड़ा कर देना चाहिये था । परन्तु भगवान्ने रथ खड़ा करके अर्जुनके मोहको जाग्रत् करनेके लिये ही 'कुरुन् पश्य' (इन कुरुवंशियोको देख)—ऐसा कहा है ।

कौटुम्बिक स्नेह और भगवत्प्रेम—इन दोनोंमें बहुत अन्तर है । कुटुम्बमें ममतायुक्त स्नेह हो जाता है तो कुटुम्बके अवगुणोंकी तरफ ख्याल जाता ही नहीं; किन्तु 'ये मेरे हैं'—ऐसा भाव रहता है । ऐसे ही भक्तका भगवान्में प्रेम (अपनापन) हो जाता है तो भक्तके अवगुणोंकी तरफ भगवान्का ख्याल जाता ही नहीं; किन्तु 'यह मेरा ही है'—ऐसा ही भाव रहता है । कौटुम्बिक स्नेहमें मूढता (मोह) की मुख्यता रहती है और भगवत्प्रेममें आत्मीयताकी

व्याख्या—

‘तान् सर्वान्वन्धून्वस्थितान् समीक्ष्य’—पूर्वश्लोकके अनुसार अर्जुन जिनको देख चुके हैं, उनके अतिरिक्त अर्जुनने बाह्यीक आदि प्रपितामह; धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सुरथ आदि साले; जयद्रथ आदि वहनोई तथा अन्य कई सम्बन्धियोंको दोनों सेनाओंमें स्थित देखा।

‘स कौन्तेयः कृपया परयाविष्टः’—इन पदोंमें ‘स कौन्तेयः’ कहनेका तात्पर्य है कि माता कुन्तीने जिनको युद्ध करनेके लिये सन्देश भेजा था और जिन्होंने शूरवीरतामें आकर ‘मेरे साथ दो हाथ करनेवाले कौन हैं ?’—ऐसे मुख्य-मुख्य योद्धाओंको देखनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णको दोनो सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करनेकी आज्ञा दी थी, वे ही कुन्तीनन्दन अर्जुन अत्यन्त कायरतासे युक्त हो जाते हैं।

दोनो ही सेनाओंमें जन्मके और विद्याके सम्बन्धी-ही-सम्बन्धी देखनेसे अर्जुनके मनमें यह विचार आया कि युद्धमें चाहे इस पक्षके मरें, चाहे उस पक्षके मरें, नुकसान तो हमारा ही होगा, कुल तो हमारा ही नष्ट होगा, सम्बन्धी तो हमारे ही मारे जायेंगे। ऐसा विचार आनेसे अर्जुनकी युद्धकी इच्छा तो मिट गयी और भीतरमें कायरता आ गयी। इस कायरताको भगवान् ने आगे (२।२३ में) ‘कश्मलम्’ तथा ‘हृदयदौर्बल्यम्’ कहा है और अर्जुनने (२।७ में) ‘कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः’ कहकर इसको स्वीकार भी किया है।

अर्जुन कायरतासे आविष्ट हुआ है—‘कृपयाविष्टः’। इससे सिद्ध होता है कि यह कायरता अभी आयी है। यह आगन्तुक दोष

है । आगन्तुक होनेसे यह ठहरेगी नहीं । परन्तु शूरवीरता अर्जुनमें स्वाभाविक है, वह तो रहेगी ही ।

अत्यन्त कायरता क्या है ? बिना किसी कारण निन्दा, तिरस्कार, अपमान करनेवाले, दुःख देनेवाले, वैरभाव रखनेवाले, नाश करनेकी चेष्टा करनेवाले दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि आदिको अपने सामने युद्ध करनेके लिये देखकर भी उनको मारनेका विचार न होना, उनका नाश करनेका उद्योग न करना—यह जत्यन्त कायरतारूप दोष है । तात्पर्य है कि अर्जुनको कायरता-रूप दोषने ऐसा घेर लिया है कि जो अर्जुन आदिका अनिष्ट चाहनेवाले और अवसर-अवसरपर अनिष्ट करनेका उद्योग करनेवाले हैं, उन अधर्मियों—पापियोंपर भी अर्जुनको करुणा आ रही है (गीता १ । ३५, ४६) और वे क्षत्रियके कर्तव्यरूप अपने धर्मसे व्युत्पन्न हो रहे हैं ।

‘विषीदन्निदमब्रवीत्’—युद्धके परिणाममें कुटुम्बकी, कुलकी, देशकी क्या दशा होगी—इसको लेकर अर्जुन बहुत दुःखी हो रहे हैं और उस अवस्थामें वे यह वचन बोलते हैं, जिसका वर्णन आगेके श्लोकोमें किया गया है ।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं श्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

अर्थ—

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! युद्धकी इच्छावाले इस कुटुम्ब-समुदायको समने उपस्थित देखकर मेरे शरीरके अङ्ग शिथिल हो रहे हैं और मुख सूख रहा है तथा मेरे शरीरमें कँपकँपी आ रही है एवं रोगटे खड़े हो रहे हैं । हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी जल रही है । मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है और मैं खड़ा रहनेके लिये भी असमर्थ हो रहा हूँ ।

व्याख्या—

‘दृष्ट्वेयं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्’—अर्जुनको ‘कृष्ण’ नाम बहुत प्यारा था । यह ‘कृष्ण’ सम्बोधन गीतामें नौ बार आया है । भगवान् श्रीकृष्णके लिये दूसरा कोई सम्बोधन इतनी बार नहीं आया है । ऐसे ही भगवान्को अर्जुनका ‘पार्थ’ नाम बहुत प्यारा था । इस वास्ते भगवान् और अर्जुन आपसकी बोलचालमें ये नाम लिया करते थे और यह बात लोगोमें भी प्रसिद्ध थी । इसी दृष्टिसे संजयने गीताके अन्तमें ‘कृष्ण’ और ‘पार्थ’ नामका उल्लेख किया है—‘यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः’ (१८ । ७८) ।

धृतराष्ट्रने पहले ‘समवेता युयुत्सवः’ कहा था और यहाँ अर्जुनने भी ‘युयुत्सुं समुपस्थितम्’ कहा है; परन्तु दोनोंकी दृष्टियोंमें बड़ा अन्तर है । धृतराष्ट्रकी दृष्टिमें तो दुर्योधन आदि मेरे पुत्र हैं और युधिष्ठिर आदि पाण्डुके पुत्र हैं—ऐसा भेद है, इस वास्ते धृतराष्ट्रने वहाँ ‘मामकाः’ और ‘गण्डकाः’ कहा है । परन्तु

अर्जुनकी दृष्टिमें यह भेद नहीं है, इस वास्ते अर्जुनने यहाँ 'स्वजनम्' कहा है, जिसमें दोनों पक्षके लोग आ जाते हैं । तात्पर्य है कि धृतराष्ट्रको तो युद्धमे अपने पुत्रोंके मरनेकी आशंकासे भय है, शोक है; परन्तु अर्जुनको दोनो ओरके कुटुम्बियोंके मरनेकी आशंकासे शोक हो रहा है कि किसी भी तरफका कोई भी मरे, पर वह है तो हमारा ही कुटुम्बी ।

अबतक 'दृष्ट्वा' पद तीन बार आया है — 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' (१ । २) 'व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्' (१ । २०) और यहाँ 'दृष्ट्वेमं स्वजनम्' (१ । २८) । इन तीनोंका तात्पर्य है कि दुर्योधनका देखना तो एक तरहका ही रहा अर्थात् दुर्योधनका तो युद्धका ही एक भाव रहा; परन्तु अर्जुनका देखना दो तरहका हुआ । पहले तो अर्जुन धृतराष्ट्रके पुत्रोंको देखकर वीरतामें आकर युद्धके लिये धनुष उठाकर खड़े हो जाते हैं और अब स्वजनोंको देखकर कायरतासे आविष्ट हो रहे हैं, युद्धसे उपरत हो रहे हैं और उनके हाथसे धनुष गिर रहा है ।

'सीदन्ति मम गात्राणि भ्रमतीव च मे मनः'— अर्जुनके मनमें युद्धके भावी परिणामको लेकर चिन्ता हो रही है, दुःख हो रहा है । उस चिन्ता, दुःखका असर अर्जुनके सारे शरीरपर पड़ रहा है । उसी असरको अर्जुन स्पष्ट शब्दोंमें कह रहे हैं कि मेरे शरीरका हाथ, पैर, मुख आदि एक-एक अङ्ग (अवयव) शिथिल हो रहा है ! मुख सूखता जा रहा है, जिससे बोलना भी कठिन हो रहा है ! सारा शरीर थर-थर काँप रहा है !

शरीरके सभी रोगटे खड़े हो रहे हैं अर्थात् सारा शरीर रोमाञ्चित हो रहा है ! जिस गाण्डीव धनुषकी प्रत्यश्चाकी टङ्कारसे शत्रु भयभीत हो जाते थे, वही गाण्डीव धनुष आज मेरे हाथसे गिर रहा है ! त्वचामे—सारे शरीरमें जलन हो रही है* ! मन भ्रमित हो रहा है अर्थात् मेरेको क्या करना चाहिये—यह भी नहीं सूझ रहा है ! यहाँ युद्धभूमिमें रथपर खड़े रहनेमें भी मैं असमर्थ हो रहा हूँ ! ऐसा लगता है कि मैं गिर पड़ूँगा ! अर्थात् ऐसे अनर्थकारक युद्धमें खड़ा रहना भी एक पाप माहूम दे रहा है !

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें अपने शरीरके शोकजनित आठ चिह्नोंका वर्णन करके अब अर्जुन आगेके श्लोकमें भावी परिणामके सूचक शकुनोंकी दृष्टिसे युद्ध करनेका अनौचित्य बताते हैं ।

श्लोक—

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

अर्थ—

हे केशव ! मैं लक्ष्मणों—शकुनोंको भी विपरीत देख रहा हूँ और युद्धमें स्वजनोंको मारकर श्रेय भी नहीं देख रहा हूँ ।

* चिता चिन्तासमा ह्युक्ता विन्दुमात्रं विशेषतः ।

सजीवं दहते चिन्ता निर्जीवं दहते चिता ॥

व्याख्या—

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव—हे केशव ! मैं शकुनोको* भी विपरीत ही देख रहा हूँ । तात्पर्य है कि किसी भी कार्यके आरम्भमें मनमें जितना अधिक उत्साह (प्रसन्नता) होता है, वह उत्साह उस कार्यको उतना ही सिद्ध करनेवाला होता है । परन्तु अगर कार्यके आरम्भमें ही उत्साह भंग हो जाता है, मनमें संकल्प-विकल्प ठीक नहीं होते, तो उस कार्यका परिणाम अच्छा नहीं होता । इसी भावसे अर्जुन कह रहे हैं कि अभी मेरे शरीरमें अवयवोंका शिथिल होना, कम्प होना, मुखका सूखना आदि जो लक्षण हो रहे हैं, ये व्यक्तिगत शकुन भी ठीक नहीं हो रहे हैं ।† इसके सिवाय आकाशसे उल्कपात होना, असमयमें ग्रहण लगना , भूकम्प होना, पशु-पक्षियोंका भयंकर बोली बोलना, चन्द्रमा-के काले चिह्नका मिट-सा जाना, बादलोंसे रक्तकी वर्षा होना आदि जो पहले शकुन हुए हैं, वे भी ठीक नहीं हुए हैं । इस तरह अभीके और पहलेके—इन दोनों शकुनोंकी ओर देखता हूँ, तो मेरेको ये

* जितने भी शकुन होते हैं, वे किसी अच्छी या बुरी घटनाके होनेमें निमित्त नहीं होते अर्थात् वे किसी घटनाके निर्माता नहीं होते, प्रत्युत भावी घटनाकी सूचना देनेवाले होते हैं ।

शकुन बतानेवाले प्राणी भी वास्तवमें शकुनोंको बताते नहीं हैं; किन्तु उनकी स्वाभाविक चेष्टासे शकुन सूचित होते हैं ।

† यद्यपि अर्जुन शरीरमें होनेवाले लक्षणोंको भी शकुन मान रहे हैं, पर वास्तवमें ये शकुन नहीं हैं । ये तो शोकके कारण इन्द्रियाँ, शरीर, मन, बुद्धिमें होनेवाले विकार हैं । शोक अपनी बेसमझीसे होता है ।

दोनों ही शकुन विपरीत अर्थात् भावी अनिष्टके सूचक दीख रहे हैं ।

‘न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे’—युद्धमें अपने कुटुम्बियोंको मारनेसे हमारा कल्याण हो जाय, ऐसी बात भी नहीं है । इस युद्धके परिणाममें हमारे लिये लोभ और परलोक—दोनों ही हितकारक नहीं दीखते । कारण कि जो अपने कुलका नाश करता है, वह अत्यन्त पापी होता है । तात्पर्य है कि कुलका नाश करनेसे हमारा कल्याण नहीं होगा, प्रयुक्त हमें पाप ही लगेगा ।

इस श्लोकमें ‘निमित्तानि पश्यामि’ और ‘श्रेयः अनुपश्यामि’* —इन दोनों वाक्योंसे अर्जुन यह कहना चाहते हैं कि मैं शकुनोको देखूँ अथवा स्वयं विचार करूँ, दोनों ही रीतिसे युद्धका आरम्भ और उसका परिणाम हमारे लिये और संसारमात्रके लिये हितकारक नहीं दीखता ।

सम्बन्ध—

जिसमें न तो शुभ शकुन दीखते हैं और न श्रेय ही दीखता है, ऐसी अनिष्टकारक विजयको प्राप्त करनेकी अनिच्छा अर्जुन आगेके श्लोकमें प्रकट करते हैं ।

श्लोक—

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

* यहाँ ‘पश्यामि’ क्रिया भूत और वर्तमानके शकुनोंके विषयमें आयी है और ‘अनुपश्यामि’ क्रिया भविष्यके परिणामके विषयमें आयी है ।

अर्थ—

हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ, न राज्य चाहता हूँ और न सुखोको ही चाहता हूँ । हे गोविन्द ! हमलोगोंको राज्यसे क्या लाभ ? भोगोसे क्या लाभ ? अथवा जीनेसे भी क्या लाभ ?

व्याख्या—

‘न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च’—मान लो कि युद्धमें हमारीविजय हो जाय, तो विजय होनेसे पूरी पृथ्वीपर हमारा राज्य हो जायगा, अधिकार हो जायगा । पृथ्वीका राज्य मिलनेसे हमको अनेक प्रकारके सुख मिलेंगे । परन्तु इनमेंसे मैं कुछ भी नहीं चाहता अर्थात् मेरे मनमें विजय, राज्य और सुखोंकी कामना नहीं है ।

‘किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा’—जब हमारे मनमें किसी प्रकारकी (विजय, राज्य और सुखकी) कामना ही नहीं है, तो फिर कितना ही बड़ा राज्य क्यों न मिल जाय, हमें उससे क्या लाभ ? कितने ही सुन्दर-सुन्दर भोग मिल जायँ, तो उनसे हमें क्या लाभ ? अथवा कुटुम्बियोंको मारकर हम राज्यके सुख भोगते हुए कितने ही जीते रहें, पर उससे भी हमें क्या लाभ ? तात्पर्य है कि ये विजय, राज्य और भोग तभी सुख दे सकते हैं, जब भीतरमें इनकी कामना हो, प्रियता हो, महत्त्व हो । परन्तु हमारे भीतर तो इनकी कामना ही नहीं है । अतः ये हमें क्या सुख दे सकते हैं ? इन कुटुम्बियोंको मारकर हमारी जीनेकी भी इच्छा नहीं है; क्योंकि जब दोनों तरफके कुटुम्बी मर जायँगे,

तो इस राज्य और भोगसे क्या लाभ ? ये किसके काम आयेंगे ? राज्य, भोग आदि तो कुटुम्बके लिये होते हैं, पर जब ये ही मर जायेंगे तो इनको कौन भोगेगा ? भोगनेकी बात तो दूर रही, उल्टे हमें और अधिक चिन्ता, शोक होंगे !

अर्जुनके इस कथनसे यह मालूम होता है कि जब कोई बुराई बुराईके रूपमें आती है तो उससे बचना बड़ा सुगम होता है; परन्तु जब वह बुराई भलाईके रूपमें आती है तो उससे बचना बड़ा कठिन हो जाता है । यहाँ अर्जुनके मनमें युद्धरूपकर्तव्य-कर्म करना बुराई है और युद्ध न करना भलाई है अर्थात् अर्जुनके मनमें हिंसा-त्यागरूप भलाईके वेशमें कर्तव्य-त्यागरूप बुराई आयी है । उनको कर्तव्य-त्यागरूप बुराई बुराईके रूपमें नहीं दीख रही है; क्योंकि उनके भीतर शरीरोंको लेकर मोह है । इस वास्ते वे युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको अनुचित बता रहे हैं ।

सम्बन्ध—

अर्जुन विजय आदि क्यों नहीं चाहते, इसका हेतु आगेके श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

अर्थ—

जिनके लिये हमारी राज्य, भोग और सुखकी इच्छा है, वे ही ये सब अपने प्राणोंकी और धनकी आशाका त्याग करके युद्धमें खड़े हैं ।

व्याख्या—

‘येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च’—आचार्यों, पिताओ, पितामहो, पुत्रो आदिको सुख-आराम पहुँचे, इनको सेवा हो जाय, ये प्रसन्न रहे, राजी रहें, इसके लिये ही हम युद्ध करके राज्य लेना चाहते हैं, भोग-सामग्री इकट्ठा करना चाहते हैं। हम जो कुछ राज्य, सुख, भोग आदि चाहते हैं, उनको अपने व्यक्तिगत सुखके लिये नहीं चाहते, प्रत्युत इन कुटुम्बियों, प्रेमियों, मित्रों आदिके लिये ही चाहते हैं।

‘त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च’—पर वे हो ये सब-के-सब अपने प्राणोकी और धनकी आशाको छोड़कर युद्ध करनेके लिये हमारे सामने इस रणभूमिमें खड़े हैं। तात्पर्य है कि उन्होंने ऐसा विचार कर लिया है कि हमें न प्राणोका मोह है और न धनकी तृष्णा है; हम वेशक मर जायँ, पर युद्धसे नहीं हटेंगे। जब ये सब मर ही जायँगे, तो फिर हमें राज्य किसके लिये चाहिये ? सुख किसके लिये चाहिये ? धन किसके लिये चाहिये ? अर्थात् इन सबकी इच्छा हम किसके लिये करें ?

‘प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च’ का तात्पर्य है कि वे प्राणोकी और धनकी आशाका त्याग करके खड़े हैं अर्थात् हम जीवित रहेंगे और हमें धन मिलेगा—इस इच्छाको छोड़कर वे खड़े हैं। अगर उनमें प्राणोकी और धनकी इच्छा होती, तो वे मरनेके लिये युद्धमें क्यों खड़े होते ! अतः यहाँ प्राण और धनका त्याग करनेका तात्पर्य उनकी आशाका त्याग करनेमें ही है।

सम्बन्ध—

जिनके लिये हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं, वे लोग कौन हैं—इसका वर्णन अर्जुन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं ।

श्लोक—

आचार्याः* पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
 मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥
 एतान्न हन्तुमिच्छामि ह्यनतोऽपि मधुसूदन ।
 अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

अर्थ—

आचार्य, पिता, पुत्र और उनी प्रकार पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले तथा अन्य जितने भी सम्बन्धी हैं, मेरेपर प्रहार करनेपर भी इनको मैं मारना नहीं चाहता और हे मधुसूदन ! मेरेको त्रिलोकीका राज्य मिलता हो तो भी इनको मैं मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वीके लिये तो मैं इनको मारूँ ही क्या ?

*छब्बीसवें श्लोकमें अर्जुनने 'पितृनथ पितामहान्.....' कहकर सबसे पहले पिताओं और पितामहोंका नाम लिया है और यहाँ 'आचार्याः पितरः.....' कहकर सबसे पहले आचार्योंका नाम लिया है । इसका तात्पर्य है कि वहाँ तो कौटुम्बिक स्नेहकी मुख्यता है, इस वास्ते वहाँ पिताका नाम सबसे पहले लिया है; और यहाँ न मारनेका विषय चल रहा है, इस वास्ते यहाँ सबसे पहले आदरणीय पूज्य आचार्यों—गुरुजनोंका नाम लिया है, जो कि जीवके परम हितैषी होते हैं ।

व्याख्या—

[भगवान् आगे सोळहवें अध्यायमें कहेंगे कि काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों ही नरकके द्वार हैं* । वास्तवमें एक कामके ही ये तीन रूप हैं । ये तीनों सांसारिक वस्तुओं, व्यक्तियों आदिको महत्त्व देनेसे पैदा होते हैं । काम अर्थात् कामनाकी दो तरहकी क्रियाएँ होती हैं—इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्ति । इनमेंसे इष्टकी प्राप्ति भी दो तरहकी होती है—संग्रह करना और सुख भोगना । संग्रहकी इच्छाका नाम 'लोभ' है और सुखभोगकी इच्छाका नाम 'काम' है । अनिष्टकी निवृत्तिमें बाधा पड़नेपर 'क्रोध' आता है अर्थात् भोगोकी संग्रहकी प्राप्तिमें बाधा देनेवालेपर अथवा हमारा अनिष्ट करनेवाओंपर, हमारे शरीरका नाश करनेवालेपर क्रोध आता है, जिससे अनिष्ट करनेवाओंका नाश करनेकी क्रिया होती है । इसमें सिद्ध हुआ कि युद्धमें मनुष्यकी दो तरहसे ही प्रवृत्ति होती है—अनिष्टकी निवृत्तिके लिये अर्थात् अपने 'क्रोध'को सफल बनानेके लिये और इष्टकी प्राप्तिके लिये अर्थात् 'लोभ' की पूर्तिके लिये । परन्तु अर्जुन यहाँ इन दोनों बातोंका निषेध कर रहे हैं ।]

‘आचार्याः पितरः . . . किं नु महीकृते’—अगर हमारे ये कुटुम्बजीन अपनी अनिष्ट-निवृत्तिके लिये क्रोधमें आकर मेरेपर प्रहार करके मेरा वध भी करना चाहे, तो भी मैं अपनी अनिष्ट-निवृत्तिके

* त्रिविध नरकस्येद द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

(गीता १६ । २१)

लिये क्रोधमें आकर इनको मारना नहीं चाहता । अगर ये अपनी इष्ट-प्राप्तिके लिये राज्यके लोभमें आकर मेरेको मारना चाहें तो भी मैं अपनी इष्ट-प्राप्तिके लिये लोभमें आकर इनको मारना नहीं चाहता । तात्पर्य यह हुआ कि क्रोध और लोभमें आकर मेरेको नरकोका दरवाजा मोल नहीं लेना है ।

यहाँ दो बार 'अपि' पदका प्रयोग करनेमें अर्जुनका आशय यह है कि मैं इनके स्वार्थमें बाधा ही नहीं देता तो ये मेरेको मारेंगे ही क्यों ? पर मान लो कि 'पहले इसने हमारे स्वार्थमें बाधा दी है' ऐसे विचारसे ये मेरे शरीरका नाश करनेमें प्रवृत्त हो जायँ, तो भी (धनतोऽपि) मैं इनको मारना नहीं चाहता । दूसरी बात, इनको मारनेसे मेरेको त्रिलोकीका राज्य मिल जाय, यह तो सम्भावना ही नहीं है, पर मान लो कि इनको मारनेसे मेरेको त्रिलोकीका राज्य मिलता हो, तो भी (अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः) मैं इनको मारना नहीं चाहता ।

'मधुसूदन' * सम्बोधनका तात्पर्य है कि आप तो दैत्योंको मारनेवाले, पर ये द्रोण आदि आचार्य और भीष्म आदि पितामह दैत्य थोड़े हैं, जिससे मैं इनको मारनेकी इच्छा करूँ ? ये तो हमारे अत्यन्त नजदीकके खास सम्बन्धी हैं ।

'आचार्याः'—इन कुटुम्बियोंसे जिन द्रोणाचार्य आदिसे हमारा विद्याका, हितका सम्बन्ध है, ऐसे पूज्य आचार्योंकी मेरेको

* 'मधु' नामक दैत्यकी मारनेक कारण भगवान्‌का नाम 'मधुसूदन' पड़ा था ।

सेवा करनी चाहिये कि उनके साथ लड़ाई करनी चाहिये ! आचार्यके चरणोंमें तो अपने-आपको, अपने प्राणोंको भी समर्पित कर देना चाहिये । यही हमारे लिये उचित है ।

‘पितरः’—शरीरके सम्बन्धको लेकर जो पितालोग हैं, उनका ही तो रूप यह हमारा शरीर है । शरीरसे उनके स्वरूप होकर क्रोध या लोभमें आकर अपने पिताओंको कैसे मारें !

‘पुत्राः’—हमारे और हमारे भाइयोंके जो पुत्र हैं, वे तो सर्वथा पालन करनेयोग्य हैं । वे हमारे विपरीत कोई क्रिया भी कर बैठें, तो भी उनका पालन करना ही हमारा धर्म है ।

‘पितामहाः’—ऐसे ही जो पितामह हैं, वे जब हमारे पिताजीके भी पूज्य हैं, तो हमारे लिये तो परमपूज्य हैं ही । वे हमारी ताड़ना कर सकते हैं, हमें मार भी सकते हैं । पर हमारी तो ऐसी ही चेष्टा होनी चाहिये, जिससे उनको किसी तरहका दुःख न हो, कष्ट न हो, प्रत्युत उनको सुख हो, आराम हो, उनकी सेवा हो ।

‘मातुलाः’—हमारे जो मामालोग हैं, ये हमारा पालन-पोषण करनेवाली माताओंके ही भाई हैं । इस वास्ते ये माताओंके समान ही पूज्य होने चाहिये ।

‘श्वशुराः’—ये जो हमारे ससुर हैं, ये मेरी और मेरे भाइयोंकी पत्नियोंके पूज्य पिताजी हैं । इस वास्ते वे हमारे लिये भी पिताके ही तुल्य हैं । उनको मैं कैसे मारना चाहूँ ?

‘पौत्राः’—हमारे पुत्रोंके जो पुत्र हैं, वे तो पुत्रोंसे भी अधिक पालन-पोषण करनेयोग्य हैं ।

‘श्यालाः’—हमारे जो साले हैं, वे भी हमलोगोंकी पत्नियोंके प्यारे भैया हैं । उनको भी कैसे मारा जाय !

‘सम्बन्धिनः’—ये जितने सम्बन्धी दोख रहे हैं और इनके अतिरिक्त जितने भी सम्बन्धी हैं, उनका पालन-पोषण, सेवा करनी चाहिये कि उनको मारना चाहिये ? इनको मारनेसे अगर हमें त्रिलोकीका राज्य भी मिल जाय, तो भी क्या इनको मारना उचित है ? इनको मारना तो सर्वथा अनुचित है । अगर युद्ध करनेसे हमें पृथ्वीका राज्य भी मिल जाय, तो उस राज्यके लिये पूज्यवर्ग, पोष्यवर्ग, प्रेमीजन, निजोजन आदिको कैसे मारा जाय !

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें अर्जुनने स्वजनोंको न मारनेमें दो हेतु बताये । अब आगेके श्लोकमें परिणामकी दृष्टिसे भी स्वजनोंको न मारना सिद्ध करते हैं ।

श्लोक—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

अर्थ—

हे जनार्दन ! इन धृतराष्ट्रके सम्बन्धियोंको मारकर हमलोगोंको क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियोंको मारनेसे तो हमें पाप ही लगेगा ।

व्याख्या—

‘निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः..... हत्वैतानाततायिनः’—
धृतराष्ट्रके पुत्र और उनके सहयोगी दूसरे जितने भी सैनिक हैं,
उनको मारकर विजय प्राप्त करनेसे हमें क्या प्रसन्नता होगी ?
अगर हम क्रोध अथवा लोभके वेगमें आकर इनको मार भी दे, तो
उनका वेग शांत होनेपर हमें रोना ही पड़ेगा अर्थात् क्रोध और
लोभमें आकर हम क्या अनर्थ कर बैठे—ऐसा पश्चात्ताप ही करना
पड़ेगा । कुटुम्बियोंकी याद आनेपर उनका अभाव बार बार खटकेगा,
चित्तमें उनकी मृत्युका शोक सताता रहेगा । ऐसी स्थितिमें हमें
कभी प्रसन्नता भी हो सकती है क्या ? तात्पर्य है कि इस लोकमें
हम जब्तक जीते रहेंगे, तबतक हमारे चित्तमें कभी प्रसन्नता नहीं
होगी और इनको मारनेसे हमें जो पाप लगेगा, वह परलोकमें
हमें भयंकर दुःख देनेवाला होगा ।

आततायी छः प्रकारके होते हैं—आग लगानेवाला, विष
देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको तैयार, धनको हरनेवाला,
जमीन (राज्य) छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला* । दुर्योधन
आदिमें ये छहों ही लक्षण घटते थे । उन्होंने पाण्डवोंको लाक्षागृह-

ॐ अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।

क्षेत्रदारापहर्ता च घडेते ह्याततायिनः ॥

(वसिष्ठस्मृति ३ । १९)

(अग्नि देय विष देय जो, क्षेत्र दार धन हार ।

बहुरि वकारत शस्त्र गहि, अवध्य वध्य घट्कार ॥)

‘पौत्राः’—हमारे पुत्रोंके जो पुत्र हैं, वे तो पुत्रोंसे भी अधिक पालन-पोषण करनेयोग्य हैं ।

‘श्यालाः’—हमारे जो साले हैं, वे भी हमलोगोंकी पत्नियोंके प्यारे भैया हैं । उनको भी कैसे मारा जाय !

‘सम्बन्धिनः’—ये जितने सम्बन्धी दोख रहे हैं और इनके अतिरिक्त जितने भी सम्बन्धी हैं, उनका पालन-पोषण, सेवा करनी चाहिये कि उनको मारना चाहिये ? इनको मारनेसे अगर हमें त्रिलोकीका राज्य भी मिल जाय, तो भी क्या इनको मारना उचित है ? इनको मारना तो सर्वथा अनुचित है । अगर युद्ध करनेसे हमें पृथ्वीका राज्य भी मिल जाय, तो उस राज्यके लिये पूज्यवर्ग, पोष्यवर्ग, प्रेमीजन, निजोजन आदिको कैसे मारा जाय !

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें अर्जुनने स्वजनोंको न मारनेमें दो हेतु बताये । अब आगेके श्लोकमें परिणामकी दृष्टिसे भी स्वजनोंको न मारना सिद्ध करते हैं ।

श्लोक—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

अर्थ—

हे जनार्दन ! इन धृतराष्ट्रके सम्बन्धियोंको मारकर हमलोगोंको क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियोंको मारनेसे तो हमें पाप ही लगेगा ।

ब्याख्या—

‘निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः..... हत्वैतानाततायिनः’—
धृतराष्ट्रके पुत्र और उनके सहयोगी दूसरे जितने भी सैनिक हैं,
उनको मारकर विजय प्राप्त करनेसे हमें क्या प्रसन्नता होगी ?
अगर हम क्रोध अथवा लोभके वेगमें आकर इनको मार भी दें, तो
उनका वेग शापित होनेपर हमें रोना ही पड़ेगा अर्थात् क्रोध और
लोभमें आकर हम क्या अनर्थ कर बैठे—ऐसा पश्चात्ताप ही करना
पड़ेगा । कुटुम्बियोंकी याद आनेपर उनका अभाव बार बार खटकेगा,
चित्तमें उनकी मृत्युका शोक सताता रहेगा । ऐसी स्थितिमें हमें
कभी प्रसन्नता भी हो सकती है क्या ? तात्पर्य है कि इस लोकमें
हम जित्तक जीते रहेंगे, तबतक हमारे चित्तमें कभी प्रसन्नता नहीं
होगी और इनको मारनेसे हमें जो पाप लगेगा, वह परलोकमें
हमें भयंकर दुःख देनेवाला होगा ।

आततायी छः प्रकारके होते हैं—आग लगानेशाला, विष
देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको तैयार, धनको हरनेवाला,
जमीन (राज्य) छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला* । दुर्योधन
आदिमें ये छहो ही लक्षण घटते थे । उन्होंने पाण्डवोंको लाक्षागृह-

ॐ अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनपहः ।

क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥

(वसिष्ठस्मृति ३ । १९)

(अग्नि देय विष देय जो, क्षेत्रदार धन हार ।

बहुरि वकारत शस्त्र गहि, अवध्य वध्य षट्कार ॥)

मे आग लगाकर मारना चाह था । भीमसेनको जहर खिलाकर जलमें फेंक दिया था । हाथमें शस्त्र लेकर वे पाण्डवोंको मारने-के लिये तैयार थे ही । द्यूतक्रीडामें छल-कपट करके पाण्डवोंका धन और राज्य हर लिया था । द्रौपदीको भरी सभामें लाकर दुर्योधन-ने 'मैंने तेरेको जीत लिया है, तू मेरी दासी हो गयी है' आदि शब्दोंसे बड़ा अपमान किया था और दुर्योधनादिकी प्रेरणासे जयद्रथ द्रौपदीको हारकर ले गया था ।

शास्त्रोंके वचनोंके अनुसार आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं लगता, पाप नहीं लगता—'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' (मनुस्मृति ८ । ३५१) । परन्तु आततायीको मारना उचित होते हुए भी मारनेकी क्रिया अच्छी नहीं है । शास्त्र भी कहता है कि मनुष्यको कभी किसीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये—'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि', हिंसा न करना परमधर्म है—'अहिंसा परमो धर्मः' । अतः क्रोध-श्रेभके वशीभूत होकर कुटुम्बियोंकी हिंसाका कार्य हम क्यों करें ?

आततायी होनेसे ये दुर्योधन आदि मारनेके लायक हैं ही; परन्तु अपने कुटुम्बी होनेसे इनको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा; क्योंकि शास्त्रोंमें कहा गया है कि जो अपने कुञ्जका नाश करता है, वह अत्यन्त पापी होता है—'स पापिष्ठतमो लोके यः कुर्यात्कुलनाशनम्' । अतः जो आततायी अपने खास कुटुम्बी हैं, उनको कैसे मारा जाय ? उनसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना उनसे अलग हो जाना तो ठीक है, पर उनको मारना ठीक नहीं

है। जैसे, अपना बेटा ही आततायी हो जाय, तो उससे अपना सम्बन्ध हटाया जा सकता है, पर मारा थोड़े ही जा सकता है !

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें युद्धका दुष्परिणाम बताकर अब अर्जुन आगेके श्लोकमें युद्ध करनेका सर्वथा अनौचित्य बताते हैं।

श्लोक—

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

अर्थ—

इसलिये अपने बान्धव इन धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं; क्योंकि हे माधव ! अपने कुटुम्बियोंको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ?

व्याख्या—

‘तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्’— अभीतक (१। २८ से लेकर यहाँतक) मैंने कुटुम्बियोंको न मारनेमें जितनी युक्तियों, दलीलें दी हैं, जितने विचार प्रकट किये हैं, उनके रहते हुए हम ऐसे अनर्थकारी कार्यमें कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं ? अपने बान्धव इन धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको मारनेका कार्य हमारे लिये सर्वथा ही अयोग्य है, अनुचित है। हम-जैसे अच्छे पुरुष ऐसा अनुचित कार्य कर ही कैसे सकते हैं।

‘स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव’—हे माधव ! इन कुटुम्बियोंके मारनेकी आशकासे ही बड़ा दुःख हो रहा है, संताप हो रहा है, तो फिर क्रोध तथा लोभके वशीभूत होकर

हम उनको मार दें तो कितना दुःख होगा ! उनको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ।

यहाँ 'ये हमारे घनिष्ठ सम्बन्धी हैं'—इस ममताजनित मोहके कारण अपने क्षत्रियोचित कर्तव्यकी तरफ अर्जुनकी दृष्टि झी नहीं जा रही है । कारण कि जहाँ मोह होता है, वहाँ मनुष्यका विवेक सर्वथा दब जाता है । विवेक दबनेसे मोहकी प्रबलता हो जाती है । मोहके प्रबल होनेसे अपने कर्तव्यका स्पष्ट भान नहीं होता ।

सम्बन्ध—

अब यहाँ यह शंका होती है कि जैसे तुम्हारे क्रिये दुर्योधन आदि स्वजन हैं, ऐसे ही दुर्योधन आदिके लिये तुम स्वजन हो । स्वजनको दृष्टिमें तुम तो युद्धसे निवृत्त होनेकी सोच रहे हो, पर दुर्योधन आदि युद्धसे निवृत्त होनेकी नहीं सोच रहे हैं—इसका क्या कारण है ? इसका उत्तर अर्जुन आगेके दो श्लोकोंमें देते हैं ।

श्लोक—

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।

कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

कथं न क्षेयमस्माभिः पापादसान्निवर्तितुम् ।

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपञ्चयद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

अर्थ—

यद्यपि लोभके कारण जिनका विवेक-विचार लुप्त हो गया है, ऐसे ये दुर्योधन आदि कुलका नाश करनेसे होनेवाले दोषको और

मित्रोंके साथ द्वेष करनेसे होनेवाले पापको नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन ! कुलका नाश करनेसे होनेवाले दोषको ठीक-ठीक जानने-वाले हमलोग इस पापसे निवृत्त होनेका विचार क्यों न करें ।

व्याख्या—

‘यद्यप्येते न पश्यन्ति..... मित्रद्रोहे च पातकम्’—

इतना मिल गया, इतना और मिल जाय; फिर ऐसा मिलता ही रहे—ऐसे धन, जमीन, मकान, आदर, प्रशंसा आदिकी तरफ बढ़ती हुई वृत्तिका नाम ‘लोभ’ है । इस लोभ-वृत्तिके कारण इन दुर्योधनादिकी विवेक-शक्ति लुप्त होगी है, छिप गयी है, जिससे वे यह विचार नहीं कर पा रहे हैं कि जिस राज्यके लिये हम इतना बड़ा पाप करने जा रहे हैं, कुटुम्बियोंका नाश करने जा रहे हैं, वह राज्य हमारे साथ कितने दिन रहेगा और हम उसके साथ कितने दिन रहेंगे ? हमारे रहते हुए यह राज्य चला जायगा तो हमारी क्या दशा होगी और राज्यके रहते हुए हमारे शरीर चले जायेंगे तो क्या दशा होगी ! क्योंकि मनुष्य संयोगका जितना सुख लेता है, उसके वियोगका उतना दुःख उसको भोगना ही पड़ता है । संयोगमें इतना सुख नहीं होता, जितना वियोगमें दुःख होता है । तात्पर्य है कि अन्तःकरणमें लोभ, छा जानेके कारण इनको राज्य-ही-राज्य दीख रहा है । कुलका नाश करनेसे कितना भयंकर पाप होगा, वह इनको दीख ही नहीं रहा है ।

जहाँ लड़ाई हो जाती है, वहाँ समय, सम्पत्ति, शक्तिका नाश हो जाता है । तरह-तरहकी चिन्ताएँ और आपत्तियाँ आ जाती हैं । दो मित्रोंमें भी आपसमें खटपट मच जाती है, मनो-

हम उनको मार दें तो कितना दुःख होगा ! उनको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ।

यहाँ 'ये हमारे घनिष्ठ सम्बन्धी हैं'—इस ममताजनित मोहके कारण अपने क्षत्रियोचित कर्तव्यकी तरफ अर्जुनकी दृष्टि झी नहीं जा रही है । कारण कि जहाँ मोह होता है, वहाँ मनुष्यका विवेक सर्वथा दब जाता है । विवेक दबनेसे मोहकी प्रवृत्ति हो जाती है । मोहके प्रवृत्ति होनेसे अपने कर्तव्यका स्पष्ट भान नहीं होता ।

सम्बन्ध—

अब यहाँ यह शंका होती है कि जैसे तुम्हारे क्रिये दुर्योधन आदि स्वजन हैं, ऐसे ही दुर्योधन आदिके लिये तुम स्वजन हो । स्वजनको दृष्टिमें तुम तो युद्धसे निवृत्त होनेकी सोच रहे हो, पर दुर्योधन आदि युद्धसे निवृत्त होनेकी नहीं सोच रहे हैं—इसका क्या कारण है ? इसका उत्तर अर्जुन आगेके दो श्लोकोंमें देते हैं ।

श्लोक—

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।

कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

कथं न श्रेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

अर्थ—

यद्यपि लोभके कारण जिनका विवेक-विचार लुप्त हो गया है, ऐसे ये दुर्योधन आदि कुलका नाश करनेसे होनेवाले दोषको और

मालिन्य हो जाता है । कई तरहका मतभेद हो जाता है । मत-भेद होनेसे वैरभाव हो जाता है । जैसे, द्रुपद और द्रोण—दोनों वचपन-के मित्र थे । परन्तु राज्य मिलनेसे द्रुपदने एक दिन द्रोणका अपमान करके उस मित्रताको टुकरा दिया । इससे राजा द्रुपद और द्रोणाचार्यके बीच वैर-भाव हो गया । अपने अपमानका बदला चुकानेके लिये द्रोणाचार्यने अपने शिष्य अर्जुनके द्वारा राजा द्रुपदको परास्त कराकर उसका आधा राज्य ले लिया । इसपर द्रुपदने द्रोणाचार्यका नाश करनेके लिये एक यज्ञ कराया, जिससे धृष्टद्युम्न पैदा हुए । इस तरह मित्रोंके साथ वैरभाव होनेसे कितना भयंकर पाप होगा, इस तरफ़ ये देख ही नहीं रहे हैं !

विशेष बात

अभी हमारे पास जिन वस्तुओंका अभाव है, उन वस्तुओंके बिना भी हमारा काम चल रहा है, हम अच्छी तरहसे जी रहे हैं । परन्तु जब वे वस्तुएँ हमें मिलनेके बाद फिर बिछुड़ जाती हैं, तब उनके अभावका बड़ा दुःख होता है । तात्पर्य है कि पहले वस्तुओंका जो निरन्तर अभाव था, वह इतना दुःखदायी नहीं था, जितना दुःखदायी वस्तुओंका संयोग होकर फिर उनसे वियोग होना है । परन्तु ऐसा होनेपर भी मनुष्यके पास जिन वस्तुओंका अभाव है, उन वस्तुओंको वह लोभके कारण पानेकी चेष्टा करता रहता है । विचार किया जाय तो जिन वस्तुओंका अभी अभाव है, बीचमें उनकी प्राप्ति होनेपर भी अन्तमें उनका अभाव ही रहेगा । अतः हमारी तो वही

अवस्था रही, जो कि वस्तुओंके मिलनेसे पहले थी । बीचमें लोभके कारण उन वस्तुओंको पानेके लिये केवल परिश्रम-ही-परिश्रम पल्ले पड़ा, दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ा ! बीचमें वस्तुओंके संयोगसे जो थोड़ा-सा सुख हुआ है, वह तो केवल लोभके कारण ही हुआ है । कारण कि भीतरमें अगर लोभरूपी दोष न हो, तो वस्तुओंके संयोगसे सुख हो ही नहीं सकता । ऐसे ही मोहरूपी दोष न हो, तो कुटुम्बियोंसे सुख हो ही नहीं सकता । लालच-रूपी दोष न हो, तो संग्रहका सुख हो ही नहीं सकता । तात्पर्य है कि संसारका सुख किसी-न-किसी दोषसे ही होता है । कोई भी दोष न होनेपर संसारसे सुख हो ही नहीं सकता । परन्तु लोभके कारण मनुष्य ऐसा विचार कर ही नहीं सकता । यह लोभ उसके विवेक-विचारको लुप्त कर देता है ।

‘कथं न श्रेयमस्माभिः.....प्रपश्यद्भिर्जनार्दन’—

अब अर्जुन अपनी बात कहते हैं कि यद्यपि दुर्योधनादि अपने कुलक्षयसे होनेवाले दोषको और मित्रद्रोहसे होनेवाले पापको नहीं देखते, तो भी हमलोगोंको कुलक्षयसे होनेवाली अनर्थपरम्पराको देखना ही चाहिये [जिसका वर्णन अर्जुन आगे चालीसवें श्लोकसे चौवालीसवें श्लोकतक करेंगे]; क्योंकि हम कुलक्षयसे होनेवाले दोषोंको अच्छी तरहसे जानते हैं और हम मित्रोंके साथ द्रोह (वैर, द्वेष) से होनेवाले पापको भी अच्छी तरहसे जानते हैं । अगर वे मित्र हमें दुःख दें, तो वह दुःख हमारे लिये अनिष्टकारक नहीं है । कारण कि दुःखसे तो हमारे पूर्वपापोंका ही नाश होगा,

अवस्था रही, जो कि वस्तुओंके मिलनेसे पहले थी । बीचमें लोभके कारण उन वस्तुओंको पानेके लिये केवल परिश्रम-ही-परिश्रम पल्ले पड़ा, दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ा ! बीचमें वस्तुओंके संयोगसे जो थोड़ा-सा सुख हुआ है, वह तो केवल लोभके कारण ही हुआ है । कारण कि भीतरमें अगर लोभरूपी दोष न हो, तो वस्तुओंके संयोगसे सुख हो ही नहीं सकता । ऐसे ही मोहरूपी दोष न हो, तो कुटुम्बियोंसे सुख हो ही नहीं सकता । लालच-रूपी दोष न हो, तो संग्रहका सुख हो ही नहीं सकता । तात्पर्य है कि संसारका सुख किसी-न-किसी दोषसे ही होता है । कोई भी दोष न होनेपर संसारसे सुख हो ही नहीं सकता । परन्तु लोभके कारण मनुष्य ऐसा विचार कर ही नहीं सकता । यह लोभ उसके विवेक-विचारको लुप्त कर देता है ।

‘कथं न श्रेयमस्माभिः.....’प्रपश्यद्भिर्जनार्दन’—

अब अर्जुन अपनी बात कहते हैं कि यद्यपि दुर्योधनादि अपने कुलक्षयसे होनेवाले दोषको और मित्रद्रोहसे होनेवाले पापको नहीं देखते, तो भी हमलोगोंको कुलक्षयसे होनेवाली अनर्थपरम्पराको देखना ही चाहिये [जिसका वर्णन अर्जुन आगे चालीसवें श्लोकसे चौवालीसवें श्लोकतक करेंगे]; क्योंकि हम कुलक्षयसे होनेवाले दोषोंको अच्छी तरहसे जानते हैं और हम मित्रोंके साथ द्रोह (वैर, द्वेष) से होनेवाले पापको भी अच्छी तरहसे जानते हैं । अगर वे मित्र हमें दुःख दें, तो वह दुःख हमारे लिये अनिष्टकारक नहीं है । कारण कि दुःखसे तो हमारे पूर्वपापोंका ही नाश होगा,

हमारी शुद्धि ही होगी । परन्तु हमारे मनमें अगर द्रोह—वैरभाव होगा, तो वह मरनेके बाद भी हमारे साथ रहेगा और जन्म-जन्मान्तरतक हमारेको पाप करनेमें उकसाता रहेगा, जिससे हमारा पतन-ही-पतन होगा । ऐसे अनर्थ करनेवाले और मित्रोंके साथ द्रोह पैदा करनेवाले इस युद्धरूपी पापसे बचनेका विचार क्यों नहीं करना चाहिये ? अर्थात् विचार करके हमें इस पापसे जल्द ही बचना चाहिये ।

यहाँ अर्जुनकी दृष्टि दुर्योधन आदिके लोभकी तरफ तो जा रही है, पर वे खुद कौटुम्बिक स्नेह-(मोह-) में आवद्ध होकर बोल रहे हैं—इस तरफ उनकी दृष्टि नहीं जा रही है ! इस कारण वे अपने कर्तव्यको नहीं समझ रहे हैं । यह नियम है कि मनुष्यकी दृष्टि जबतक दूसरोंके दोषकी तरफ रहती है, तबतक उसको अपना दोष नहीं दीखता, प्रत्युत उल्टा एक अभिमान होता है कि इनमें तो यह दोष है, पर हमारेमें यह दोष नहीं है । ऐसी अवस्थामें वह यह सोच ही नहीं सकता कि अगर इनमें कोई दोष है तो हमारेमें भी कोई दूसरा दोष हो सकता है । दूसरा दोष यदि न भी हो, तो भी दूसरोंका दोष देखना—यह दोष तो है ही । दूसरोंका दोष देखना और अपनेमें अच्छाईका अभिमान करना—ये दोनों दोष साथमें ही रहते हैं । अर्जुनको भी दुर्योधन आदिमें दोष दीख रहे हैं और अपनेमें अच्छाईका अभिमान हो रहा है (अच्छाईके अभिमानकी छायामें मात्र दोष रहते हैं), इस वास्ते उनको अपनेमें मोहरूपी दोष नहीं दीख रहा है ।

सम्बन्ध—

कुलका क्षय करनेसे होनेवाले जिन दोषोंको हम जानते हैं, वे दोष-कौन-से हैं ? उन दोषोंकी परम्परा आगेके पाँच श्लोकोंमें बताने हैं ।

श्लोक—

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

अर्थ—

कुलका क्षय होनेपर सदासे चरते आये हुए कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्मका नाश होनेपर (बचे हुए) सम्पूर्ण कुलको अधर्म दबा लेता है ।

व्याख्या—

‘कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः’—जब युद्ध होता है तो उसमें कुल-(वंश-) का क्षय होता है, हास होता है । जबसे कुल आरम्भ हुआ है, तभीसे कुलके धर्म अर्थात् कुलकी पवित्र परम्पराएँ, पवित्र रीतियाँ, मर्यादाएँ भी परम्परासे चलती आयी हैं । परन्तु जब कुलका क्षय हो जाता है, तो सदासे कुलके साथ रहनेवाले धर्म भी नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जन्मके समय, द्विजाति-संस्कारके समय, ब्याहके समय, मृत्युके समय और मृत्युके बाद किये जानेवाले जो-जो शास्त्रीय पवित्र रीति-रिवाज हैं, जो कि जीवित और मृतात्मा पुरुषोंके लिये इस लोकमें और परलोकमें कल्याण करनेवाले हैं, वे नष्ट हो जाते हैं । कारण कि जब कुलका ही नाश हो जाता है, तो कुलके आश्रित रहनेवाले धर्म किसके आश्रित रहेंगे ?

धर्म नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत'—जब 'कुलकी' पवित्र मर्यादाएँ, पवित्र आचरण नष्ट हो जाते हैं, तो धर्मका पालन न करना और धर्मसे विपरीत काम करना अर्थात् करनेलायक कामको न करना और न करनेलायक कामको वरनारूप अधर्म सम्पूर्ण कुलको दबा लेता है अर्थात् सम्पूर्ण कुलमें अधर्म छा जाता है ।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि जब कुल नष्ट हो जायगा, कुल रहेगा ही नहीं, तो अधर्म किसको दबायेगा ? इसका उत्तर यह है कि जो लड़ाईके लायक हैं, वे तो युद्धमें मारे जाते हैं; किन्तु जो लड़ाईके लायक नहीं हैं, ऐसे जो बालक और स्त्रियाँ पीछे बच जाती हैं, उनको अधर्म दबा लेता है । कारण कि जब युद्धमें शस्त्र, शस्त्र, व्यवहार आदिके जानकार और अनुभवी पुरुष मर जाते हैं, तब पीछे बचे लोगोंको अच्छी शिक्षा देनेवाले, उनपर शासन करनेवाले नहीं रहते । इससे मर्यादाका ज्ञान न होनेसे, व्यवहारका ज्ञान न होनेसे वे मनमाना आचरण करने लग जाते हैं अर्थात् वे करनेलायक कामको तो करते नहीं और न करनेलायक कामको करने लग जाते हैं । इस वास्ते उनमें अधर्म फैल जाता है ।

श्लोक—

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।

स्त्रीषु दुष्टासु चाघोर्ण्य जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

अर्थ—

हे कृष्ण ! अधर्मके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और हे वाष्ण्येय ! स्त्रियोंके दूषित होनेपर वर्णसंकर पैदा हो जाते हैं ।

व्याख्या—

‘अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः’—धर्मका पालन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । अन्तःकरण शुद्ध होनेसे बुद्धि सात्त्विक बन जाती है । सात्त्विक बुद्धिमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसका विवेक जाग्रत् रहता है । परन्तु जब अधर्म बढ़ जाता है, तो आचरण अशुद्ध होने लगते हैं, जिससे अन्तःकरण अशुद्ध हो जाता है । अन्तःकरण अशुद्ध होनेसे बुद्धि तामसी बन जाती है । बुद्धि तामसी होनेसे मनुष्य अकर्तव्योको कर्तव्य और कर्तव्योको अकर्तव्य मानने लग जाता है अर्थात् उसमें शास्त्र-मर्यादासे उल्टी बात पैदा होने लग जाती है । इस विपरीत बुद्धिसे कुलकी स्त्रियाँ दूषित अर्थात् व्यभिचारिणी हो जाती हैं ।

‘स्त्रीषु दुष्टास्तु वाष्ण्य जायते वर्णसंकरः’—स्त्रियोंके दूषित होनेपर वर्णसंकर पैदा हो जाता है* । पुरुष और स्त्री—दोनों

* परस्परविरुद्ध धर्मोंका मिश्रण होकर जो चीज बनती है, उसको (संकर) कहते हैं । जब कर्तव्यका पालन नहीं होता तो धर्मसंकर, वर्णसंकर, जातिसंकर, कुलसंकर, वेशसंकर, भाषासंकर, आहारसंकर आदि अनेक संकरदोष आ जाते हैं ।

अलग-अलग जातिके होनेपर उनसे जो सन्तान पैदा होती है, वह 'वर्णसंकर' कहलाती है ।

अर्जुन यहाँ 'कृष्ण' सम्बोधन देकर यह कह रहे हैं कि आप सबको खींचनेवाले होनेसे 'कृष्ण' कहलाते हैं, तो आप यह बतायें कि हमारे कुलको आप किस तरफ खींचेंगे अर्थात् किधर ले जायेंगे ?

'वाष्ण्य' सम्बोधन देनेका भाव है कि आप वृष्णिवंशमें अवतार लेनेके कारण 'वाष्ण्य' कहलाने हैं । परन्तु जब हमारे कुल- (वंश-) का नाश हो जायगा, तो हमारे वंशज किस कुलके कहलायेंगे ? अतः कुलका नाश उचित नहीं है ।

श्लोक—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

अर्थ—

वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेवाला ही होता है और लुप्त हुई पिण्ड तथा जलकी क्रियावाले इनके पितरोंका भी पतन हो जाता है अर्थात् वे अपने स्थानसे गिर जाते हैं ।

व्याख्या—

'संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च'—वर्ण-मिश्रणसे पैदा हुए वर्णसंकर- (सन्तान-) में धार्मिक बुद्धि नहीं होती ।

वह मर्यादाओका पालन नहीं करता; क्योंकि वह बिना मर्यादासे पैदा हुआ है । इस वास्ते उसके खुदके कुलधर्म न होनेसे वह उनका पालन नहीं करता, प्रत्युत कुलधर्म अर्थात् कुलमर्यादासे विरुद्ध आचरण करता है ।

जिन्होंने युद्धमें अपने कुलका संहार कर दिया है, उनको 'कुलघाती' कहते हैं । वर्णसंकर ऐसे कुलघातियोंको नरकोंमें ले जाता है । केवल कुलघातियोंको ही नहीं, प्रत्युत कुल-परम्परा नष्ट होनेसे सम्पूर्ण कुलको भी वह नरकोंमें ले जाता है ।

‘पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः’—जिन्होंने अपने कुलका नाश कर दिया है, ऐसे इन कुलघातियोंके पितरोंको वर्णसंकरके द्वारा पिण्ड और पानी अर्थात् श्राद्ध और तर्पण न मिलनेसे उन पितरोंका पतन हो जाता है । कारण कि जब पितरोंको पिण्ड-पानी मिलता रहता है, तो वे उस पुण्यके प्रभावसे ऊँचे लोकोंमें रहते हैं । परन्तु जब उनको पिण्ड-पानी मिलना बन्द हो जाता है, तो उनका वहाँसे पतन हो जाता है अर्थात् उनकी स्थिति उन लोकोंमें नहीं रहती ।

पितरोंको पिण्ड-पानी न मिलनेमें कारण यह है कि वर्णसंकरकी पूर्वजोंके प्रति आदर-बुद्धि नहीं होती । इस वास्ते उनमें पितरोंके लिये श्राद्ध-तर्पण करनेकी भावना ही नहीं होती । अगर लोक-लिङ्गाजमें आकर वे श्राद्ध-तर्पण करते भी हैं, तो भी शास्त्र-विधिके अनुसार उनका श्राद्ध-तर्पणमें अधिकार न होनेसे वह पिण्ड-पानी पितरोंको मिलता ही नहीं । इस तरह जब पितरोंको

आदरबुद्धिसे और शास्त्रविधिके अनुसार पिण्ड-जल नहीं मिळता, तो उनका अपने स्थानसे पतन हो जाता है ।

श्लोक—

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

अर्थ—

इन वर्णसंकर पैदा करनेवाले दोषोंसे कुलघातियोंके सदासे चलते आये कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं ।

व्याख्या—

‘दोषैरेतैः कुलघ्नानां कुलधर्माश्च शाश्वताः’ —
युद्धमें कुलका क्षय होनेसे कुलके साथ चलते आये कुलधर्मोंका नाश हो जाता है । कुलधर्मोंके नाशसे कुलमें अधर्मकी वृद्धि हो जाती है । अधर्मकी वृद्धिसे स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं । स्त्रियोंके दूषित होनेसे वर्णसंकर पैदा हो जाते हैं । इस तरह इन वर्णसंकर पैदा करनेवाले दोषोंसे कुलका नाश करनेवालोंके जातिधर्म (वर्गधर्म) नष्ट हो जाते हैं ।

कुलधर्म और जातिधर्म क्या है ? एक ही जातिमें एक कुलकी जो अपनी अलग-अलग परम्पराएँ हैं, अलग-अलग मर्यादाएँ हैं, अलग-अलग आचरण हैं, वे सभी उस कुलके ‘कुलधर्म’ कहलाते हैं । एक ही जातिके सम्पूर्ण कुलोंके समुदायको लेकर जो धर्म कहे जाते हैं, वे सभी ‘जातिधर्म’ अर्थात् वर्णधर्म कहलाते हैं, जो कि सामान्य धर्म हैं और शास्त्रविधिसे नियत हैं । इन कुलधर्मोंका और जातिधर्मोंका आचरण न होनेसे ये धर्म नष्ट हो जाते हैं ।

श्लोक—

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

अर्थ—

हे जनार्दन ! जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, उन मनुष्योंका बहुत कष्टतक नरकोमें वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं।

व्याख्या—

‘उत्सन्नकुलधर्माणां..... अनुशुश्रुम*’—पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदिके लिये शास्त्र-मर्यादा या धर्म-मर्यादाका कोई नियम नहीं है। नियम न होनेपर भी वे स्वाभाविक ही अपने-अपने धर्मका पाठन करते हैं, अपनी-अपनी मर्यादामें चलते हैं। परन्तु अपने धर्मका पाठन करनेसे, अपनी मर्यादामें चलनेसे उनको कोई पुण्य नहीं होता और अपने धर्मका पाठन करनेमें कोई भूल हो जाती है तो उनको कोई पाप नहीं लगता; क्योंकि पशु-पक्षी आदि भोगयोनियाँ हैं। भोगयोनि होनेके कारण उनका करना और न करना सभी सुख-दुःखकी तरह भोगरूपसे ही होता है। अधिकार न होनेसे वे अपनी ओरसे कोई नया कर्म नहीं कर सकते। परन्तु यह मनुष्य पशु-पक्षीकी तरह भोगयोनि नहीं है, प्रायुत यह कर्मयोनि है। भगवान् ने मनुष्यको विवेक दिया है। इस वास्ते यह करनेमें अथवा न करनेमें, अच्छा करनेमें अथवा मन्दा करनेमें स्वतन्त्र है।

* शोकाविष्ट होनेके कारण ही अर्जुनने यहाँ ‘अनुशुश्रुम’ परोक्ष लिट्की क्रियाका प्रयोग किया है।

अतः इसको सदा विवेक-विचारपूर्वक कर्तव्यकर्म करने चाहिये । परन्तु मनुष्य सुखभोग आदिके लोभमें आकर अपने विवेकका निरादर कर देते हैं और अकर्तव्यका, अधर्मका आचरण करने लग जाते हैं । अधर्मका आचरण होनेसे उनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं । कुलधर्म नष्ट होनेपर मनुष्य नरकोसे कैसे बच सकते हैं ? अपने पापोंके कारण उनको बहुत समयतक नरकोका कष्ट भोगना पड़ता है । ऐसा हम परम्परासे बड़े-बूढ़े गुरुजनोंसे सुनते आये हैं ।

‘मनुष्याणाम्’ पदमें कुलघाती और उनके कुलके सभी मनुष्योंका समावेश किया गया है अर्थात् कुलघातियोंके पहले जो हो चुके हैं—उन-(पितरों-) का, अपना और आगे होनेवाले-(वंश)का समावेश किया गया है ।

सम्बन्ध—

युद्धसे होनेवाली अनर्थ-परम्पराका स्वयं अर्जुनपर क्या असर पड़ा ? इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।

यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अर्थ—

यह बड़े आश्चर्य और खेदकी बात है कि हमलोग बड़ा भारी पाप करनेका निश्चय कर बैठे हैं, जो कि राज्य और सुखके लोभसे अपने स्वजनोको मारनेके ऋषे तैयार हो गये हैं !

व्याख्या—

‘अहो वतस्वजनमुद्यताः’—ये दुर्योधन आदि दुष्ट हैं । इनकी धर्मपर दृष्टि नहीं है । इनपर लोभ सवार हो गया है । इस वास्ते ये युद्धके लिये तैयार हो जायँ तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । परन्तु हमलोग तो धर्म-अधर्मको, कर्तव्य-अकर्तव्यको, पुण्य-पापको जाननेवाले हैं । ऐसे जानकार होते हुए भी अनजान मनुष्योंकी तरह हमलोगोंने बड़ा भारी पाप करनेके लिये निश्चय—विचार कर लिया है । इतना ही नहीं, युद्धमें अपने स्वजनोंको मारनेके लिये अब्र-शस्त्र लेकर तैयार हो गये हैं ! यह हमलोगोंके लिये बड़े भारी आश्चर्यकी और खेद-(दुःख-) की बात है अर्थात् सर्वथा अनुचित बात है ।

हमारी जो जानकारी है, हमने जो शास्त्रोंसे सुना है, गुरुजनों-से शिक्षा पायी है, अपने जीवनको सुधारनेका विचार किया है, उन सबका अनादर करके आज हमने युद्धरूपी पाप करनेके लिये विचार कर लिया है—यह बड़ा भारी पाप है ।

इस श्लोकमें ‘अहो’ और ‘वत’—ये दो पद आये हैं । इनमेंसे ‘अहो’ पद आश्चर्यका वाचक है । आश्चर्य यही है कि युद्धसे होने-वाली अनर्थ-परम्पराको जानते हुए भी हमलोगोंने युद्धरूपी बड़ा भारी पाप करनेका पक्का निश्चय कर लिया है ! दूसरा ‘वत’ पद खेदका, दुःखका वाचक है । दुःख यही है कि थोड़े दिन रहनेवाले राज्य और सुखके लोभमें आकर हम अपने कुटुम्बियोंको मारनेके लिये तैयार हो गये हैं ।

पाप करनेका निश्चय करनेमें और स्वजनोंको मारनेके लिये तैयार होनेमें केवल राज्यका और सुखका लोभ ही कारण है । तात्पर्य है कि अगर युद्धमें हमारी विजय हो जायगी तो हमें राज्य, वैभव मिल जायगा, हमारा आदर-सत्कार होगा, हमारी महत्ता बढ़ जायगी, पूरे राज्यपर हमारा प्रभाव रहेगा, सब जगह हमारा हुकुम चलेगा, हमारे पास धन होनेसे हम मनचाही भोग-सामग्री जुटा लेंगे, फिर खूब आराम करेंगे, सुख भोगेंगे—इस तरह हमारेपर राज्य और सुखका लोभ छा गया है, जो हमारे-जैसे मनुष्योंके लिये सर्वथा अनुचित है ।

इस श्लोकमें अर्जुन यह कहना चाहते हैं कि अपने सद्बिचारोंका, अपनी जानकारीका आदर करनेसे ही शास्त्र, गुरुजन आदिकी आज्ञा मानी जा सकती है । परन्तु जो मनुष्य अपने सद्बिचारोंका निरादर करता है, वह शास्त्रोंकी, गुरुजनोंकी और सिद्धान्तोंकी अच्छी-अच्छी बातोंको सुनकर भी धारण नहीं कर सकता । जब धारण नहीं करता, तो सद्बिचारोंकी सृष्टि बन्द हो जाती है । फिर मनुष्यको दुर्गुण-दुराचारोंसे रोकनेवाला है ही कौन ? ऐसे ही हम भी अपनी जानकारीका आदर नहीं करेंगे, तो फिर हमें भी अनर्थ-परम्परासे कौन रोक सकता है । अर्थात् कोई नहीं रोक सकता ।

यहाँ अर्जुनकी दृष्टि युद्धरूपी क्रियाकी तरफ है । वे युद्धरूपी क्रियाको दोषी मानकर उससे हटना चाहते हैं । परन्तु वास्तवमें दोषी क्या है—इस तरफ अर्जुनकी दृष्टि नहीं है । युद्धमें कौटुम्बिक

मोह, स्वार्थ-भाव, कामना ही दोष हैं, पर इधर दृष्टि न जानेके कारण अर्जुन यहाँ आश्चर्य और खेद प्रकट कर रहे हैं, जो कि वास्तवमें किसी भी विचारशील, धर्मात्मा, शूरवीर क्षत्रियके लिये उचित नहीं है ।

[अर्जुनने पहले अइतीसवें श्लोकमें दुर्योधनादिके युद्धमें प्रवृत्त होनेमें, कुलक्षयके दोषमें और मित्रद्रोहके पापमें लोभको कारण बताया और यहाँ भी अपनेको राज्य और सुखके लोभके कारण महान् पाप करनेको उद्यत बताया । इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन पापके होनेमें 'लोभ' को हेतु मानते हैं । फिर भी आगे तीसरे अध्यायके छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनने 'मनुष्य न चाहता हुआ भी पापका आचरण क्यों कर बैठता है'—ऐसा प्रश्न क्यों किया ? इसका समाधान है कि यहाँ तो कौटुम्बिक मोहके कारण अर्जुन युद्धसे निवृत्त होनेको धर्म और युद्धमें प्रवृत्त होनेको अर्धर्म मान रहे हैं अर्थात् उनकी शरीर आदिको लेकर केवल लौकिक दृष्टि है, इस वास्ते वे युद्धमें खजनोंको मारनेमें लोभको हेतु मान रहे हैं । परन्तु आगे गीताका उपदेश सुनते-सुनते उनमें अपने श्रेय—कल्याणकी इच्छा जाग्रत् हो गयी (गीता ३ । २) । इस वास्ते वे कर्तव्यको छोड़कर न करनेलायक काममें प्रवृत्त होनेमें कौन कारण है—ऐसा पूछते हैं अर्थात् वहाँ (३ । ३६ में) अर्जुन कर्तव्यकी दृष्टिसे, साधककी दृष्टिसे पूछते हैं ।]

सम्बन्ध—

आश्चर्य और खेदमें निमग्न हुए अर्जुन आगेके श्लोकमें अपनी दलीलोंका अन्तिम निर्णय बताते हैं ।

श्लोक—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
 धार्तराष्ट्रा रणे हभ्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥
 अर्थ—

अगर ये हाथोंमें शस्त्र-अस्त्रलिये हुए धृतराष्ट्रके पक्षपाती लोग युद्धभूमिमें सामना न करनेवाले तथा शस्त्ररहित मेरेको मार भी दें, तो वह मारना मेरे लिये बड़ा ही कल्याणकारक होगा ।

व्याख्या—

‘यदि माम्क्षेमतरं भवेत्’—अर्जुन कहते हैं कि मैं जब युद्धसे सर्वथा निवृत्त हो जाऊँगा, तो शायद ये दुर्योधन आदि भी युद्धसे निवृत्त हो जायँगे । कारण कि हम कुछ चाहते ही नहीं, लड़ते भी नहीं, तो फिर ये लोग युद्ध करेंगे ही क्यों ? परन्तु कदाचित् जोशमें भरे हुए तथा हाथोंमें शस्त्र धारण किये हुए ये धृतराष्ट्रके पक्षपाती सदाके लिये हमारे रास्तेका काँटा निकल जाय, वैरी समाप्त हो जाय’—ऐसा समझकर सामना न करनेवाले तथा शस्त्ररहित मेरेको मार भी दें, तो उनका वह मारना मेरे लिये कल्याणकारक ही होगा । कारण कि मैंने युद्धमें गुरुजनोको मारकर बड़ा भारी पाप करनेका जो विचार, निश्चय किया था, उस निश्चयरूप पापका प्रायश्चित्त हो जायगा, उस पापसे मैं शुद्ध हो जाऊँगा । तात्पर्य है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो मैं भी पापसे बचूँगा और मेरे कुलका भी नाश नहीं होगा । इस वास्ते मेरा कल्याण-ही-कल्याण होगा ।

[जो मनुष्य अपने लिये जिस किसी विषयका वर्णन करता है, उस विषयका उसके स्वयंपर असर पड़ना है । अर्जुनने भी जब शोकाविष्ट होकर अट्ठाईसवें श्लोकसे बोलना आरम्भ किया, तो वे यहाँतक लगातार बोलते हा गये । भगवान् ने यह सोचा कि अर्जुनके बोलनेका भयका (वेग) निकल जाय तो मैं बोलूँ अर्थात् बोलनेसे अर्जुनका शोक बाहर आ जाय, भीतरमें कोई शोक बाकी न रहे, तभी मेरे वचनोका उसपर असर होगा । अतः भगवान् बीचमें कुछ नहीं बोले ।]

विशेष बात

अवतक अर्जुनने अपनेको धर्मात्मा मानकर युद्धसे निवृत्त होनेमें जितनी दलीलें, युक्तियाँ दी हैं, संसारमें रचे-पचे लोग अर्जुनकी उन दलीलोंको ही ठीक समझेंगे और आगे भगवान् अर्जुनको जो बातें समझायेंगे, उनको ठीक नहीं समझेंगे । अर्जुनकी बातोंको ठीक समझनेमें और भगवान् की बातोंको ठीक न समझनेमें क्या कारण हैं ? जो मनुष्य जिस स्थितिमें है, उस स्थितिकी, उस श्रेणीकी बातको ही वे ठीक समझते हैं; उससे ऊँची श्रेणीकी और उससे नीचेकी श्रेणीकी बात वे समझ ही नहीं सकते । अर्जुनके भीतर कौटुम्बिक मोह है और उस मोहसे आविष्ट होकर ही वे धर्मकी, साधुताकी बड़ी अच्छो-अच्छो बातें कह रहे हैं । अतः जिन लोगोंके भीतर कौटुम्बिक मोह है, उन लोगोंको ही अर्जुनकी बातें ठीक लगेंगी । भगवान् की दृष्टि जीवके कल्याणकी तरफ है कि उसका कल्याण कैसे हो ? भगवान् की इस ऊँची श्रेणीकी

दृष्टिको वे (लौकिक दृष्टिवाले) लोग समझ ही नहीं सकते । अतः वे भगवान्‌की बातोंको ठीक नहीं मानेंगे, प्रत्युत ऐसा मानेंगे कि अर्जुनके लिये युद्धरूपी पापसे बचना बहुत ठीक था, पर भगवान्‌ने उनको युद्धमें लगाकर ठीक नहीं किया । वास्तवमें भगवान्‌ने अर्जुनसे युद्ध नहीं कराया है, प्रत्युत उनका मोह दूर करके उनको अपने कर्तव्यका ज्ञान कराया है ।

केवल भौतिक दृष्टि रखनेवाले मनुष्य कल्याणकी बात सोच ही नहीं सकते । जबतक भौतिक पदार्थोंकी तरफ ही दृष्टि रहती है, तबतक आध्यात्मिक दृष्टि जाग्रत् नहीं होती । यहाँ अर्जुनकी दृष्टिमें शरीर आदि भौतिक पदार्थोंकी मुख्यता हो रही है । वे कौटुम्बिक मोह-ममतामें फँसकर धर्मको भी भौतिक दृष्टिसे ही देख रहे हैं । भौतिक (प्राकृत) दृष्टिसे अत्यन्त विलक्षण आध्यात्मिक दृष्टिकी तरफ अर्जुनका झुकाव नहीं है अर्थात् उनकी दृष्टि भौतिक राज्यसे ऊपर नहीं जा रही है । इस वास्ते वे समझते हैं कि युद्धमें प्रवृत्त कराकर भगवान्‌ मेरेको राज्य दिलाना चाहते हैं, जबकि वास्तवमें भगवान्‌ उनका कल्याण करना चाहते हैं ।

सम्बन्ध—

पूर्व श्लोकमें अर्जुनने अपनी दलीलोका अन्तिम निर्णय सुना दिया । उसके बाद अर्जुनने क्या किया—इसको संजय आगेके श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।

विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

अर्थ—

संजय बोले—ऐसा कहकर शोकाकुल मनवाले अर्जुन बाण-
सहित धनुषको छोड़कर युद्धभूमिमें रथके मध्यभागमें बैठ गये ।

व्याख्या—

‘एवमुक्त्वार्जुनः शोकसंविग्नमानसः’ —युद्ध
करना सम्पूर्ण अनर्थाका मूठ है, युद्ध करनेसे यहाँ कुटुम्बियोंका
नाश होगा, परशुराममें नरक होगा आदि बातोंको युक्ति और प्रमाण-
से कहकर शोकसे अत्यन्त व्यकुल मनवाले अर्जुनने युद्धन करनेका
पक्का निर्णय कर लिया । जिस रणभूमिमें वे हाथमें धनुष लेकर
उत्साहके साथ आये थे, उसी रणभूमिमें उन्होंने अपने बायें हाथसे
गाण्डीव धनुषको और दायें हाथसे बाणको नीचे रख दिया और
स्वयं रथके मध्यभागमें अर्थात् जहाँपर खड़े थे, वहींपर नीचे
शोकमुद्रामें बैठ गये ।

अर्जुनकी ऐसी शोकाकुल अवस्था होनेमें मुख्य कारण है—
भगवान्का भीष्म और द्रोणके सामने रथ खड़ा करके अर्जुनसे कुरु-
वंशियोंको देखनेके लिये कहना और उनको देखकर अर्जुनके भीतर
छिपे हुए मोहका जाग्रत होना । मोहके जाग्रत होनेपर अर्जुन कहते

हैं कि युद्धमें हमारे कुटुम्बी मारें जायँगे। कुटुम्बियोंका मरना ही बड़े नुकसानकी बात है। दुर्योधन आदि लोभके कारण इस नुकसानकी तरफ नहीं देख रहे हैं। परन्तु युद्धसे कितनी अनर्थ-परम्परा चल पड़ेगी—इस तरफ ध्यान देकर हमलोगोको ऐसे पापसे निवृत्त हो ही जाना चाहिये। हमलोग राज्य और सुखके लोभसे कुलका संहार करनेके लिये रणभूमिमें खड़े हो गये हैं—यह हमने बड़ी भारी गल्ती की। अतः युद्ध न करते हुए शस्त्ररहित मेरेको यदि सामने खड़े हुए योद्धालोग मार भी दें, तो उससे मेरा कल्याण ही होगा। इस तरह अन्तःकरणमें मोह छा जानेके कारण अर्जुन युद्धसे उपरत होनेमें और अपने मर जानेमें भी कल्याण देखते हैं और अन्तमें उसी मोहके कारण बाणसहित धनुषका त्याग करके विषादमग्न होकर बैठ जाते हैं। यह मोहकी ही महिमा है कि जो अर्जुन हाथसे धनुष उठाकर दृढ़के लिये तैयार हो रहे थे, वही अर्जुन धनुषको नीचे रखकर शोकसे अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो
नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषद्सूत्र श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें 'अर्जुनविषादयोग' नामक पहला अध्याय पूर्ण हुआ ॥ १ ॥

प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिपर जो उपर्युक्त पुष्पिका दी गयी है, इसमें श्रीमद्भगवद्गीताका विशेष माहात्म्य और प्रभाव हो प्रकट किया गया है ।

ॐ, तत्, सत्*—ये तीनों सच्चिदानन्दधन परमात्माके पवित्र नाम हैं । ये मात्र जीवोंका कल्याण करनेवाले हैं । इनका उच्चारण परमात्माके सम्मुख करता है और शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंके अङ्ग-वैगुण्यको मिटाता है । इस वास्ते गीताके अध्यायका पाठ करनेमें श्लोक, पद और अक्षरोंके उच्चारणमें जो-जो भूलें हुई हैं, उनका परिमार्जन करनेके लिये और ससारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक भगवत्-सम्बन्धकी याद आनेके लिये प्रत्येक अध्यायके अन्तमें 'ॐ तत्सत्' का उच्चारण किया गया है ।

महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासजीके द्वारा अध्यायके अन्तमें 'ॐ' के उच्चारणका तात्पर्य है कि मेरी रचना का अङ्ग-वैगुण्य मिट जाय, 'तत्' के उच्चारणका तात्पर्य है कि मेरी रचना भगवत्प्रीत्यर्थ हो जाय और 'सत्' के उच्चारणका तात्पर्य है कि मेरी रचना सत् अर्थात् अविनाशी फल देनेवाली हो जाय । 'इति'—बस, मेरा यही प्रयोजन है । इसके सिवाय मेरा व्यक्तिगत और कोई प्रयोजन नहीं है ।

जो 'श्रीमत्' अर्थात् सर्वशोभासम्पन्न हैं और जिनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—ये छः 'भग' नित्य

विद्यमान रहते हैं, उन भगवान्‌के मुखसे निकली हुई होनेके कारण इसको 'श्रीमत् भगवत्' कहा गया है ।

जब मनुष्य मस्तीमें, आनन्दमें होता है, तब उसके मुखसे स्वतः गीत निकलता है । भगवान्‌ने इसको मस्तीमें आकर गाया है, इस वास्ते इसका नाम 'गीता' है । यद्यपि संस्कृत व्याकरणके नियमानुसार इसका नाम 'गीतम्' होना चाहिये था, तथापि उपनिषद्-स्वरूप होनेसे स्त्रीलिङ्ग शब्द 'गीता' का प्रयोग किया गया है ।

इसमें सम्पूर्ण उपनिषदोंका सार-तत्त्व संगृहीत है और यह स्वयं भी भगवद्वाणी होनेसे उपनिषद्-स्वरूप है, इस वास्ते इसे 'उपनिषद्' कहा गया है ।

वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका आग्रह न रखकर प्राणिमात्रका कल्याण करनेवाली सर्वश्रेष्ठ विद्या होनेके कारण इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है । इस ब्रह्मविद्या-स्वरूप गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि योग-साधनोंकी शिक्षा दी गयी है, जिससे साधकको परमात्माके साथ अपने नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाय । अतः इसको 'योगशास्त्र' कहा गया है ।

यह साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तप्रवर अर्जुनका संवाद है । अर्जुनने निःसंकोचभावसे बातें पूछी हैं और भगवान्‌ने उदारतापूर्वक उनका उत्तर दिया है । इन दोनोंके ही भाव इसमें हैं । अतः इन दोनोंके नामसे इस गीताशास्त्रकी विशेष

महिमा होनेके कारण इसको 'श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' नामसे कहा गया है ।

प्रत्येक अध्यायके अन्तमें पुष्पिका देनेका तात्पर्य है कि अगर साधक एक अध्यायका भी ठीक तरहसे मनन-विचार करे, तो उस एक ही अध्यायसे उसका कल्याण हो जायगा ।

इस पहले अध्यायमें अर्जुनके विषादका वर्णन है । यह विषाद भी भगवान् अथवा सन्तोंका संग मिल जानेपर संसारसे वैराग्य करके कल्याण करनेवाला हो जाता है । यद्यपि दुर्योधनादिको भी विषाद हुआ है, तथापि उनमें भगवान्से विमुखता होनेके कारण उनका विषाद 'योग' नहीं हुआ । केवल अर्जुनका विषाद ही भगवान्की सम्मुखता होनेके कारण 'योग' अर्थात् भगवान्के नित्य-सम्बन्धका अनुभव करानेवाला हो गया । इस वास्ते इस अध्यायका नाम 'अर्जुनविषादयोग' रखा गया है ।

पहले अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें 'अथ प्रथमोऽध्यायः' के तीन, 'धृतराष्ट्र उवाच', 'संजय उवाच' आदि पदोंके बारह, श्लोकोंके पाँच सौ अट्ठावन और पुष्पिकाके तेरह पद हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग पाँच सौ छियासी है ।

(२) इस अध्यायमें 'अथ प्रथमोऽध्यायः' के साथ 'धृतराष्ट्र उवाच', 'संजय उवाच' आदि पदोंके सैंतीस, श्लोकोंके एक हजार पाँच सौ चार और पुष्पिकाके अड़तालीस अक्षर हैं ।

इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार पाँच सौ छियानवे है । इस अध्याय में सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं ।

(३) इस अध्यायमें एक 'धृतराष्ट्र उवाच' तीन 'संजय उवाच' और दो 'अर्जुन उवाच' — इस प्रकार कुछ छः उवाच हैं ।

पहले अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके सैंतालीस श्लोकोमेंसे — पाँचवें और तैंतीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा तैंतालीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'गण' प्रयुक्त होनेसे 'र-विपुला' और पचीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा नवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला' संज्ञा-वाले छन्द हैं । शेष ब्यालीस श्लोक ठीक 'पद्यावक्त्र, अनुष्टुप्' छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं ।



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

सम्बन्ध—

अर्जुन जब शोकसंविग्नमना होकर रथके मध्यभागमें बैठ गये, तो उसके बाद क्या हुआ ? इस जिज्ञासाकी पूर्तिके लिये संजय आगेका प्रकरण आरम्भ करते हैं ।

श्लोक—

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

अर्थ—

संजय बोले—वैसी कायरतासे आविष्ट उस अर्जुनके प्रति, जो कि विषाद कर रहा है और आँसुओंके कारण जिसके नेत्रोंकी देखनेकी शक्ति अवरुद्ध हो रही है, भगवान् मधुसूदन ये (आगे कहे जानेवाले) वचन बोले ।

व्याख्या—

‘तं तथा कृपयाविष्टम्’—अर्जुन रथमें सारथिरूपसे बैठे हुए भगवान्‌को यह आज्ञा देते हैं कि हे अच्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करो, जिससे मैं यह देख लूँ कि इस युद्धमें मेरे साथ दो हाथ करनेवाला कौन है ? अर्थात् मेरे-जैसे शूरवीरके साथ कौन-कौन योद्धा हिम्मत करके लड़ने आये हैं ? अपनी मौत सामने दीखते हुए भी मेरे साथ लड़नेकी उनकी हिम्मत कैसे हुई ? इस प्रकार जिस अर्जुनमें युद्धके लिये इतना उत्साह था, वीरता थी, वे ही अर्जुन दोनों सेनाओंमें अपने कुटुम्बियोंको देखकर उनके मरनेकी आशङ्कासे मोहग्रस्त होकर इतने शोकाकुल हो गये हैं कि उनका शरीर शिथिल हो रहा है, मुख सूख रहा है, शरीरमें कँपकँपी हो रही है, रोंगटे खड़े हो रहे हैं, हाथसे धनुष गिर रहा है, त्वचा जल रही है, खड़े रहनेकी भी शक्ति नहीं रही है और मन भी भ्रमित हो रहा है ! कहाँ तो अर्जुनका यह स्वभाव कि ‘न दैन्यं न पलायनम्’—और कहाँ अर्जुनका कायरताके दोषसे शोकाविष्ट होकर रथके मध्यभागमें बैठ जाना ! बड़े आश्चर्यके साथ संजय यही भाव उपर्युक्त पदोसे प्रकट कर रहे हैं ।

पहले अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें भी संजयने अर्जुनके लिये ‘कृपया परयाविष्टः’ पदोका प्रयोग किया है ।

‘अश्रुपूर्णकुलेक्षणम्’—अर्जुन-जैसे महान् शूरवीरके भीतर भी कौटुम्बिक मोह छा गया और नेत्रोंमें आँसू भर आये । आँसू

भी इतने ज्यादा भर आये कि नेत्रोंसे पूरी तरह देख भी नहीं सकते ।

‘विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः’—इस प्रकार कायरताके कारण विषाद करते हुए अर्जुनसे भगवान् मधुसूदनने ये (आगे २ । २-३ में कहे जानेवाले) वचन कहे ।

यहाँ ‘विषीदन्तमुवाच’ कहनेसे ही काम चल सकता था, ‘इदं वाक्यम्’ कहनेकी जरूरत ही नहीं थी; क्योंकि ‘उवाच’ क्रियाके अन्तर्गत ही ‘वाक्यम्’ पद आ जाता है । फिर भी ‘वाक्यम्’ पद कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्का वह वचन, वह वाणी बड़ी विलक्षण है । अर्जुनमें धर्मका दाना पहनकर जो कर्तव्य-त्यागरूप बुराई आ गयी थी, उसपर वह भगवद्वाणी सीधा आघात पहुँचानेवाली है । अर्जुनका युद्धसे उपराम होनेका जो निर्णय था, उसमें खलबली मचा देनेवाली है । अर्जुनको अपने दोषका ज्ञान कराकर अपने कल्याणकी जिज्ञासा जाग्रत् करा देनेवाली है । उस गम्भीर अर्थवाली वाणीके प्रभावसे ही अर्जुन भगवान्का शिष्यत्व ग्रहण करके उनके शरण हो जाते हैं ।

संजयके द्वारा ‘मधुसूदनः’ पद कहनेका तात्पर्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण मधु नामक दैत्यको मारनेवाले हैं अर्थात् दुष्ट स्वभाववालोंका संहार करनेवाले हैं । इस वास्ते वे दुष्ट स्वभाववाले दुर्योधनादिका नाश करवाये बिना नहीं रहेंगे ।

सम्बन्ध—

भगवान्ने अर्जुनके प्रति कौन-से वचन कहे—इसको आगेके दो श्लोकोमें कहते हैं ।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच॥

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

अर्थ—

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! इस विषम अवसरपर तुझे यह कालुष्य—कायरता कहाँसे प्राप्त हुई, जिसका कि श्रेष्ठ पुरुष सेवन नहीं करते, जो स्वर्गको देनेवाली नहीं है और कीर्ति करनेवाली भी नहीं है ।

व्याख्या—

‘अर्जुन’—यह सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि तू स्वच्छ, निर्मल अन्तःकरणवाला है । अतः तेरे स्वभावमें कालुष्य—कायरता-का आना बिल्कुल विरुद्ध बात है । फिर यह तेरेमें कैसे आ गयी ?

‘कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्’—भगवान् आश्चर्य करते हुए अर्जुनसे कहते हैं कि ऐसे युद्धके मौकेपर तो तेरेमें शूरवीरता, उत्साह आना चाहिये था, फिर भी इस वेपौकेपर तेरेमें यह कायरता कहाँसे आ गयी !

* यहाँ ‘भगवान्’ पदमें ‘भग’ शब्दमें जो ‘भुप्’ प्रत्यय किया गया है, वह नित्ययोगमें किया गया है; क्योंकि ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—ये छहों ‘भग’ भगवान्में नित्य रहते हैं ।

अर्जुनने पहले कहा था कि युद्धमें खजनोंको मारनेमें मैं अपना कल्याण नहीं देखता (१ । ३१) । भगवान् यहाँ इस 'अनार्यजुष्टम्' पदसे मानो उसी बातका उत्तर देते हुए कहते हैं कि कल्याण चाहने वाले श्रेष्ठ मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंमें अपने कल्याणका ही उद्देश्य रखते हैं । उनमें अपने कर्तव्यके प्रति कायरता उत्पन्न नहीं होती । परिस्थितिके अनुसार उनको जो कर्तव्य प्राप्त हो जाता है, उसको वे कल्याणप्राप्तिके उद्देश्यसे उत्साह और तत्परतापूर्वक सांगोपांग करते हैं । वे तुम्हारे-जैसे कायर होकर युद्धसे या अन्य किसी कर्तव्य-कर्मसे उपराम नहीं होते । इस वास्ते युद्धरूपसे प्राप्त कर्तव्य-कर्मसे उपरत होना तेरे लिये कल्याणकारक नहीं है ।

'अस्वर्ग्यम्'—कल्याणकी बात सामने न रखकर अगर सांसारिक दृष्टिसे भी देखा जाय, तो संसारमें स्वर्गलोक ऊँचा है । परन्तु तेरी यह कायरता स्वर्गको देनेवाली भी नहीं है अर्थात् कायरतापूर्वक युद्धसे निवृत्त होनेका फल स्वर्गकी प्राप्ति भी नहीं हो सकता ।

'अकीर्तिकरम्'—अगर स्वर्गप्राप्तिका भी लक्ष्य न हो तो अच्छा माना जानेवाला पुरुष वही काम करता है, जिससे संसारमें कीर्ति हो । परन्तु तुम्हारी यह जो कायरता है, यह इस लोकमें भी कीर्ति (यश) देनेवाली नहीं है, प्रत्युत अपकीर्ति (अपयश) देनेवाली है । अतः तुम्हारेमें कायरताका आना सर्वथा ही अनुचित है ।

भगवान् ने यहाँ 'अनार्यजुष्टम्' 'अस्वर्ग्यम्' और 'अकीर्तिकरम्'—ऐसा क्रम देकर तीन प्रकारके मनुष्य बताये हैं—(१) जो विचारशील पुरुष होते हैं, वे केवल अपना कल्याण ही चाहते हैं। उनका ध्येय, उद्देश्य केवल 'कल्याण' ही होता है। (२) जो पुण्यआत्मा पुरुष होते हैं, वे शुभ-कर्मोंके द्वारा स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं। वे स्वर्गको ही श्रेष्ठ मानकर उसकी प्राप्ति ही उद्देश्य रखते हैं। (३) जो साधारण पुरुष होते हैं, वे संसारको ही आदर देते हैं। इसलिये वे संसारमें अपनी कीर्ति चाहते हैं और उस कीर्तिको ही अपना ध्येय मानते हैं।

उपर्युक्त तीनों पद देकर भगवान् अर्जुनको सावधान करते हैं कि तेरा जो यह युद्ध न करनेका निश्चय है, यह विचारशील और पुण्यआत्मा पुरुषोंके ध्येय—कल्याण और स्वर्गको प्राप्त करानेवाला भी नहीं है तथा साधारण पुरुषोंके ध्येय—कीर्तिको प्राप्त करानेवाला भी नहीं है। अतः मोहके कारण तेरा युद्ध न करनेका निश्चय बहुत ही तुच्छ है, जो कि तेरा पतन करनेवाला, तेरेको नरकोंमें ले जानेवाला और तेरी अपकीर्ति करनेवाला हो सकता है।

सम्बन्ध—

कायरता आनेके बाद अब क्या करें ? इस जिज्ञासाको दूर करनेके लिये भगवान् आगेका श्लोक कहते हैं।

श्लोक—

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

भगवान् ने यहाँ 'अनार्यजुष्टम्' 'अस्वर्ग्यम्' और 'अकीर्तिकरम्' —ऐसा क्रम देकर तीन प्रकारके मनुष्य बताये हैं—(१) जो विचारशील पुरुष होते हैं, वे केवल अपना कल्याण ही चाहते हैं। उनका ध्येय, उद्देश्य केवल कल्याणका ही होता है। (२) जो पुण्यात्मा पुरुष होते हैं, वे शुभ-कर्मोंके द्वारा स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं। वे स्वर्गको ही श्रेष्ठ मानकर उसकी प्राप्ति ही उद्देश्य रखते हैं। (३) जो साधारण पुरुष होते हैं, वे संसारको ही आदर देते हैं। इसलिये वे संसारमें अपनी कीर्ति चाहते हैं और उस कीर्तिको ही अपना ध्येय मानते हैं।

उपर्युक्त तीनों पद देकर भगवान् अर्जुनको सावधान करते हैं कि तेरा जो यह युद्ध न करनेका निश्चय है, यह विचारशील और पुण्यात्मा पुरुषोंके ध्येय—कल्याण और स्वर्गको प्राप्त करानेवाला भी नहीं है तथा साधारण पुरुषोंके ध्येय—कीर्तिको प्राप्त करानेवाला भी नहीं है। अतः मोहके कारण तेरा युद्ध न करनेका निश्चय बहुत ही तुच्छ है, जो कि तेरा पतन करनेवाला, तेरेको नरकोंमें ले जानेवाला और तेरी अपकीर्ति करनेवाला हो सकता है।

सम्बन्ध—

कायरता आनेके बाद अब क्या करें ? इस जिज्ञासाको दूर करनेके लिये भगवान् आगेका श्लोक कहने हैं।

श्लोक—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।

धुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अर्थ—

हे पृथानन्दन अर्जुन ! इस नपुंसकताको मत प्राप्त हो; क्योंकि तुम्हारेमें यह उचित नहीं है । हे परंतप ! हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताका त्याग करके युद्धके लिये खड़े हो जाओ ।

व्याख्या—

‘पार्थ’—माता पृथा यानी कुन्तीने भगवान्‌के द्वारा अर्जुन आदिके लिये यह सन्देश भेजा था कि अपने कर्तव्यका पाठन करते हुए इन दुष्टोंका नाश करके धर्मकी रक्षा करो । उसी सन्देशकी याद दिलानेके लिये भगवान् अर्जुनको ‘पार्थ’ नामसे सम्बोधित करते हुए मानो यह कहते हैं कि तेरेको अपनेमें कायरता लाकर माताकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये ।

‘क्लैव्यं मा स्म गमः’—अर्जुन कायरताके कारण युद्ध करनेमें अधर्म और युद्ध न करनेमें धर्म मान रहे थे । अतः अर्जुनको चेतानेके लिये भगवान् कहते हैं कि युद्ध न करना धर्मकी बात नहीं है, यह तो नपुंसकता है, हिंजड़ापन है । इसलिये तू इस नपुंसकताको छोड़ दे ।

‘नैतत्त्वय्युपपद्यते’—तेरेमें यह हिंजड़ापन नहीं आना चाहिये था; क्योंकि तू कुन्ती-जैसी वीर क्षत्राणि माताका पुत्र है और स्वयं भी शूरवीर है । तात्पर्य है कि जन्मसे और अपनी प्रकृतिसे भी यह नपुंसकता तेरेमें सर्वथा अनुचित है ।

‘परंतप’—तू स्वयं ‘परंतप’ है अर्थात् शत्रुओंको तपाने-वाला, भगानेवाला है तो क्या तू इस समय युद्धसे विमुख होकर अपने शत्रुओंको हर्षित करेगा ?

‘शुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ’—यहाँ ‘शुद्रम्’ पदके दो अर्थ होते हैं—(१) यह हृदयकी दुर्बलता तुच्छताको प्राप्त कराने-वाली है अर्थात् मुक्ति, स्वर्ग अथवा कीर्तिको देनेवाली नहीं है । अगर तू इस तुच्छताका त्याग नहीं करेगा तो स्वयं तुच्छ हो जायगा और (२) यह हृदयकी दुर्बलता तुच्छ चीज है । तेरे-जैसे शूरावीरके लिये ऐसी तुच्छ चीजका त्याग करना कोई कठिन काम नहीं है ।

जो तू ऐसा समझता है कि मैं धर्मात्मा हूँ और युद्धरूपी पाप नहीं करना चाहता, तो यह तेरे हृदयकी दुर्बलता है, कमजोरी है । इसका त्याग करके तू युद्धके लिये खड़ा हो जा अर्थात् तू अपने प्राप्त कर्तव्यका पालन कर ।

यहाँ अर्जुनके सामने युद्धरूप कर्तव्य-कर्म है । इस वास्ते भगवान् कहते हैं कि ‘उठ खड़ा हो जा और युद्धरूप कर्तव्यका पालन कर ।’ भगवान् के मनमें अर्जुनके कर्तव्यके विषयमें जरा-सा भी सन्देह नहीं है । वे जानते हैं कि सभी दृष्टियोंसे अर्जुनके लिये युद्ध करना ही कर्तव्य है । इस वास्ते अर्जुनकी थोथी युक्तियों-की परवाह न करके उसको अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये चट आज्ञा देते हैं कि पूरी तैयारीके साथ युद्ध करनेके लिये खड़ा हो जा ।

सम्बन्ध—

पहले अध्यायमें अर्जुनने युद्ध न करनेके विषयमें बहुत-सी युक्तियों (दलीलें) दी थीं । उन युक्तियोंका कुछ भी आदर न

करके भगवान् ने एकाएक अर्जुनको कायरतारूप दोषके लिये जोरसे फटकारा और युद्धके लिये खड़े हो जानेकी आज्ञा दे दी। इस बातको लेकर अर्जुन भी अपनी युक्तियोंका समाधान न पाकर एका-एक उत्तेजित होकर बोल उठे—

श्लोक—

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।

इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हाचरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्थ—

हे मधुसूदन ! मैं गणभूमिमें भीष्म और द्रोणके साथ बाणों-से युद्ध कैसे करूँ ? क्योंकि हे अरिसूदन ! ये दोनों ही पूजाके योग्य हैं ।

व्याख्या—

‘मधुसूदन’ और ‘अरिसूदन’—ये दो सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि आप दैत्योंको और शत्रुओंको मारनेवाले हैं अर्थात् जो दुष्ट स्वभाववाले, अधर्ममय आचरण करनेवाले और दुनियाको कष्ट देनेवाले मधु-कैटभ आदि दैत्य हैं, उनको भी आपने मारा है और जो बिना कारण द्वेष रखते हैं, अनिष्ट करते हैं, ऐसे शत्रुओंको भी आपने मारा है । परन्तु मेरे सामने तो पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण खड़े हैं, जो आचरणोंमें सर्वथा श्रेष्ठ हैं, मेरेपर अत्यधिक स्नेह रखनेवाले हैं और प्यारपूर्वक मेरेको शिक्षा देनेवाले हैं । ऐसे मेरे परम हितैषी दादाजी और विद्या-गुरुको मैं कैसे मारूँ !

‘कथं* भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च’—मैं कायरताके कारण युद्ध-से विमुख नहीं हो रहा हूँ, प्रत्युत धर्मको देखकर युद्धसे विमुख हो रहा हूँ, परन्तु आप कह रहे हैं कि यह कायरता, यह नपुंसकता तेरेमें कहाँसे आ गयी ! आप जरा सोचें कि मैं पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके साथ बाणोंसे युद्ध कैसे करूँ ? महाराज ! यह मेरी कायरता नहीं है । कायरता तो तब कही जाय, जब मैं मरनेसे डरूँ । पर मैं मरनेसे नहीं डर रहा हूँ, प्रत्युत मारनेसे डर रहा हूँ ।

संसारमें दो ही तरहके सम्बन्ध मुख्य हैं—जन्म-सम्बन्ध और विद्या-सम्बन्ध । जन्मके सम्बन्धसे तो पितामह भीष्मजी हमारे पूजनीय हैं । बचपनसे ही मैं उनकी गोदमें पड़ा हूँ । बचपनमें जब मैं उनको ‘पिताजी-पिताजी’ कहता, तो वे प्यारसे कहते कि मैं तेरे पिताका भी पिता हूँ । इस तरह वे मेरेपर बड़ा ही प्यार, स्नेह रखते आये हैं । विद्याके सम्बन्धसे आचार्य द्रोण हमारे पूजनीय हैं । वे मेरे विद्यागुरु हैं । उनका मेरेपर इतना स्नेह है कि उन्होंने खास अपने पुत्र अश्वत्थामाको भी मेरे समान नहीं पढ़ाया; जैसे—उन्होंने ब्रह्मास्त्रको चलाना तो दोनोंको सिखाया, पर ब्रह्मास्त्रका उपसंहार करना मेरेको ही सिखाया, अपने पुत्रको नहीं । उन्होंने मेरेको यह वरदान भी दिया है कि ‘मेरे शिष्योंमें

* दूसरे श्लोकमें भगवान्ने ‘कुतः’ पदसे कहा था कि तुम्हारेमें यह कायरता कहाँसे आ गयी ! उस ‘कुतः’ पदके बदलेमें ही अर्जुन यहाँ ‘कथम्’ पदसे अपनी बात कहते हैं ।

अस्त्र-शस्त्रकलामें तेरेसे बड़कर दूरा कोई नहीं होगा । ऐसे पूजनीय पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके सामने तो बाणीसे 'रे', 'तू' — ऐसा कहना भी उनका हत्या करनेके समान पाप है, फिर मारनेकी इच्छामें उनके साथ बाणोंसे युद्ध करना कितने भारी पापकी बात है !

‘इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजाहौं’ — सम्बन्धमें बड़े होनेके नाते पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण — ये दोनों ही आदरणीय और पूजनीय हैं । इनका मेरेपर पूरा अधिकार है । इस वास्ते ये तो मेरेपर प्रहार कर सकते हैं, पर मैं उनपर बाणोंसे कैसे प्रहार करूँ ! उनका प्रतिद्वन्द्वी होकर युद्ध करना तो मेरे लिये बड़े पापकी बात है ! क्योंकि ये दोनों ही मेरे द्वारा सेवा करनेयोग्य हैं और सेवासे भी बड़कर पूजा करनेयोग्य हैं । ऐसे पूज्यजनोको मैं कैसे मारूँ !

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें अर्जुनने उतेजित होकर भगवान्से अपना निर्णय कह दिया । अब भगवद्बाणोका अपर हानेपर अर्जुन अपने और भगवान्के निर्णयका सन्तुलन करके कहते हैं—

श्लोक—

गुरुनहत्वा हि महानुभावान्
 श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
 हत्वार्थकामास्तु गुरुनिहैव
 भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अर्थ—

महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं भिक्षाका अन्न खाना भी श्रेष्ठ समझता हूँ और गुरुजनोंको मारकर यहाँ रक्तसे सने हुए तथा धनकी कामनाकी मुख्यतावाले भोगोंको ही तो भोगूँगा ।

व्याख्या—

[ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे-तीसरे श्लोकोंमें भगवान्‌के कहे हुए वचन अब अर्जुनके भीतर असर कर रहे हैं । इससे अर्जुनके मनमें यह विचार आ रहा है कि भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनोंको मारना धर्मयुक्त नहीं है—ऐसा जानते हुए भी भगवान्‌ मेरेको बिना किसी सन्देहके युद्धके लिये आज्ञा दे रहे हैं, तो कहीं-न-कहीं मेरी समझमें ही गलती है ! इस वास्ते अर्जुन अब पूर्वश्लोककी तरह उत्तेजित होकर नहीं बोलते, प्रत्युत कुछ ढिलाईसे बोलते हैं ।]

‘गुरूनहत्वा .. --- -- भैक्ष्यमपीह लोके’—अब अर्जुन पहले अपने पक्षको सामने रखते हुए कहते हैं कि अगर मैं भीष्म, द्रोण आदि पूज्यजनोंके साथ युद्ध नहीं करूँगा, तो दुर्योधन भी अकेला मेरे साथ युद्ध नहीं करेगा । इस तरह युद्ध न होनेसे मेरे-को राज्य नहीं मिलेगा, जिससे मेरेको दुःख पाना पड़ेगा । मेरा जीवन-निर्वाह भी कठिनतासे होगा । यहाँतक कि क्षत्रियके लिये निषिद्ध जो भिक्षावृत्ति है, उसको भी जीवन-निर्वाहके लिये ग्रहण करना पड़ सकता है; परन्तु गुरुजनोंको मारनेकी अपेक्षा मैं उस कष्टदायक भिक्षावृत्तिको भी श्रेष्ठ मानता हूँ ।

अस्त्र-शस्त्रकलामें तेरेसे बढकर दूसरा कोई नहीं होगा । ऐसे पूजनीय पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके सामने तो वाणीसे 'रे', 'तू' —ऐसा कहना भी उनका हत्या करनेके समान पाप है, फिर मारनेकी इच्छामे उनके साथ वाणोंसे युद्ध करना कितने भारी पापकी बात है !

‘इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजाहौं’ —सम्बन्धमें बड़े होनेके नाते पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण —ये दोनों ही आदरणीय और पूजनीय हैं । इनका मेरेपर पूरा अधिकार है । इस वास्ते ये तो मेरेपर प्रहार कर सकते हैं, पर मैं उनपर वाणोंसे कैसे प्रहार करूँ !’ उनका प्रतिशुद्ध होकर युद्ध करना तो मेरे लिये बड़े पापकी बात है ! क्योंकि ये दोनों ही मेरे द्वारा सेवा करनेयोग्य हैं और सेवासे भी बढकर पूजा करनेयोग्य हैं । ऐसे पूज्यजनोको मैं कैसे मारूँ !

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें अर्जुनने उतेजित होकर भगवान्से अपना निर्णय कह दिया । अब भगवद्वाणोंका अपर होनेपर अर्जुन अपने ओर भगवान्के निर्णयका सन्तुलन करके कहते हैं—

श्लोक—

गुरुनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामास्तु गुरुनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

दूसरी बात, अर्जुन ने भीष्म, द्रोण आदिके लिये 'महानुभाव' पदका प्रयोग किया है। अतः ऐसे श्रेष्ठ भाववालोंको अर्थकी कामना वाले कैसे कहा जा सकता है। तात्पर्य है कि जो महानुभाव हैं, वे अर्थकी कामनावाले नहीं हो सकते और जो अर्थकी कामनावाले हैं, वे महानुभाव नहीं हो सकते। इस वास्ते यहाँ 'अर्थकामान्' पद 'भोगान्' पदका ही विशेषण हो सकता है।

विशेष बात —

भगवान् ने दूसरे-तीसरे श्लोकोमें अर्जुनके कल्याणकी दृष्टिसे ही कायरताको छोड़कर युद्धके लिये खड़ा होनेकी आज्ञा दी थी। परन्तु अर्जुन उल्टा ही समझे अर्थात् वे समझे कि भगवान् राज्यका भोग करनेकी दृष्टिसे ही युद्धकी आज्ञा देते हैं। पहले तो अर्जुनका युद्ध न करनेका एक ही पक्ष था, जिससे वे धनुष-बाण छोड़कर और शोकाविष्ट होकर रथके मध्यभागमें बैठ गये थे (१ । ४७)। परन्तु युद्ध करनेका पक्ष तो भगवान् के कहनेसे ही हुआ है। तात्पर्य है कि अर्जुनका भाव था कि हमलोग तो धर्मको जानते हैं, पर दुर्योधन आदि धर्मको नहीं जानते, इस वास्ते वे धन, राज्य आदिके लोभसे युद्ध करनेके लिये तैयार खड़े हैं। अब वही बात अर्जुन यहाँ अपने लिये कहते हैं कि अगर मैं भी आपकी आज्ञाके अनुसार युद्ध करूँ, तो परिणाममें गुरुजनोंके रक्तसे सने हुए धन, राज्य आदिको ही तो प्राप्त करूँगा ! इस तरह अर्जुनको युद्ध करनेमें बुराई-ही-बुराई दिखायी दे रही है।

‘इहलोके’ कहनेका तात्पर्य है कि यद्यपि भिक्षा माँगकर अस्त्रखानेसे इस संसारमें मेरा अपमान-तिरस्कार होगा, लोग मेरी निन्दा पूज करेंगे, तो भी गुरुजनोको मारनेकी अपेक्षा भिक्षा माँगना श्रेष्ठ है।
 ‘अपि’ कहनेका तात्पर्य है कि मेरे लिये गुरुजनोंको मारना भी निषिद्ध है और भिक्षा माँगना भी निषिद्ध है; परन्तु इन दोनोंमें भी गुरुजनोंको मारना मेरेको ज्यादा निषिद्ध दीखता है।

‘हत्वार्थकामास्तु रुधिरप्रदिग्धान्’—अब अर्जुन भगवान्‌के वचनोकी तरफ दृष्टि डालकर कहते हैं कि अगर मैं आपकी आज्ञाके अनुसार युद्ध करूँ, तो युद्धमें गुरुजनोकी हत्याके परिणाममें मैं उनके खूनसे सने हुए और जिनमें धन आदिकी कामना ही मुख्य है, ऐसे भोगोको ही तो भोगूँगा। मेरेको भोग ही तो मिलेंगे। उन भोगोके मिलनेसे मुक्ति थोड़े ही होगी। शान्ति थोड़े ही मिलेगी।

यहाँ ‘अर्थकामान्’ पद ‘भोगान्’ पदका ही विशेषण है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि भीष्म, द्रोण आदि गुरुजन धनके द्वारा ही कौरवोंसे बँधे हुए थे; अतः यहाँ ‘अर्थकामान्’ पदको ‘गुरुन्’ पदका विशेषण मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है। इसका उत्तर यह है कि ‘अर्थकी कामनावाले गुरुजन’—ऐसा अर्थ करना उचित नहीं है। कारण कि पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण आदि गुरुजन धनकी कामनावाले नहीं थे। वे तो दुर्योधनके वृत्तिभोगी थे, उन्होंने दुर्योधनका अन्न खाया था। अतः युद्धके समय दुर्योधनका साथ छोड़ना कर्तव्य न समझकर ही वे कौरवोंके पक्षमें खड़े हुए थे।

दूसरी बात, अर्जुन ने भीष्म, द्रोण आदिके लिये 'महानुभाव' पदका प्रयोग किया है। अतः ऐसे श्रेष्ठ भाववालोंको अर्थकी कामना वाले कैसे कहा जा सकता है। तात्पर्य है कि जो महानुभाव हैं, वे अर्थकी कामनावाले नहीं हो सकते और जो अर्थकी कामनावाले हैं, वे महानुभाव नहीं हो सकते। इस वास्ते यहाँ 'अर्थकामान्' पद 'भोगान्' पदका ही विशेषण हो सकता है।

विशेष बात —

भगवान् ने दूसरे-तीसरे श्लोकोमें अर्जुनके कल्याणकी दृष्टिसे ही कायरताको छोड़कर युद्धके लिये खड़ा होनेकी आज्ञा दी थी। परन्तु अर्जुन उल्टा ही समझे अर्थात् वे समझे कि भगवान् राज्यका भोग करनेकी दृष्टिसे ही युद्धकी आज्ञा देते हैं। पहले तो अर्जुनका युद्ध न करनेका एक ही पक्ष था, जिससे वे धनुष-बाण छोड़कर और शोकाविष्ट होकर रथके मध्यभागमें बैठ गये थे (१ । ४७)। परन्तु युद्ध करनेका पक्ष तो भगवान् के कहनेसे ही हुआ है। तात्पर्य है कि अर्जुनका भाव था कि हमलोग तो धर्मको जानते हैं, पर दुर्योधन आदि धर्मको नहीं जानते, इस वास्ते वे धन, राज्य आदिके लोभसे युद्ध करनेके लिये तैयार खड़े हैं। अब वही बात अर्जुन यहाँ अपने लिये कहते हैं कि अगर मैं भी आपकी आज्ञाके अनुसार युद्ध करूँ, तो परिणाममें गुरुजनोंके रक्तसे सने हुए धन, राज्य आदिको ही तो प्राप्त करूँगा। इस तरह अर्जुनको युद्ध करनेमें बुराई-ही-बुराई दिखायी दे रही है।

जो बुराई बुराईके रूपमें आती है, उसको मिटानेमें देरी नहीं लगती । परन्तु जो बुराई अच्छाईके रूपमें आती है, उसको मिटाना बड़ा मुश्किल हो जाता है; जैसे—सीताजीके सामने रावण और हनुमान्जीके सामने कालनेमि राक्षस आये तो उनको सीताजी और हनुमान् नहीं पहचान सके; क्योंकि उन दोनोंका वेश साधुओंका था । यहाँ अर्जुनके मनमें धर्मके रूपमें कर्तव्य-त्यागरूप बुराई आयी है; अतः इस बुराईको मिटानेमें भगवान्को भी बड़ा जोर पड़ रहा और समय लग रहा है ।

आजकल एकताके वहाने वर्ण-आश्रमकी मर्यादाको मिटानेकी कोशिश की जा रही है, तो यह बुराई एकतारूप अच्छाईके वेशमें आनेसे बुराईरूपसे नहीं दीख रही है । अतः वर्ण-आश्रमकी मर्यादा मिटनेसे परिणाममें लोगोका कितना पतन होगा, लोगोमें कितना असुरभाव आयेगा—इस तरफ दृष्टि ही नहीं जाती । ऐसे ही धनके वहाने लोग झूठ, कपट, बेईमानी, ठगी, विश्वासघात आदि-आदि दोषोको भी दोषरूपसे नहीं जान रहे हैं । यहाँ अर्जुनमें धर्मके रूपमें बुराई आयी है कि हम भीष्म, द्रोण आदि महानुभावोंको कैसे मार सकते हैं ? क्योंकि हम धर्मको जाननेवाले हैं । तात्पर्य है कि अर्जुनने जिसको अच्छाई माना है, वह वास्तवमें बुराई ही है, परन्तु उसमें मान्यता अच्छाईकी होनेसे वह बुराई नहीं दीख रही है ।

सम्बन्ध—

भगवद्गुणोंमें बड़ी विलक्षणता है कि वे अर्जुनके भीतर अपना प्रभाव डालते जा रहे हैं, जिसमें अर्जुनको अपने युद्ध न करनेके

निर्णयमें अधिक सन्देह होता जा रहा है । ऐसी अवस्थाको प्राप्त हुए अर्जुन अब आगेके श्लोकमें कहते हैं —

श्लोक—

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो

यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषाम-

स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

अथ—

हम यह भी नहीं जानते कि हमछोगोंके लिये युद्ध करना और न करना—इन दोनोंमेंसे कौन-सा अत्यन्त श्रेष्ठ है । और हमें इसका भी पता नहीं है कि हम उनको जीतेंगे अथवा वे हमारेको जीतेंगे । जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्रके सम्बन्धी हमारे सामने खड़े हैं ।

व्याख्या—

‘न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः’—मैं युद्ध करूँ अथवा न करूँ—इन दोनों बातोंका निर्णय मैं नहीं कर पा रहा हूँ । कारण कि आपकी दृष्टिमें तो युद्ध करना ही श्रेष्ठ है, पर मेरी दृष्टिमें गुरुजनोंको मारना पाप होनेके कारण युद्ध न करना ही श्रेष्ठ है । इन दोनों पक्षोंको सामने रखनेपर मेरे लिये कौन-सा पक्ष अत्यन्त श्रेष्ठ है—यह मैं नहीं जान पा रहा हूँ । इस प्रकार उच्युक्त पक्षोंमें अर्जुनके भीतर भगवान्का पक्ष और अपना पक्ष—दोनों समक्ष हो गये हैं ।

‘यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः’—अगर आपकी आज्ञाके

दब गया है; और दूसरी बात, मैं अपनी बुद्धिसे धर्मके विषयमें कुछ निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ । मेरी बुद्धिमें ऐसी मूढ़ता छा गयी है कि धर्मके विषयमें मेरी बुद्धि कुछ भी काम नहीं कर रही है ।

तीसरे श्लोकमें तो भगवान्ने अर्जुनको स्पष्टरूपसे आज्ञा दे दी थी कि 'हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको, कायरताको छोड़कर युद्धके लिये खड़ा हो जा' । इससे अर्जुनको धर्म-(कर्तव्य-) के विषयमें कोई सन्देह नहीं रहना चाहिये था । फिर भी सन्देह रहनेका कारण यह है कि अर्जुन विचार करते हैं—भगवान्ने युद्धके लिये खड़ा होनेके लिये तो कह दिया, पर किस दृष्टिसे कहा ? धर्मकी दृष्टिसे कहा कि मान-बड़ाई, सुख-आराम आदिकी दृष्टिसे कहा ? इसका मैं निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ ।

दूसरी बात, एक तरफ तो युद्धमें कुटुम्बका नाश करना, पूज्यजनोको मारना अधर्म (पाप) दीखता है और दूसरी तरफ युद्ध करना क्षत्रियका धर्म दीखता है । इस प्रकार कुटुम्बियोको देखते हुए युद्ध नहीं करना चाहिये और क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना चाहिये—इन दो बातोंको लेकर अर्जुन धर्मसंकेतमें पड़ गये । उनकी बुद्धि धर्मका निर्णय करनेमें कुण्ठित हो गयी । ऐसा होनेपर 'अभी इस समय मेरे लिये खास कर्तव्य क्या है ? मेरा धर्म क्या है ? इसका निर्णय करानेके लिये वे भगवान्से पूछते हैं—'पृच्छामि' ।

'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'—इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्ने कहा था कि तू जो कायरताके कारण युद्धसे

श्लोक ७]

निवृत्त हो रहा है, तेरा यह आचरण 'अनार्यजुष्ट' है अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष ऐसा आचरण नहीं करते, वे तो जिसमें अपना कल्याण हो, वही आचरण करते हैं। यह बात सुनकर अर्जुनके मनमें आया कि मेरेको भी वही करना चाहिये, जो श्रेष्ठ पुरुष किया करते हैं। इस प्रकार अर्जुनके मनमें कल्याणकी इच्छा जाग्रत् हो गयी और उसीको लेकर वे भगवान्से अपने कल्याणकी बात पूछते हैं कि जिससे मेरा निश्चित कल्याण हो जाय, ऐसी बात मेरेसे कहिये।

अर्जुनके हृदयमें हलचल (विषाद) होनेसे और अब यहाँ अपने कल्याणकी बात पूछनेसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य जिस स्थितिमें स्थित है, उसी स्थितिमें वह सन्तोष करता रहता है, तो "उसके भीतर अपने असली उद्देश्यकी जागृति नहीं होती। वास्तविक उद्देश्य—कल्याणकी जागृति तभी होती है, जब मनुष्य अपनी वर्तमान स्थितिसे असन्तुष्ट हो जाय, उस स्थितिमें रह न सके।

'शिष्यस्तेऽहम्'—अपने कल्याणकी बात पूछनेपर अर्जुनके मनमें यह भाव पैदा हुआ कि कल्याणकी बात तो गुरुजीसे पूछी जाती है, सारथिसे नहीं पूछी जाती। इस बातको लेकर अर्जुनके मनमें जो रथीपनका भाव था, जिसके कारण वे भगवान्को यह आज्ञा दे रहे थे कि 'हे अभ्युत ! मेरे रथको दोनो सेनाओंके बीचमें खड़ा करो', वह भाव मिट गया और अपने कल्याणकी बात पूछनेके लिये अर्जुन भगवान्के शिष्य हो जाते हैं और कहते हैं कि 'महाराज ! मैं आपका शिष्य हूँ, शिक्षा लेनेका पात्र हूँ, आप मेरे कल्याणकी बात कहिये'।

अनुसार युद्ध भी किया जाय तो हम उनको जीतेगे अथवा वे (दुर्योधनादि) हमारेको जीतेगे—इसका भी हमें पता नहीं है ।

यहाँ अर्जुनको अपने बलपर अविश्वास नहीं है, प्रत्युत भविष्यपर अविश्वास है; क्योंकि भविष्यमे क्या होनहार है—इसका किसीको क्या पता ?

‘यानेव हत्वा न जिजीविषामः’—हम तो कुटुम्बियोंको मारकर जीनेकी भी इच्छा नहीं रखते; भोग भोगनेकी, राज्य प्राप्त करके हुकुम चलानेकी बात तो बहुत दूर रही ! कारण कि अगर हमारे कुटुम्बी मारे जायेंगे तो हम जीकर क्या करेंगे ? अपने हाथसे कुटुम्बको नष्ट करके बैठे-बैठे चिन्ता-शोक ही तो करेंगे ! चिन्ता-शोक करने और वियोगका दुःख भोगनेके लिये हम जीना नहीं चाहते ।

‘तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः’—हम जिनको मारकर जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्रके सम्बन्धी हमारे सामने खड़े हैं । धृतराष्ट्रके सभी सम्बन्धी हमारे कुटुम्बी ही तो हैं । उन कुटुम्बियोंको मारकर हमारे जीनेको धिक्कार है !

सम्बन्ध—

अपने कर्तव्यका निर्णय करनेमें अपनेको असमर्थ पाकर अब अर्जुन व्याकुलतापूर्वक भगवान्‌के शरण होते हैं और उनसे अपना कर्तव्य पूछते हैं ।

श्लोक—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

अर्थ—

कायरताके दोषसे उपहत स्वभाववाला और धर्मके विषय में मोहित अन्तःकरणवाला मैं आपसे पूछता हूँ कि जो निश्चित श्रेष्ठ हो, वह मेरे लिये कहिये । मैं आपका शिष्य हूँ । आपके शरण हुए मेरेको शिक्षा दीजिये ।

व्याख्या—

‘कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः’*
—यद्यपि अर्जुन अपने मनमें युद्धसे सर्वथा निवृत्त होनेको सर्वश्रेष्ठ नहीं मानते थे; परन्तु पापसे बचनेके लिये उनको युद्धसे उपराम होनेके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं दीखता था । इस वास्ते वे युद्धमें उपराम होना चाहते थे और उपराम होनेको गुण ही मानते थे, कायरतारूप दोष नहीं । परन्तु भगवान् ने अर्जुनकी इस उपरतिको कायरता और हृदयकी तुच्छ दुर्बलता कहा तो भगवान् के उन निःसंदिग्ध वचनोंसे अर्जुनको ऐसा विचार हुआ कि युद्धसे निवृत्त होना मेरे लिये उचित नहीं है । यह तो एक तरहकी कायरता ही है, जो मेरे स्वभावके बिल्कुल विरुद्ध है: क्योंकि मेरे क्षात्र-स्वभावमें दौनता और पलायन (पीठ दिखाना)—ये दोनों ही नहीं हैं† । इस तरह भगवान् के द्वारा कथित कायरतारूप दोषको अपनेमें स्वीकार करते हुए अर्जुन भगवान् से कहते हैं कि एक तो कायरतारूप दोषके कारण मेरा क्षात्र-स्वभाव एक तरहसे

* यहाँ ‘चेतस्’ शब्द बुद्धिका वाचक है ।

† अर्जुनस्य प्रतिशे द्वे न दैन्यं न पलायनम् ।

दब गया है; और दूसरी बात, मैं अपनी बुद्धिसे धर्मके विषयमें कुछ निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ । मेरी बुद्धिमें ऐसी मूढ़ता छा गयी है कि धर्मके विषयमें मेरी बुद्धि कुछ भी काम नहीं कर रही है ।

तीसरे श्लोकमें तो भगवान्ने अर्जुनको स्पष्टरूपसे आज्ञा दे दी थी कि 'हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको, कायरताको छोड़कर युद्धके लिये खड़ा हो जा' । इससे अर्जुनको धर्म-(कर्तव्य-) के विषयमें कोई सन्देह नहीं रहना चाहिये था । फिर भी सन्देह रहनेका कारण यह है कि अर्जुन विचार करते हैं—भगवान्ने युद्धके लिये खड़ा होनेके लिये तो कह दिया, पर किस दृष्टिसे कहा ? धर्मकी दृष्टिसे कहा कि मान-बड़ाई, सुख-आराम आदिकी दृष्टिसे कहा ? इसका मैं निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ ।

दूसरी बात, एक तरफ तो युद्धमें कुटुम्बका नाश करना, पूज्यजनोको मारना अधर्म (पाप) दीखना है और दूसरी तरफ युद्ध करना क्षत्रियका धर्म दीखना है । इस प्रकार कुटुम्बियोंको देखते हुए युद्ध नहीं करना चाहिये और क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना चाहिये —इन दो बातोंको लेकर अर्जुन धर्मसंकटमें पड़ गये । उनकी बुद्धि धर्मका निर्णय करनेमें कुण्ठित हो गयी । ऐसा होनेपर 'अभी इस समय मेरे लिये खास कर्तव्य क्या है ? मेरा धर्म क्या है ? इसका निर्णय करानेके लिये वे भगवान्से पूछते हैं—'पृच्छामि' ।

'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'—इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्ने कहा था कि तू जो कायरताके कारण युद्धसे

निवृत्त हो रहा है, तेरा यह आचरण 'अनार्यजुष्ट' है अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष ऐसा आचरण नहीं करते, वे तो जिसमें अपना कल्याण हो, वही आचरण करते हैं। यह बात सुनकर अर्जुनके मनमें आया कि मेरेको भी वही करना चाहिये, जो श्रेष्ठ पुरुष किया करते हैं। इस प्रकार अर्जुनके मनमें कल्याणकी इच्छा जाग्रत हो गयी और उसीको लेकर वे भगवान्से अपने कल्याणकी बात पूछते हैं कि जिससे मेरा निश्चित कल्याण हो जाय, ऐसी बात मेरेसे कहिये।

अर्जुनके हृदयमें हलचल (विषाद) होनेसे और अब यहाँ अपने कल्याणकी बात पूछनेसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य जिस स्थितिमें स्थित है, उसी स्थितिमें वह सन्तोष करता रहता है, तो "उसके भीतर अपने असली उद्देश्यकी जागृति नहीं होती। वास्तविक उद्देश्य—कल्याणकी जागृति तभी होती है, जब मनुष्य अपनी वर्तमान स्थितिसे असन्तुष्ट हो जाय, उस स्थितिमें रह न सके।

'शिष्यस्तेऽहम्'—अपने कल्याणकी बात पूछनेपर अर्जुनके मनमें यह भाव पैदा हुआ कि कल्याणकी बात तो गुरुजीसे पूछी जाती है, सारथिसे नहीं पूछी जाती। इस, बातको लेकर अर्जुनके मनमें जो रथीपनका भाव था, जिसके कारण वे भगवान्को यह आज्ञा दे रहे थे कि 'हे अव्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करो', वह भाव मिट गया और अपने कल्याणकी बात पूछनेके लिये अर्जुन भगवान्के शिष्य हो जाते हैं और कहते हैं कि 'महाराज ! मैं आपका शिष्य हूँ, शिक्षा लेनेका पात्र हूँ, आप मेरे कल्याणकी बात कहिये'।

‘शाधि मां त्वां प्रपन्नम्’—गुरुजी तो उपदेश दे देंगे, जिस मार्गका ज्ञान नहीं है, उसका ज्ञान करा देंगे, पूरा प्रकाश दे देंगे, पूरी बात बता देंगे, पर मार्गपर तो स्वयं शिष्यको ही चढना पड़ेगा । अपना कल्याण तो शिष्यको ही करना पड़ेगा । मैं तो ऐसा नहीं चाहता कि भगवान् उपदेश दें और मैं उसका अनुष्ठान करूँ; क्योंकि उससे मेरा काम नहीं चलेगा अर्थात् अपने कल्याणका उद्योग मेरेको ही करना पड़ेगा, गुरुजी मेरा कल्याण थोड़े ही करेंगे ! इस वास्ते अपने कल्याणकी जिम्मेवारी मैं अपनेपर क्यों रखूँ ? गुरुजीपर ही क्यों न छोड़ दूँ ! जैसे केवल मँकि दूधपर ही निर्भर रहनेवाला बालक बीमार हो जाय, तो उसकी बिमारी दूर करनेके लिये ओषधि स्वयं माँको खानी पड़ती है, बालकको नहीं । इसी तरह मैं भी सर्वथा गुरुजीके ही शरण हो जाऊँ, गुरुजीपर ही निर्भर हो जाऊँ, तो मेरे कल्याणका पूरा दायित्व गुरुजीपर ही आ जायगा, स्वयं गुरुजीको ही मेरा कल्याण करना पड़ेगा—इस भावसे अर्जुन कहते हैं कि ‘मै आपके शरण हूँ’ मेरेको शिक्षा दीजिये ।

यहाँ अर्जुन ‘त्वां प्रपन्नम्’ पदोंसे भगवान्के शरण होनेकी बात कहते हैं, पर वास्तवमें सर्वथा शरण हुए नहीं हैं । अगर वे सर्वथा शरण हो जाते, तो फिर उनके द्वारा ‘शाधि माम्’ मेरेको शिक्षा दीजिये—यह कहना नहीं बनता; क्योंकि सर्वथा शरण होनेपर शिष्यका अपना कोई कर्तव्य रहता ही नहीं । दूसरी बात, आगे नवें श्लोकमें अर्जुन कहते हैं कि ‘मैं युद्ध नहीं करूँगा’—‘न योत्स्ये’ । अर्जुनकी यह बात भी शरणागतिके विरुद्ध पड़ती

है। कारण कि शरणागत होनेके बाद 'मैं युद्ध करूँगा या नहीं करूँगा ? क्या करूँगा और क्या नहीं करूँगा'—यह बात रहती ही नहीं। उसको यह पता ही नहीं रहता कि शरण्य क्या करायेंगे और क्या नहीं करायेंगे। उसका तो यही एक भाव रहता है कि अब शरण्य जो करायेंगे, वही करूँगा। अर्जुनकी इस कमीको दूर करनेके लिये ही आगे चलकर भगवान्‌को 'मामेकं शरणं ब्रज' (१८ । ६६) 'एक मेरी शरणमें आ जा'—ऐसा कहना पड़ा। फिर अर्जुनने भी 'करिष्ये वचनं तव' (१८ । ७३) 'आपकी आज्ञाका पालन करूँगा'—ऐसा कहकर पूर्ण शरणागतिको स्वीकार किया।

इस श्लोकमें अर्जुनने चार बातें कही हैं—(१) कर्पण्यदोषो..... धर्मसंमूढचेताः (२) यच्छ्रेयः स्याग्नि-
श्चितं ब्रूहि तन्मे (३) शिष्यस्तेऽहं (४) शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।
इनमेंसे पहली बातमें अर्जुन धर्मके विषयमें पूछते हैं, दूसरी बातमें अपने कल्याणके लिये प्रार्थना करते हैं, तीसरी बातमें शिष्य बन जाते हैं और चौथी बातमें शरणागत हो जाते हैं। अब इन चारों बातोंपर विचार किया जाय, तो पहली बातमें मनुष्य जिससे पूछता है, वह कहनेमें अथवा न कहनेमें स्वतन्त्र होता है। दूसरीमें, जिससे प्रार्थना करता है, उसके लिये कहना कर्तव्य हो जाता है। तीसरीमें, जिनका शिष्य बन जाता है, उन गुरुजीपर शिष्यको कल्याणका मार्ग बतानेका विशेष दायित्व आ जाता है। चौथीमें जिसके शरणागत हो जाता है, उस शरण्यको शरणागतका उद्धार

करना ही पड़ता है अर्थात् उसके उद्धारका उद्योग स्वयं शरण्यको करना पड़ता है ।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें अर्जुन भगवान्‌के शरणागत तो हो जाते हैं, पर उनके मनमें आता है कि भगवान्‌का तो युद्ध करानेका ही भाव है और मैं युद्ध करना अपने लिये धर्मयुक्त नहीं मानता हूँ । उन्होंने जैसे पहले 'उत्तिष्ठ' कहकर युद्धके लिये आज्ञा दी, ऐसे ही वे अब भी युद्ध करनेकी आज्ञा दे देंगे । दूसरी बात, शायद मैं अपने हृदयके भावोंको भगवान्‌के सामने पूरी तरह नहीं रख पाया हूँ । इन बातोंको लेकर अर्जुन आगेके श्लोकमें युद्ध न करनेके पक्षमें अपने हृदयकी अवस्थाका स्पष्टरूपसे वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-

द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।

अवाप्य

भूमावसपत्नमृद्धं

राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अर्थ—

पृथ्वीपर धन-धान्य-समृद्ध और निष्कण्टक राज्य तथा स्वर्गमें देवताओंका आधिपत्य मिल जाय, तो भी इन्द्रियोको सुखानेवाला मेरा जो शोक है, वह दूर हो जाय—ऐसा मैं नहीं देखता हूँ ।

व्याख्या—

[अर्जुन सोचते हैं कि भगवान्‌ ऐसा समझते होंगे कि अर्जुन युद्ध करेगा तो उसकी विजय होगी और विजय होनेपर

इसको राज्य मिल जायगा, जिससे इसके चिन्ता-शोक भिट जायँगे और सन्तोष हो जायगा । परन्तु शोकके कारण मेरी ऐसी दशा हो गयी है कि विजय होनेपर भी मेरा शोक दूर हो जाय—ऐसी बात मैं नहीं देखता ।]

‘अवाप्य भूमावसयन्मृद्धं राज्यम्’—अगर मेरेको धन-धान्यसे सम्पन्न और निष्कण्टक राज्य मिल जाय अर्थात् जिस राज्यमें प्रजा खूब सुखी हो, प्रजाके पास खूब धन-धान्य हो, किसी चीजकी कमी न हो और राज्यमें कोई वैरो भी न हो—ऐसा राज्य मिल जाय, तो भी मेरा शोक दूर नहीं हो सकता ।

‘पुराणामपि चाधिपत्यम्’—इस पृथ्वीके तुच्छ भोगोवाले राज्यकी तो बात ही क्या, इन्द्रका दिव्य भोगोंवाला राज्य भी मिल जाय, तो भी मेरा शोक, जलन, चिन्ता दूर नहीं हो सकती ।

अर्जुनने पहले अव्यायमें यह बात कही थी कि मैं न विजय चाहता हूँ, न राज्य चाहता हूँ और न सुख ही चाहता हूँ; क्योंकि उस राज्यसे क्या होगा ? उन भोगोंसे क्या होगा और उस जीनेसे क्या होगा ? जिनके लिये हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं; वे ही मरनेके लिये सामने खड़े हैं (१ । ३२-३३) । यहाँ अर्जुन कहते हैं कि पृथ्वीका धन-धान्य-सम्पन्न और निष्कण्टक राज्य मिल जाय तथा देवताओका आधिपत्य मिल जाय, तो भी मेरा शोक दूर नहीं हो सकता, मैं उनसे सुखी नहीं हो सकता ! वहाँ (१ । ३२-३३ में) तो कौटुम्बिक ममताकी वृत्ति ज्यादा होनेसे अर्जुनकी युद्धसे उपरति हुई है, पर यहाँ उनकी जो उपरति हो रही

है, वह अपने कल्याणकी वृत्ति पैदा होनेसे हो रही है। अतः वहाँकी उपरति और यहाँकी उपरतिमें बहुत अन्तर है।

‘न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोपणमिन्द्रियाणाम्’
 —जब कुटुम्बियोंके मरनेकी आशंकासे ही मेरेको इतना शोक हो रहा है, तो उनके मरनेपर मेरेको कितना शोक होगा ! यह शोक राज्य मिल जानेसे कैसे दूर होगा ? अगर मेरेको राज्यके लिये ही शोक होता तो वह राज्यके मिलनेसे मिट जाता; परन्तु कुटुम्बके नाशकी आशंकासे होनेवाला शोक राज्यके मिलनेसे कैसे मिटेगा ? शोकका मिटना तो दूर रहा, प्रत्युत शोक और बढ़ेगा; क्योंकि युद्धमें सब मरे जायेंगे, तो मिले हुए राज्यको कौन भोगेगा ? वह किसके काम आयेगा। अतः पृथ्वीवत् राज्य और स्वर्गका आधिपत्य मिलनेपर भी इन्द्रियोंको सुखानेवाला मेरा शोक दूर नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—

प्राकृत पदार्थोंके प्राप्त होनेपर भी मेरा शोक दूर हो जाय—
 ऐसा मैं नहीं देखता हूँ—ऐसा कहनेके बाद अर्जुनने क्या किया ?
 उसका वर्णन सत्रय आगेके श्लोक में करते हैं ?

श्लोक—

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

अर्थ—

संजय बोले—हे शत्रुतापन धृतराष्ट्र ! ऐसा कहकर निद्राको

जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् गाब्रिन्दसे 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', ऐसा स्पष्ट कहकर चुप हो गये ।

व्याख्या—

‘एवमुक्त्वा हृषीकेशं वभूव ह’—अर्जुनने अपना और भगवान्‌का—दोनो पक्षोको सामने रखकर उनपर विचार किया तो अन्तमें वे इसी निर्णयपर पहुँचे कि युद्ध करनेसे तो अधिक-से-अधिक राज्य प्राप्त हो जायगा, मान हो जायगा, संसारमें यश हो जायगा; परन्तु मेरे हृदयमें जो शोक है, चिन्ता है, दुःख है, वे दूर नहीं होंगे । इस वास्ते अर्जुनको युद्ध न करना ही ठीक मालूम हुआ ।

यद्यपि अर्जुन भगवान्‌को बाणका आदर करते हैं और उसको मानना भी चाहते हैं; परन्तु उनके मोतार युद्ध करनेकी बात ठीक-ठीक जँच नहीं रहा है । इस वास्ते अर्जुन अपने मोतार जँचो हुई बातको ही यहाँ स्पष्टरूपसे, साफ-साफ कह देते हैं कि ‘मैं युद्ध नहीं करूँगा ।’ इस प्रकार जब अपनी बात, अपना निर्णय भगवान्‌से साफ-साफ कह दिया, तो अब भगवान्‌से कहनेके छिये और कोई बात बाकी नहीं रही, इस वास्ते अर्जुन चुप हो जाते हैं ।

सम्बन्ध—

जब अर्जुनने युद्ध करनेके लिये साफ मना कर दिया, तो उसके बाद क्या हुआ ? इसको संजय आगेके श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

अर्थ—

हे भरतवंशोद्भव धृतराष्ट्र ! दोनों सेनाओंके मध्यभागमें विपाद करते हुए उस अर्जुनके प्रति हँसते हुए-से भगवान् हर्षावेश ये (आगे कहे जानेवाले) वचन बोले ।

व्याख्या—

‘तमुवाच हर्षीकेशः’..... ‘विपीदन्तमिदं वचः’— अर्जुनने बड़ी शूरवीरता और उत्साह-पूर्वक योद्धाओंको देखनेके लिये भगवान्से दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करनेके लिये कहा । अब वहींपर अर्थात् दोनों सेनाओंके बीचमें अर्जुन विपादमग्न हो गये । वास्तवमें तो होना चाहिये था कि वे जिस उद्देश्यसे आये थे, उस उद्देश्यसे युद्धके लिये खड़े हो जाते । परन्तु उस उद्देश्यको छोड़कर अर्जुन चिन्ता-शोकमें फँस गये । अतः अब दोनों सेनाओंके बीचमें ही भगवान् शोकमग्न अर्जुनको उपदेश देना आरम्भ करते हैं ।

‘प्रहसन्निव’ (विशेषतासे हँसते हुएकी तरह) का तात्पर्य है कि अर्जुनके भाव बदलनेको देखकर अर्थात् पहले जो युद्ध करनेका भाव था, वह अब विपादमें बदल गया—इसको देखकर भगवान्को हँसी आ गयी । दूसरी बात, अर्जुनने पहले (२। ७ में) कहा था कि मैं आपके शरण हूँ, मेरेको शिक्षा दीजिये अर्थात् मैं युद्ध करूँ कि न करूँ, मेरेको क्या करना चाहिये—इसकी शिक्षा दीजिये; परन्तु यहाँ मेरे कुछ बोले बिना अपनी तरफसे ही निश्चय कर लिया कि ‘मैं युद्ध नहीं करूँगा’—यह देखकर भगवान्को

हँसी आ गयी । कारण कि शरणागत होनेपर 'मैं क्या करूँ और क्या नहीं करूँ' आदि कुछ भी बोलनेका अधिकार नहीं रहता । उसको तो इतना ही अधिकार रहता है कि शरण्य जो काम कहता है, वही काम करे । अर्जुन भगवान्‌के शरण होनेके बाद 'मैं युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा कहकर एक तरहसे शरणागत होनेसे हट गये । इस बातको लेकर भगवान्‌को हँसी आ गयी । 'इव' का तात्पर्य है कि जोरसे हँसी आनेपर भी भगवान्‌ मुस्कराते हुए बोले ।

जब अर्जुनने यह कह दिया कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो भगवान्‌को यही कह देना चाहिये था कि तेरी मरजी आये, वैसा कर—'यथेच्छसि तथा कुरु' । परन्तु भगवान्‌ने यही समझा कि मनुष्य जब चिन्ता-शोकसे विकल हो जाता है, तो वह अपने कर्तव्यका निर्णय न कर सकनेके कारण कभी कुछ तो कभी कुछ बोल उठता है । यही दशा अर्जुनकी हो रही है । अतः भगवान्‌के हृदयमें अर्जुनके प्रति अत्यधिक स्नेह होनेके कारण कृपालुता उमड़ पड़ी । कारण कि भगवान्‌ साधकके वचनोंकी तरफ ध्यान न देकर उसके भावकी तरफ ही देखते हैं । इसलिये भगवान्‌ अर्जुनके 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' इस वचनकी तरफ ध्यान न देकर (आगेके श्लोकसे) उपदेश आरम्भ कर देते हैं । जो वचनमात्रसे भी भगवान्‌के शरण हो जाता है, भगवान्‌ उसको स्वीकार कर लेते हैं । भगवान्‌के हृदयमें प्राणियोंके प्रति कितनी दयालुता है ।

'हृषीकेश' कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌ अन्तर्यामी हैं अर्थात् प्राणियोंके भीतरी भावोंको जाननेवाले हैं । भगवान्‌ अर्जुनके

भीतरी भावोंको जानते हैं कि अभी तो कौटुम्बिक मोहके वेगके कारण और राज्य मिलनेसे अपना शोक मिटता न दीखनेके कारण यह कह रहा है कि 'मै युद्ध नहीं करूँगा'; परन्तु जब इसको स्वयं चेत होगा तो यह बात टहरेगी नहीं और मै जैसा कहूँगा वैसा ही यह करेगा ।

‘इदं वचः उवाच’ पदोंमें केवल ‘उवाच’ कहनेसे ही काम चल सकता था; वयोकि ‘उवाच’ के अन्तर्गत ही ‘वचः’ पदका अर्थ आ जाता है । अतः ‘वचः’ पद देना पुनरुक्ति-दोष दीखता है । परन्तु यह पुनरुक्ति-दोष नहीं है, प्रायुत इसमें एक विशेष भाव भरा हुआ है । अभी अगले श्लोकसे भगवान् जिस रहस्यमय ज्ञानको प्रकट करके सरलतारे, सुबोध भाषामें समझाते हुए बोलेंगे, उसकी तरफ लक्ष्य करनेके लिये यहाँ ‘वचः’ पद दिया गया है ।

सम्बन्ध—

शोकाविष्ट अर्जुनको शोक-निवृत्तिका उपदेश देनेके लिये भगवान् आगेका प्रकरण कहते हैं ।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

अर्थ—

श्रीभगवान् बोले—तुमने शोक न करनेयोग्यका शोक किया है और पण्डिताईकी बातें कह रहे हो; परन्तु जिनके प्राण चले

गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये पण्डितलोग शोक नहीं करते ।

व्याख्या—

[मनुष्यको शोक तब होता है, जब वह संसारके प्राणी-पदार्थोंमें दो भाग कर लेना है कि ये मेरे हैं और ये मेरे नहीं हैं; ये मेरे निजी कुटुम्बी हैं और ये मेरे निजी कुटुम्बी नहीं हैं; ये हमारे वर्णके हैं और ये हमारे वर्णके नहीं हैं; ये हमारे आश्रमके हैं और ये हमारे आश्रमके नहीं हैं; ये हमारे पक्षके हैं और ये हमारे पक्षके नहीं हैं । जो हमारे होते हैं, उनमें ममता, कामना, प्रियता, आसक्ति हो जाती है । इन ममता, कामना आदिसे ही शोक चिन्ता, भय, उद्वेग, हलचल, सन्ताप आदि दोष पैदा होते हैं । ऐसा कोई भी दोष, अनर्थ नहीं है, जो ममता, कामना आदिसे पैदा न होता हो—यह सिद्धान्त है ।

गीतामें सबसे पहले धृतराष्ट्रने कहा कि मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने युद्धभूमिमें क्या किया ? यद्यपि पाण्डव धृतराष्ट्रको अपने पितासे भी अधिक आदरदृष्टिसे देखते थे, तो भी धृतराष्ट्रके मनमें अपने पुत्रोंके प्रति ममता थी । अतः उनका अपने पुत्रोंमें और पाण्डवोंमें भेदभावपूर्वक पक्षपात था कि ये मेरे हैं और ये मेरे नहीं हैं ।

जो ममता धृतराष्ट्रमें थी, वही ममता अर्जुनमें भी पैदा हुई । परन्तु अर्जुनकी वह ममता धृतराष्ट्रकी ममताके समान नहीं थी । अर्जुनमें धृतराष्ट्रकी तरह पक्षपात नहीं था, अतः वे सभीको स्वजन कहते हैं—‘दृष्ट्वेमं स्वजनम्’ (१ । २८), और दुर्योधन आदि

को भी खजन कहते हैं—‘स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव’ (१ । ३७) । तात्पर्य है कि अर्जुनकी सम्पूर्ण कुरुवंशिषों-में ममता थी और उस ममताके कारण ही उनके मरनेकी आशंकासे अर्जुनको शोक हो रहा था । इस शोकको मिटानेके लिये भगवान्ने अर्जुनको गीता का उपदेश दिया है, जो इस ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ होता है इसके अन्तमें भगवान् इसी शोकको अनुचित बताते हुए कहेंगे कि तू केवल मेरा ही आश्रय ले और शोक मत कर--‘मा शुचः’ (१८ । ६६) । कारण कि संसार-का आश्रय लेनेसे ही शोक होता है और अनन्यभावसे मेरा आश्रय लेनेसे तेरे शोक, चिन्ता आदि सब मिट जायेंगे ।]

व्याख्या--

‘अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्’—संसारमात्रमें दो चीजें हैं—सत् और असत्, शरीरी और शरीर । इन दोनोंमें शरीरी तो अविनाशी है और शरीर विनाशी है । ये दोनों ही अशोच्य हैं । अविनाशीका कभी विनाश नहीं होता, इसलिये उसके लिये शोक करना बनता नहीं; और विनाशीका विनाश होता ही है, वह एक क्षण भी स्थायीरूपसे नहीं रहता, इसलिये उसके लिये भी शोक करना बनता नहीं । तात्पर्य हुआ कि शोक करना न तो शरीरीको लेकर बन सकता है और न शरीरोंको लेकर ही बन सकता है । शोकमें तो केवल अविवेक—मूर्खता ही कारण है ।

मनुष्यके सामने जन्मना-मरना, लाभ-हानि आदिके रूपमें जो कुछ परिस्थिति आती है, वह प्रारब्धका अर्थात् अपने किये हुए

कर्मोंका ही फल है । उस अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको लेकर शोक करना, सुखी-दुःखी होना केवल मूर्खता ही है । कारण कि परिस्थिति चाहे अनुकूल आये, चाहे प्रतिकूल आये, उसका आरम्भ और अन्त होता है अर्थात् वह परिस्थिति पहले भी नहीं थी और अन्तमें भी नहीं रहेगी । जो वस्तु, परिस्थिति आदिमें और अन्तमें नहीं होती, वह बीचमें एक क्षण भी स्थायी नहीं होती । अगर स्थायी होती तो मिटती कैसे ? और मिटती है तो स्थायी कैसे ? ऐसी प्रतिक्षण मिटनेवाली अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको लेकर ईर्ष, शोक करना, सुखी-दुःखी होना केवल मूर्खता है ।

‘प्रज्ञावादांश्च भाषसे’—एक तरफ तो तू पाण्डिताईकी बातें कर रहा है और दूसरी तरफ शोक भी कर रहा है । इस वास्ते तू केवल कोरी बातें बनाता है, वास्तवमें तू पण्डित नहीं है; क्योंकि वास्तवमें जो पण्डित होते हैं, वे किसीके लिये भी कभी शोक नहीं करते ।

कुलका नाश होनेसे कुल-धर्म नष्ट हो जायगा । धर्मके नष्ट होनेपर स्त्रियाँ दूषित हो जायँगी, जिससे वर्णसंकर पैदा होगा । वह वर्णसंकर कुलघातियोंको और उनके कुलको नरकोंमें ले जानेवाला होगा, पिण्ड और गानी न मिलनेसे उनके पितरोंका भी पतन हो जायगा । इस प्रकार तेरी पाण्डिताईकी बातोंसे भी यही सिद्ध होता है कि शरीर नाशवान् है और शरीरी अविनाशी है । अगर शरीरी स्वयं अविनाशी न होता, तो कुलघाती और कुलके नरकोंमें जानेका भय नहीं होता, पितरोंका पतन होनेकी

चिन्ता नहीं होती । तेरेको कुलकी और पितरोंको चिन्ता होती है, उनका पतन होनेका भय होता है, तो इससे सिद्ध होता है कि शरीर नाशवान् है और उसमें रहनेवाला शरीरो नित्य है । अतः शरीरोंके नाशको लेकर तेरा शोक करना अनुचित है

‘गतासूनगतासूंश्च’—सबके पिण्ड-प्राणका वियोग अवश्यम्भावी है । उनमेंसे किसीके पिण्ड प्राणका वियोग हो गया है और किसीका होनेवाला है । अतः उनके लिये शोक नहीं होना चाहिये । तुमने जो शोक किया है, यह तुम्हारी गलती है ।

जो मर गये हैं, उनके लिये शोक करना तो महान् गलती है । कारण कि मरे हुए प्राणियोंके लिये शोक करनेसे उन प्राणियोंको दुःख भोगना पड़ता है । जैसे मृतात्माके लिये जो पिण्ड और जल दिया जाता है, वह उसको परलोकमें मिट जाता है, ऐसे ही मृतात्माके लिये जो कफ और आँसू बहाते हैं, वे मृतात्माको परवश होकर खाने-पीने पड़ते हैं* । अतः मृतात्माके लिये कभी शोक नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उसके लिये शास्त्रोक्त पिण्ड, श्राद्ध आदि कर्म करने चाहिये । ऐसे ही जो अभी जी रहे हैं, उनके

*(१) श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो मुङ्क्ते यतोऽवशः ।

तस्मान्न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याश्च शक्तितः ॥

(पञ्चतन्त्र, मित्रभेद २६५)

(२) मृतानां बान्धा ये तु मुञ्चन्त्यश्रूणि भूतले ।

पिबन्त्यश्रूणि तान्यद्वा मृताः प्रेताः परत्र वै ॥

(स्कन्दपुराण, ब्राह्म० सेतु० ४८ । ४२)

लिये भी शोक नहीं करना चाहिये । उनका तो पालन-पोषण करना चाहिये, प्रबन्ध करना चाहिये । उनकी क्या दशा होगी ? उनका भरण-पोषण कैसे होगा ? उनकी सहायता कौन करेगा ? आदि चिन्ता, शोक कभी नहीं करना चाहिये; क्योंकि चिन्ता-शोक करनेसे कोई फायदा नहीं है ।

मेरे शरीरके अङ्ग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है आदि विकारोंके पैदा होनेमें मूल कारण है—शरीरके साथ एकता मानना । कारण कि शरीरके साथ एकता माननेसे ही शरीरका पालन-पोषण करनेवालोंके साथ अपनापन हो जाता है और उस अपनेपनके कारण ही कुटुम्बियोंके मरनेकी आशंकासे अर्जुनके मनमें चिन्ता-शोक हो रहा है तथा चिन्ता-शोकसे ही अर्जुनके शरीरमें उपर्युक्त विकार हो रहे हैं । इसमें भगवान् ने 'गतासून्' और 'अगतासून्' के शोकको ही हेतु बताया है । जिनके प्राण चले गये हैं, वे 'गतासून्' हैं और जिनके प्राण नहीं गये हैं, वे 'अगतासून्' हैं । 'पिण्ड और जल न मिळनेसे पितरोका पतन हो जाता है' (१ । ४२)—यह अर्जुनकी 'गतासून्' की चिन्ता है; और 'जिनके लिये हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं, वे ही प्राणोंकी और धनकी आशा छोड़कर युद्धमें खड़े हैं' (१ । ३३)—यह अर्जुनकी 'अगतासून्' की चिन्ता है । ये दोनों चिन्ताएँ शरीरको लेकर ही हो रही हैं; अतः ये दोनों चिन्ताएँ धातुरूपसे एक ही हैं । कारण कि 'गतासून्' और 'अगतासून्' दोनों ही नाशवान् हैं ।

‘गतासूनु’ और ‘अगतासूनु,—इन दोनोंके लिये कर्तव्य-कर्म करना चिन्ताकी बात नहीं है । ‘गतासूनु’ के लिये पिण्ड-पानी देना, श्राद्ध-तर्पण करना—यह कर्तव्य है और ‘अगतासूनु’ के लिये व्यवस्था कर देना, निर्वाहका प्रबन्ध कर देना—यह कर्तव्य है । कर्तव्य चिन्ताका विषय नहीं होता, प्रत्युत विचारका विषय होता है । विचारसे कर्तव्यका बोध होता है और चिन्तासे विचार नष्ट हो जाता है* ।

‘नानुशोचन्ति पण्डिताः’—सत्-असत् विवेकवती बुद्धिका नाम ‘पण्डा’ है । वह ‘पण्डा’ जिनकी विकसित हो गयी है अर्थात् जिनको सत्-असत्का स्पष्टतया विवेक हो गया है, वे पण्डित हैं । ऐसे पण्डितोंको सत्-असत्को लेकर शोक नहीं होता; क्योंकि सत्को सत् माननेसे शोक नहीं होता और असत्को असत् माननेसे भी शोक नहीं होता । स्वयं सत्-स्वरूप है और बदलनेवाला शरीर असत्-स्वरूप है । असत्को सत् मान लेनेसे ही शोक होता है । अर्थात् ये शरीर आदि ऐसे ही बने रहे, मरे नहीं—इस बातको लेकर ही होता है । सत्को लेकर कभी चिन्ता-शोक होता ही नहीं ।

सम्बन्ध—

सत्-तत्त्वको लेकर शोक करना अनुचित है—इस बातको लेकर अगले दो श्लोकोंमें शरीरीकी नित्यताका वर्णन करते हैं ।

* चिन्ताज्वरो मनुष्याणा क्षुधां निद्रां बलं हरेत् ।

रूपमुत्साह बुद्धिं श्रीं जीवितं च न सशयः ॥

(स्कन्दपुराण, का० पू० १ । ६९)

श्लोक—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

अर्थ—

किसी कालमें मैं नहीं था और तू नहीं था तथा ये राजालोग नहीं थे, यह बात भी नहीं है; और इसके बाद मैं, तू और राजालोग—ये सभी नहीं रहेंगे, यह बात भी नहीं है ।

व्याख्या—

[मात्र संसारमें दो ही तत्त्व हैं—शरीरी (सत्) और शरीर (असत्) । ये दोनों ही अशोच्य हैं अर्थात् शोक न शरीरीको लेकर हो सकता है और न शरीरको लेकर ही हो सकता है । कारण कि शरीरीका कभी अभाव होता ही नहीं और शरीर कभी रह सकता ही नहीं । इन दोनोंके दिये पूर्वश्लोकमें जो 'अशोच्यान्' पद आया है, उसकी व्याख्या अब शरीरीकी नित्यता और शरीरकी अनित्यताके रूपमें करते हैं ।]

'न त्वेवाहं जातु जनाधिपाः'—लोगोंकी दृष्टिसे मैंने जबतक अवतार नहीं लिया था, तबतक मैं इस रूपसे (कृष्णरूपसे) सबके सामने प्रकट नहीं था और तेरा जबतक जन्म नहीं हुआ था, तबतक तू भी इस रूपसे (अर्जुनरूपसे) सबके सामने प्रकट नहीं था तथा इन राजाओंका भी जबतक जन्म नहीं हुआ था, तबतक ये भी इस रूपसे (राजारूपसे) सबके सामने प्रकट नहीं थे । परन्तु मैं, तू और ये राजालोग इस रूपसे प्रकट न होनेपर भी पहले नहीं थे—ऐसी बात नहीं है ।

यहाँ 'मै, तू और ये राजालोग पहले थे'—ऐसा कहनेसे ही काम चल सकता था, पर ऐसा न कहकर 'मै, तू और ये राजालोग पहले नहीं थे, ऐसी बात नहीं'—ऐसा कहा गया है। इसका कारण यह है कि 'पहले नहीं थे ऐसी बात नहीं, ऐसा कहनेसे पहले हम सब जरूर थे,—यह बात दृढ़ हो जाती है। तात्पर्य है कि नित्य-तत्त्व सदा ही नित्य है। इसका कभी अभाव था ही नहीं। 'जातु' कहनेका तात्पर्य है कि भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें तथा किसी भी देश, परिस्थिति, अवस्था, घटना, वस्तु आदिमें नित्य-तत्त्वका किञ्चिन्मात्र भी अभाव नहीं हो सकता।

यहाँ 'अहम्' पद देकर भगवान् ने एक विलक्षण बात कही है। आगे चौथे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान् ने अर्जुनसे कहा है कि 'मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हुए हैं, पर उनको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता'। इस प्रकार भगवान् ने अपना ईश्वरपना प्रकट करके जीवोंसे अपनेको अलग बताया है। परन्तु यहाँ भगवान् जीवोंके साथ अपनी एकता बता रहे हैं। इसका तात्पर्य है कि वहाँ (४ । ५में) भगवान् का आशय अपनी महत्ता, विशेषता प्रकट करनेमें है और यहाँ भगवान् का आशय तात्त्विक दृष्टिसे नित्य-तत्त्वको जनानेमें है। अतः यहाँ भगवान् ने तात्त्विक दृष्टिसे अपने लिये 'अहम्' शब्दका प्रयोग किया है।

'न चैव'.....'वयमतः परम्'—भविष्यमें शरीरोंकी यह अवस्थाएँ नहीं रहेंगी और एक दिन ये शरीर भी नहीं रहेंगे; परन्तु ऐसी अवस्थामें भी हम सब नहीं रहेगे—यह बात नहीं है अर्थात् हम सब

जखर रहेंगे । कारण कि नित्य-तत्त्वका कभी अभाव था नहीं और होगा भी नहीं ।

मै, तू और राजायोग—हम सभी पहले नहीं थे, यह बात भी नहीं है और आगे नहीं रहेंगे, यह बात भी नहीं है । इस प्रकार भूत और भविष्यकी बात तो भगवान् ने कह दी, पर वर्तमानकी बात भगवान् ने नहीं कही । इसका कारण यह है कि शरीरोंकी दृष्टिसे तो हम सब वर्तमानमें प्रत्यक्ष ही हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं है । इस वास्ते 'हम सब अभी नहीं हैं' यह बात नहीं है—ऐसा कहनेकी जरूरत नहीं है । अगर तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय, तो हम सभी वर्तमानमें हैं और ये शरीर प्रतिक्षण बदल रहे हैं—ऐसा हमें वर्तमानमें शरीरोंसे अलगपनेका अनुभव करना चाहिये । तात्पर्य है कि जैसे भूत और भविष्यमें अपनी सत्ताका अभाव नहीं है, ऐसे ही वर्तमानमें भी अपनी सत्ताका अभाव नहीं है—इसका अनुभव करना चाहिये ।

जैसे प्रत्येक प्राणीको नींद खुलनेसे पहले भी यह अनुभव रहता है कि 'अभी हम हैं' और नींद खुलनेपर भी यह अनुभव रहता है कि 'अभी हम हैं', तो नींदकी अवस्थामें भी हम वैसे-के-वैसे थे । केवल बाह्य जाननेकी सामग्रीका अभाव था, हमारा अभाव नहीं था । ऐसे ही मै, तू और राजायोग—हम सबके शरीर पहले भी नहीं थे और बादमें भी नहीं रहेंगे तथा अभी भी शरीर प्रतिक्षण नाशकी ओर जा रहे हैं; परन्तु हमारी सत्ता पहले भी थी, पीछे भी रहेगी और अभी भी वैसी-की-वैसी ही है ।

हमारी सत्ता कालातीत तत्त्व है; क्योंकि हम उस कालके भी ज्ञाता हैं अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान—ये तीनों काल हमारे जाननेमें आते हैं । उस कालातीत तत्त्वको समझानेके लिये ही भगवान् ने यह श्लोक कहा है ।

विशेष बात—

मै, तू और राजालोग पहले नहीं थे—यह बात नहीं, और आगे नहीं रहेंगे—यह बात भी नहीं, ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि जब ये शरीर नहीं थे, तब भी हम सब थे और जब ये शरीर नहीं रहेंगे, तब भी हम रहेंगे अर्थात् ये सब शरीर तो हैं नाशवान् और हम सब हैं अविनाशी । ये शरीर पहले नहीं थे और आगे नहीं रहेंगे—इससे शरीरोंकी अनित्यता सिद्ध हुई और हम सब पहले थे और आगे रहेंगे—इससे सबके स्वरूपकी नित्यता सिद्ध हुई । इन दो बातोंसे यह एक सिद्धान्त सिद्ध होता है कि जो आदि और अन्तमें रहता है, वह मध्यमें भी रहता है; तथा जो आदि और अन्तमें नहीं रहता, वह मध्यमें भी नहीं रहता ।

जो आदि और अन्तमें नहीं रहता, वह मध्यमें कैसे नहीं रहता; क्योंकि वह तो हमें दीखता है ? इसका उत्तर यह है कि जिस दृष्टिसे अर्थात् जिन मन, बुद्धि और इन्द्रियोसे दृश्यका अनुभव हो रहा है, उन मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित वह दृश्य प्रतिक्षण बदल रहा है । वे एक क्षण भी स्थायी नहीं हैं । ऐसा होनेपर भी जब स्वयं दृश्यके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब वह द्रष्टा अर्थात् देखनेवाला बन जाता है । जब देखनेके साधन (मन-बुद्धि-

इन्द्रियाँ) और दृश्य (मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके विषय) — ये सभी एक क्षण भी स्थायी नहीं हैं, तो देखनेवाला स्थायी कैसे सिद्ध होगा ? तात्पर्य है कि देखनेवालेकी संज्ञा तो दृश्य और दर्शनके सम्बन्धसे ही है । दृश्य और दर्शनसे सम्बन्ध न हो, तो देखनेवालेकी कोई संज्ञा नहीं होती, प्रत्युत उसका जो आधाररूप नित्य-तत्त्व है, वही रह जाता है । उस नित्य-तत्त्वको हम सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रणयका आधार और सम्पूर्ण प्रतीतियोंका प्रकाशक कह सकते हैं । परन्तु ये आधार और प्रकाशक नाम भी आधेय और प्रकाश्यके सम्बन्धसे ही है । आधेय और प्रकाश्यके न रहनेपर भी उसकी सत्ता ज्यों-की-त्यों ही है । उस सत्य-तत्त्वकी तरफ जिसकी दृष्टि है, उसको शोक कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता । इसी दृष्टिसे मैं, तू और राजालोग स्वरूपसे अशोच्य हैं ।

श्लोक —

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

अर्थ—

देहधारीके इस मनुष्यशरीरमें जैसे बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही देहान्तरकी प्राप्ति होती है, उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता ।

व्याख्या—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे* कौमारं यौवनं जरा'—शरीरधारीके

* कुमार, युवा और वृद्धावस्था तो मात्र शरीरधारियोंके शरीरोंकी होती है, परन्तु यहाँ 'अस्मिन् देहे' पदोंमें 'देह' शब्द मनुष्यशरीरका वाचक मानना चाहिये ।

शरीरमें पहले बाल्यावस्था आती है, फिर युवावस्था आती है और फिर वृद्धावस्था आती है । तात्पर्य है कि शरीरमें कभी एक अवस्था नहीं रहती, उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है ।

यहाँ शरीरधारीके इस शरीरमें—ऐसा कहनेसे सिद्ध होता है कि शरीरी अलग है और शरीर अलग है । शरीरी द्रष्टा है और शरीर दृश्य है । अतः शरीरमें बालकपन आदि अवस्थाओंका जो परिवर्तन है, वह परिवर्तन शरीरीमें नहीं है ।

‘तथा देहान्तरप्राप्तिः’—जैसे शरीरकी कुपार, युवा आदि अवस्थाएँ होती हैं, ऐसे ही देहान्तरको अर्थात् दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है । जैसे स्थूलशरीर बालकसे जवान और जवानसे बूढ़ा हो जाता है, तो इन अवस्थाओंके परिवर्तनको लेकर कोई शोक नहीं होता, ऐसे ही शरीरी एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है, तो इस विषयमें भी शोक नहीं होना चाहिये । जैसे स्थूलशरीरके रहते-रहते कुमार, युवा आदि अवस्थाएँ होती हैं, ऐसे ही सूक्ष्म और कारण-शरीरके रहते-रहते देहान्तरकी प्राप्ति होती है अर्थात् जैसे बालकपन, जवानी आदि स्थूलशरीरकी अवस्थाएँ हैं, ऐसे देहान्तरकी प्राप्ति (मृत्युके बाद दूसरा शरीर धारण करना) सूक्ष्म और कारण-शरीरकी अवस्था है ।

स्थूलशरीरके रहते-रहते कुमार आदि अवस्थाओंका परिवर्तन होता है—यह तो स्थूल दृष्टि है । सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो अवस्थाओंकी तरह स्थूलशरीरमें भी परिवर्तन होता रहता है । बाल्यावस्थामें जो शरीर था, वह युवावस्थामें नहीं है ।

वास्तवमें ऐसा कोई भी क्षण नहीं है, जिस क्षणमें स्थूलशरीरका परिवर्तन न होता हो । ऐसे ही सूक्ष्म और कारण-शरीरमें भी प्रति-क्षण परिवर्तन होता रहता है; जो देहान्तररूपसे स्पष्ट देखनेमें आता है । देहान्तरकी प्राप्ति होनेपर स्थूलशरीर तो छूट जाता है, पर मुक्तिसे पहले सूक्ष्म और कारण-शरीर नहीं छूटते । जबतक मुक्ति न हो, तबतक सूक्ष्म और कारण-शरीरके साथ सम्बन्ध बना रहता है ।

अब विचार यह करना है कि स्थूलशरीरका तो हमें ज्ञान होता है, पर सूक्ष्म और कारण-शरीरका हमें ज्ञान नहीं होता । अतः जब सूक्ष्म और कारण-शरीरका ज्ञान भी नहीं होता, तो उनके परिवर्तन-का ज्ञान हमें कैसे हो सकता है । स्थूलशरीरका ज्ञान भी उसकी अवस्थाओंको लेकर होता है । ऐसे ही सूक्ष्म और कारण-शरीरका ज्ञान भी उसकी अवस्थाओंको लेकर होता है । स्थूलशरीरकी 'जाग्रत' सूक्ष्मशरीरकी 'स्वप्न' और कारणशरीरकी 'सुषुप्ति'-अवस्था मानी जाती है । मनुष्य बाल्यावस्थामें अपनेको स्वप्नमें भी बालक देखता है, युवावस्थामें स्वप्नमें युवा देखता है और वृद्धावस्थामें स्वप्नमें वृद्ध देखता है । इससे सिद्ध हो गया कि स्थूलशरीरके साथ-साथ सूक्ष्म-शरीरका भी परिवर्तन होता है । ऐसे ही सुषुप्ति-अवस्था बाल्या-वस्थामें ज्यादा होती है, युवावस्थामें वह कम होती है, और वृद्धा-वस्थामें वह बहुत कम होती है, तो इससे कारणशरीरका परिवर्तन भी सिद्ध हो गया । दूसरी बात, बाल्यावस्था और युवावस्थामें नींद लेनेपर शरीर और इन्द्रियोंमें जैसी ताजगी आती है, वैसी ताजगी

शरीरमें पहले बाल्यावस्था आती है, फिर युवावस्था आती है और फिर वृद्धावस्था आती है । तात्पर्य है कि शरीरमें कभी एक अवस्था नहीं रहती, उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है ।

यहाँ शरीरधारीके इस शरीरमें—ऐसा कहनेसे सिद्ध होता है कि शरीरी अलग है और शरीर अलग है । शरीरी द्रष्टा है और शरीर दृश्य है । अतः शरीरमें बालकपन आदि अवस्थाओंका जो परिवर्तन है, वह परिवर्तन शरीरीमें नहीं है ।

‘तथा देहान्तरप्राप्तिः’—जैसे शरीरकी कुपार, युवा आदि अवस्थाएँ होती हैं, ऐसे ही देशान्तरको अर्थात् दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है । जैसे स्थूलशरीर बालकसे जवान और जवानसे बूढ़ा हो जाता है, तो इन अवस्थाओंके परिवर्तनको लेकर कोई शोक नहीं होता, ऐसे ही शरीरी एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है, तो इस विषयमें भी शोक नहीं होना चाहिये । जैसे स्थूलशरीरके रहते-रहते कुमार, युवा आदि अवस्थाएँ होती हैं, ऐसे ही सूक्ष्म और कारण-शरीरके रहते-रहते देहान्तरकी प्राप्ति होती है अर्थात् जैसे बालकपन, जवानी आदि स्थूलशरीरकी अवस्थाएँ हैं, ऐसे देहान्तरकी प्राप्ति (मृत्युके बाद दूसरा शरीर धारण करना) सूक्ष्म और कारण-शरीरकी अवस्था है ।

स्थूलशरीरके रहते-रहते कुमार आदि अवस्थाओंका परिवर्तन होता है—यह तो स्थूल दृष्टि है । सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो अवस्थाओंकी तरह स्थूलशरीरमें भी परिवर्तन होता रहता है । बाल्यावस्थामें जो शरीर था, वह युवावस्थामें नहीं है ।

वास्तवमें ऐसा कोई भी क्षण नहीं है, जिस क्षणमें स्थूलशरीरका परिवर्तन न होता हो । ऐसे ही सूक्ष्म और कारण-शरीरमें भी प्रति-क्षण परिवर्तन होता रहता है; जो देहान्तररूपसे स्पष्ट देखनेमें आता है । देहान्तरकी प्राप्ति होनेपर स्थूलशरीर तो छूट जाता है, पर मुक्तिसे पहले सूक्ष्म और कारण-शरीर नहीं छूटते । जबतक मुक्ति न हो, तबतक सूक्ष्म और कारण-शरीरके साथ सम्बन्ध बना रहता है ।

अब विचार यह करना है कि स्थूलशरीरका तो हमें ज्ञान होता है, पर सूक्ष्म और कारण-शरीरका हमें ज्ञान नहीं होता । अतः जब सूक्ष्म और कारण-शरीरका ज्ञान भी नहीं होता, तो उनके परिवर्तनका ज्ञान हमें कैसे हो सकता है । स्थूलशरीरका ज्ञान भी उसकी अवस्थाओंको लेकर होता है । ऐसे ही सूक्ष्म और कारण-शरीरका ज्ञान भी उसकी अवस्थाओंको लेकर होता है । स्थूलशरीरकी 'जाग्रत' सूक्ष्मशरीरकी 'स्वप्न' और कारणशरीरकी 'सुषुप्ति'-अवस्था मानी जाती है । मनुष्य बाल्यावस्थामें अपनेको स्वप्नमें भी बाळक देखता है, युवावस्थामें स्वप्नमें युवा देखता है और वृद्धावस्थामें स्वप्नमें वृद्ध देखता है । इससे सिद्ध हो गया कि स्थूलशरीरके साथ-साथ सूक्ष्म-शरीरका भी परिवर्तन होता है । ऐसे ही सुषुप्ति-अवस्था बाल्यावस्थामें ज्यादा होती है, युवावस्थामें वह कम होती है, और वृद्धावस्थामें वह बहुत कम होती है, तो इससे कारणशरीरका परिवर्तन भी सिद्ध हो गया । दूसरी बात, बाल्यावस्था और युवावस्थामें नींद लेनेपर शरीर और इन्द्रियोंमें जैसी ताजगी आती है, वैसी ताजगी

वृद्धावस्थामें नौद लेने र नहीँ अतो अर्थात् वृद्धावस्थामें बाल्य और युवा-अवस्था जैसा विश्राम नहीँ मिळना । इस रीतिसे कारण-शरीर-का परिवर्तन सिद्ध होता है ।

जिसको दूसरा—देवता, पुशु, पक्षी आदिका शरीर मिलता है, उस शरीरमें उसको (देहाध्यासके कारण) 'मै देवता, पशु, पक्षी आदि हूँ'—ऐसा ही अनुभव होता है, तो यह सूक्ष्मशरीरका परिवर्तन हो गया । ऐसे ही कारणशरीरमें स्वभाव (प्रकृति) रहता है, जिसको स्थूलदृष्टिसे आदत कहते हैं । वह आदत देवताकी और होगी है, और पशु-पक्षी आदिकी और होती है, तो यह कारणशरीरका परिवर्तन हो गया ।

शरीरोंका तो परिवर्तन होता है, पर शरीरीका कभी परिवर्तन नहीं होता । अगर शरीरी-(देहो-) का परिवर्तन होता, तो अवस्थाओंके बदलनेपर भी 'मै वही हूँ' *—ऐसा ज्ञान नहीं होता । परन्तु अवस्थाओंके बदलनेपर भी 'जो पहले बालक था, जवान था, मै वही हूँ'—ऐसा ज्ञान होता है, तो इससे सिद्ध होता है कि शरीरीमें अर्थात् स्वयंमें परिवर्तन नहीं हुआ है ।

अब एक शंका होती है कि स्थूलशरीरकी अवस्थाओंके बदलने पर तो उनका ज्ञान होता है, पर शरीरान्तरकी प्राप्ति होनेपर पहले के शरीरका ज्ञान क्यों नहीं होता । पूर्वशरीरका ज्ञान न होनेमें कारण यह है कि मृत्यु और जन्मके समय बहुत उग्रदा कण्ट होता

* शास्त्रमें इस ज्ञानको 'प्रत्यभिज्ञा' कहा गया है—'तत्तेदन्तावग्राहि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा' ।

है। उस कष्टके कारण बुद्धिमें पूर्वजन्मकी स्मृति नहीं रहती। जैसे लकवा मार जानेपर, अधिक वृद्धावस्था होनेपर बुद्धिमें पहले जैसा ज्ञान नहीं रहता, ऐसे ही मृत्युकालमें तथा जन्मकालमें बहुत बड़ा धक्का लगनेपर पूर्वजन्मका ज्ञान नहीं रहता*। परन्तु जिसकी मृत्युमें ऐसा कष्ट नहीं होता अर्थात् शरीरकी अवस्थान्तरकी प्राप्तिकी तरह अनायास ही देहान्तरकी प्राप्ति हो जाती है, उसकी बुद्धिमें पूर्वजन्मकी स्मृति रह सकती है†।

अब विचार करें कि जैसा ज्ञान अवस्थान्तरका प्राप्तिमें होता है, वैसा ज्ञान देहान्तरकी प्राप्तिमें नहीं होता; परन्तु 'मैं हूँ' इस प्रकार अपनी सत्ताका ज्ञान सबको रहता है। जैसे, सुषुप्ति (गढ़

* म्रियते रुदता स्वानामुरुवेदनयास्तधीः ॥

(श्रीमद्भा० ३ । ३० । १८)

विनिष्कामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः ॥

(श्रीमद्भा० ३ । ३१ । २३)

† ये मृताः सहसा मर्त्या जायन्ते सहसा पुनः ।

तेषां पौराणिकोऽभ्यासः कंचित् काल हि तिष्ठति ॥

तस्माज्जातिस्मरा लोके जायन्ते बोधसंयुताः ।

तेषां विवर्धता संज्ञा स्वप्नवत् सा प्रणश्यति ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

जो मनुष्य सहसा मृत्युको प्राप्त होकर फिर कहीं सहसा जन्म ले लेते हैं, उनका पुराना अभ्यास या संस्कार कुछ काल तक बना रहता है। इसलिये वे लोकमें पूर्वजन्मकी बातोंके ज्ञानसे युक्त होकर जन्म लेते हैं और जातिस्मर कहलाते हैं। फिर ज्यों-ज्यों वे बढ़ने लगते हैं, त्यों-त्यों उनकी स्वप्न-जैसी वह पुरानी स्मृति नष्ट होने लगती है।

निद्रा) में अपना कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, पर जगनेपर मनुष्य कहता है कि ऐसी गाढ नींद आयी कि मेरेको कुछ पता नहीं रहा, तो 'कुछ पता नहीं रहा'—इसका ज्ञान तो है ही । सोनेसे पहले मैं जो था, वही मैं जगनेके बाद हूँ, तो सुषुप्तिके समय भी मैं वही था—इस प्रकार अपनी सत्ताका ज्ञान अखण्डरूपसे निरन्तर रहता है । अपनी सत्ताके अभावका ज्ञान कभी किसीको नहीं होता । शरीरधारीकी सत्ताका सद्भाव अखण्डरूपसे रहता है, तभी तो मुक्ति होती है और मुक्त-अवस्थामें वह रहता है । हाँ, जीवन्मुक्त अवस्थामें उसको शरीरान्तरोका ज्ञान भले ही न हो, पर मैं तीनों शरीरोंसे अलग हूँ—ऐसा अनुभव तो होता ही है ।

‘धीरस्तत्र न मुह्यति’—धीर वही है, जिसको सत्-असत्का बोध हो गया है । ऐसा धीर पुरुष उस विषयमें कभी मोहित नहीं होता, उसको कभी सन्देह नहीं होता । इसका अर्थ यह नहीं है कि उस धीर पुरुषको देहान्तरकी प्राप्ति होती है; क्योंकि ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होनेका कारण गुणोका सङ्ग है और गुणोसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे धीर पुरुषको देहान्तरकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती ।

यहाँ ‘तत्र’ पदका अर्थ ‘देहान्तरप्राप्तिके विषयमें’ नहीं है, प्रत्युत ‘देह-देहीके विषयमें’ है । तात्पर्य है कि देह क्या है ? देही क्या है ? परिवर्तनशील क्या है ? अपरिवर्तनशील क्या है ? अनित्य क्या है ? नित्य क्या है ? असत् क्या है ? सत् क्या है ? विकारी क्या है ? अविकारी क्या है ?—इस विषयमें वह मोहित नहीं

होता । देह और देही सर्वथा अलग हैं—इस विषयमें उसको कभी मोह नहीं होता । उसको अपनी असङ्गताका अखण्ड ज्ञान रहता है ।

सम्बन्ध—

अनित्य वस्तु—शरीर आदिको लेकर जो शोक होता है, उसकी निवृत्तिके लिये आगेका श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

अर्थ—

हे कुन्तीनन्दन ! इन्द्रियोंके जो विषय (जड़ पदार्थ) हैं, वे अनुकूलता और प्रतिकूलताके द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं । वे आने-जानेवाले और अनित्य हैं । हे भरतवंशोद्भव अर्जुन ! उनको तुम सहन करो ।

व्याख्या—

[यहाँ एक शङ्का होती है कि इन चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंसे पहले (११ से १३ तक) और आगे (१६ से ३० तक) देही और देह—इन दोनोंका ही प्रकरण है । फिर बीचमें 'मात्रा-स्पर्श' के ये दो श्लोक (प्रकरणसे अलग) कैसे आये ? इसका समाधान यह है कि जैसे बारहवें श्लोकमें भगवान् ने सम्पूर्ण जीवोंके नित्य-स्वरूपको बतानेके लिये किसी कालमें मैं नहीं था, ऐसी बात नहीं है—ऐसा कहकर अपनेको उन्हींकी पक्तिमें रख

निद्रा) में अपना कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, पर जगनेपर मनुष्य कहता है कि ऐसी गाढ़ नींद आयी कि मेरेको कुछ पता नहीं रहा, तो 'कुछ पता नहीं रहा'—इसका ज्ञान तो है ही । सोनेसे पहले मैं जो था, वही मैं जगनेके बाद हूँ, तो सुषुप्तिके समय भी मैं वही था—इस प्रकार अपनी सत्ताका ज्ञान अखण्डरूपसे निरन्तर रहता है । अपनी सत्ताके अभावका ज्ञान कभी किसीको नहीं होता । शरीरधारीकी सत्ताका सद्भाव अखण्डरूपसे रहता है, तभी तो मुक्ति होती है और मुक्त-अवस्थामें वह रहता है । हाँ, जीवन्मुक्त अवस्थामें उसको शरीरान्तरोका ज्ञान भले ही न हो, पर मैं तीनों शरीरोंसे अलग हूँ—ऐसा अनुभव तो होता ही है ।

‘धीरस्तत्र न मुह्यति’—धीर वही है, जिसको सत्-असत्का बोध हो गया है । ऐसा धीर पुरुष उस विषयमें कभी मोहित नहीं होता, उसको कभी सन्देह नहीं होता । इसका अर्थ यह नहीं है कि उस धीर पुरुषको देहान्तरकी प्राप्ति होती है; क्योंकि ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होनेका कारण गुणोका सङ्ग है और गुणोसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे धीर पुरुषको देहान्तरकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती ।

यहाँ ‘तत्र’ पदका अर्थ ‘देहान्तरप्राप्तिके विषयमें’ नहीं है, प्रत्युत ‘देह-देहीके विषयमें’ है । तात्पर्य है कि देह क्या है ? देही क्या है ? परिवर्तनशील क्या है ? अपरिवर्तनशील क्या है ? अनित्य क्या है ? नित्य क्या है ? असत् क्या है ? सत् क्या है ? विकारी क्या है ? अविकारी क्या है ?—इस विषयमें वह मोहित नहीं

स्त्री विधवा हो गयी है अर्थात् उसका पतिसे सदाके लिये त्रियोग हो गया है, पर पचास वर्षके बाद भी उसको कोई कहता है कि यह अमुककी स्त्री है, तो उसके कान खड़े हो जाते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि सम्बन्धी-(पति-) के न रहनेपर भी उसके साथ माना हुआ सम्बन्ध सदा बना रहता है । इस दृष्टिसे इस सम्बन्धको आने-जानेवाला कहना वनता नहीं । इसलिये यहाँ 'मात्रास्पर्शाः' पदसे पदार्थोंका सम्बन्ध न लेकर मात्र पदार्थ लिये गये हैं ।

‘शीतोष्णसुखदुःखदाः’—यहाँ शीत और उष्ण शब्द अनुकूलता और प्रतिकूलताके वाचक हैं । अगर इनका अर्थ ठण्डी और गरमी लिया जाय, तो ये केवल त्वगिन्द्रिय-(त्वचा-) के विषय हो जायेंगे, जो कि एकदेशीय है । अतः शीतका अर्थ अनुकूलता और उष्णका अर्थ प्रतिकूलता लेना ही ठीक माध्यम देता है ।

मात्र पदार्थ अनुकूलता-प्रतिकूलताके द्वारा सुख-दुःख देनेवाले हैं अर्थात् जिसको हम चाहते हैं, ऐसी अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, देश, काल आदिके मिलनेसे सुख होता है और जिसको नहीं चाहते, ऐसी प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिके मिलनेसे दुःख होता है । यहाँ अनुकूलता-प्रतिकूलता कारण हैं और सुख-दुःख कार्य हैं । वास्तवमें देखा जाय तो इन पदार्थोंमें नहीं और हो सकता भी नहीं; परन्तु माने हुए सम्बन्धकी अस्वीकृतिके बिना कितना ही त्याग किया जाय, कितना ही कष्ट भोगा जाय; शरीरमें कितना ही परिवर्तन हो जाय, कितना ही तनस्या की जाय, तो भी माना हुआ सम्बन्ध मिटता नहीं, प्रत्युत ज्यों-का-त्यों ही बना रहता है ।

दिया, ऐसे हो शरीर आदि मात्र प्राकृत पदार्थोंको अनित्य, विनाशी, परिवर्तनशील बतानेके लिये भगवान् ने यहाँ 'मात्रास्पर्श' की बात कही है ।]

'तु'—नित्य-तत्त्वसे देहादि अनित्य वस्तुओंको अलग बतानेके लिये यहाँ 'तु' पद आया है ।

'मात्रास्पर्शः'—जिनसे माप-तौल होता है अर्थात् जिनसे ज्ञान होता है, उन (ज्ञानके साधन) इन्द्रियो और अन्तःकरण-का नाम 'मात्रा' है । मात्रासे अर्थात् इन्द्रियों और अन्तःकरणसे जिनका सयोग होता है, उनका नाम 'स्पर्श' है । तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियों और अन्तःकरणसे जिनका ज्ञान होना है, ऐसे सृष्टिके मात्र पदार्थ 'मात्रास्पर्शः' है ।

यहाँ 'मात्रास्पर्शः' पदसे केवल पदार्थ ही क्यों लिये जायें, पदार्थोंका सम्बन्ध क्यों न लिया जाय ? 'अगर हम यहाँ 'मात्रास्पर्शः' पदसे केवल पदार्थोंका सम्बन्ध ही लें, तो उस सम्बन्धको 'आगमापायिनः' (आने-जानेवाले) नहीं कह सकते; क्योंकि सम्बन्धकी स्वीकृति केवल अन्तःकरणमें न होकर स्वयंमें (अहंमे) होती है । स्वयं नित्य है, इसलिये उसमें जो स्वीकृति हो जाती है, वह भी नित्य-जैसी ही हो जाती है । स्वयं जबतक उस स्वीकृतिको नहीं छोड़ता, तबतक वह स्वीकृति ज्यों-कै-र्यों बनी रहती है अर्थात् पदार्थोंका वियोग हो जानेपर भी पदार्थोंके न रहनेपर भी उन पदार्थोंका सम्बन्ध बना रहता है* । जैसे, कोई

* यह माना हुआ सम्बन्ध केवल अष्वाकृतिकसे अर्थात् अपनेमें न माननेसे ही मिलता है । अपने सत्त्वरूपमें सम्बन्ध है नहीं, हुआ

होता है। जैसे जाग्रत-अवस्थामें प्रतिक्षण थकावट आती रहती है, ऐसे ही नींदमें प्रतिक्षण ताजगी आती रहती है। इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रियो आदिमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है।

(यहाँ मात्र पदार्थोंको स्थूलरूपसे 'आगमापायिनः' और सूक्ष्मरूपसे 'अनित्याः' कहा गया है। इनको अनित्यसे भी सूक्ष्म बतानेके लिये आगे सोलहवें श्लोकमें इनको 'असत्' कहेंगे और पहले जिस नित्य-तत्त्वका वर्णन हुआ है, उसको 'सत्' कहेंगे।)

'तांस्तितिक्षस्व'—ये जितने मात्रास्पर्श अर्थात् इन्द्रियोंके विषय हैं, उनके सामने आनेपर 'यह अनुकूल है और यह प्रतिकूल है'—ऐसा ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत उनको लेकर अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार पैदा होना ही दोषी है। अतः अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होनेपर भी राग-द्वेषादि विकारोंको पैदा न होने देना अर्थात् मात्रास्पर्शमें निर्विकार रहना ही उनको सहना है। इस सहनेको ही भगवान् ने 'तितिक्षस्व' कहा है।

दूसरा भाव यह है कि शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि-की क्रियाओंका, अवस्थाओंका आरम्भ और अन्त होता है तथा उनका भाव और अभाव होता है। वे क्रियाएँ, अवस्थाएँ तुम्हारेमें नहीं होतीं; क्योंकि तुम उनको जाननेवाले हो, उनसे अलग हो। तुम स्वयं ज्यों-कै-त्यों रहते हो। अतः उन क्रियाओंमें, अवस्थाओंमें तुम निर्विकार रहो। इनमें निर्विकार रहना ही तितिक्षा है।

सुख-दुःख देनेकी सामर्थ्य नहीं है । मनुष्य इनके साथ सम्बन्ध जोड़कर इनमें अनुकूलता-प्रतिकूलताकी भावना कर लेता है, जिससे ये पदार्थ सुख-दुःख देनेवाले दीखते हैं । अतः भगवान् ने यहाँ 'सुखदुःखदाः' कहा है ।

'आगमापायिनः'—मात्र पदार्थ आदि-अन्तवाले, उत्पत्ति-विनाशशील और आने-जानेवाले हैं । वे ठहरनेवाले नहीं हैं; क्योंकि वे उत्पत्तिसे पहले नहीं थे और विनाशके बाद भी नहीं रहेंगे । इस वास्ते वे 'आगमापायी' हैं ।

'अनित्याः'—अगर कोई कहे कि ये उत्पत्तिसे पहले और विनाशके बाद भले ही न हों, पर मध्यमें तो रहते ही होंगे । तो भगवान् कहते हैं कि वे अनित्य हैं; अतः मध्यमें भी नहीं रहते । वे प्रतिक्षण बदलते रहते हैं । इतनी तेजीसे बदलते हैं कि उनको उसी रूपमें दुबारा कोई देख भी नहीं सकता; क्योंकि पहलेक्षण वे जैसे थे, दूसरे क्षण वे वैसे रहते ही नहीं । इसलिये भगवान् ने उनको 'अनित्याः' कहा है ।

केवल वे पदार्थ ही अनित्य, परिवर्तनशील नहीं हैं, प्रत्युत जिनसे उन पदार्थोंका ज्ञान होता है, वे इन्द्रियाँ और अन्तःकरण भी परिवर्तनशील हैं । इनके परिवर्तनको कैसे समझें । जैसे—दिनमें काम करते-करते शामतक इन्द्रियों आदिमें थकावट आ जाती है और सवेरे तृप्तिपूर्वक नींद लेनेपर उनमें जो ताजगी आयी थी, वह शामतक नहीं रहती । इसलिये पुनः नींद लेनी पड़ती है, जिससे इन्द्रियोंकी थकावट मिटती है और ताजगीका अनुभव

होता है । जैसे जाग्रत-अवस्थामें प्रतिक्षण थकावट आती रहती है, ऐसे ही नींदमें प्रतिक्षण ताजगी आती रहती है । इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रियों आदिमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है ।

(यहाँ मात्र पदार्थोंको स्थूलरूपसे 'आगमापायिनः' और सूक्ष्मरूपसे 'अनित्याः' कहा गया है । इनको अनित्यसे भी सूक्ष्म वतानेके लिये आगे सोलहवें श्लोकमें इनको 'असत्' कहेंगे और पहले जिस नित्य-तत्त्वका वर्णन हुआ है, उसको 'सत्' कहेंगे ।)

'तांस्तितिक्षस्व'—ये जितने मात्रास्पर्श अर्थात् इन्द्रियोंके विषय हैं, उनके सामने आनेपर 'यह अनुकूल है और यह प्रतिकूल है'—ऐसा ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत उनको लेकर अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार पैदा होना ही दोषी है । अतः अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होनेपर भी राग-द्वेषादि विकारोंको पैदा न होने देना अर्थात् मात्रास्पर्शोंमें निर्विकार रहना ही उनको सहना है । इस सहनेको ही भगवान् ने 'तितिक्षस्व' कहा है ।

दूसरा भाव यह है कि शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि-की क्रियाओंका, अवस्थाओंका आरम्भ और अन्त होता है तथा उनका भाव और अभाव होता है । वे क्रियाएँ, अवस्थाएँ तुम्हारेमें नहीं होतीं; क्योंकि तुम उनको जाननेवाले हो, उनसे अलग हो । तुम स्वयं ज्यों-कै-स्यो रहते हो । अतः उन क्रियाओंमें, अवस्थाओंमें तुम निर्विकार रहो । इनमें निर्विकार रहना ही तितिक्षा है ।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें मात्रास्पर्शोंकी तितिक्षाकी बात कही । अब ऐसी तितिक्षासे क्या होगा—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

अर्थ—

हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! सुख-दुःखमें सम रहनेवाले जिस धीर पुरुषको ये मात्रास्पर्श (पदार्थ) व्यथा नहीं पहुँचाते, वह अमर होनेमें समर्थ हो जाता है । अर्थात् वह अमर हो जाता है ।

व्याख्या—

‘पुरुषर्षभ’—मनुष्य प्रायः परिस्थितियोंको बदलनेका ही विचार करता है, जो कभी बदली नहीं जा सकती और जिनको बदलना सम्भव ही नहीं । हे अर्जुन ! युद्धरूपी परिस्थितिके प्राप्त होनेपर तुमने उसको बदलनेका विचार न करके अपने कल्याणका विचार किया है । यह कल्याणका विचार करना ही मनुष्योंमें तुम्हारी श्रेष्ठता है ।

‘समदुःखसुखं धीरम्,—’धीर पुरुष सुख-दुःखमें सम होता है । सुख-दुःखमें सम कैसे हो । अन्तःकरणकी वृत्तिसे ही सुख और दुःख—ये दोनो अलग-अलग दीखते हैं । सुख-दुःखके भोगनेमें पुरुष हेतु है और वह हेतु बनता है प्रकृतिमें स्थित होनेसे (गीता १३ । २०-२१) । जब वह अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है,

तब सुख-दुःखको भोगनेवाला कोई नहीं रहता । अतः अपने-आपमें स्थित होनेसे वह सुख-दुःखमें स्वाभाविक ही सम हो जाता है ।

दूसरी बात, सुख आता हुआ अच्छा लगता है और जाता हुआ बुरा लगता है, तथा दुःख आता हुआ बुरा लगता है और जाता हुआ अच्छा लगता है; अतः सुख-दुःख समान ही हुए । परन्तु मनुष्य केवल आते हुए अंशपर ही दृष्टि रखता है, इसीसे विषमता दीखती है । अगर वह दोनोंके आने-जानेको पूरा देखे; तो वह उनमें स्वतः सम हो जायगा ।

‘यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषम्’—धीर पुरुषको ये मात्रा-स्पर्श अर्थात् प्रकृतिके मात्र पदार्थ व्यथा नहीं पहुँचाते । प्राकृत पदार्थोंके संयोगसे जो सुख होता है, वह भी व्यथा है और उन पदार्थोंके वियोगसे जो दुःख होता है, वह भी व्यथा है । परन्तु जिसकी दृष्टि समताकी तरफ है, उसको ये प्राकृत पदार्थ सुखी-दुःखी नहीं कर सकते । समताकी तरफ दृष्टि रहनेसे अनुकूलताको लेकर उस सुखका ज्ञान तो होता है, पर उसका भोग न होनेसे अन्तःकरणमें उस सुखका स्थायीरूपसे संस्कार नहीं पड़ता । ऐसे ही प्रतिकूलता आनेपर उस दुःखका ज्ञान तो होता है, पर उसका भोग न होनेसे अन्तःकरणमें उस दुःखका स्थायीरूपसे संस्कार नहीं पड़ता । इस प्रकार सुख-दुःखके संस्कार न पड़नेसे वह व्यथित नहीं होता । तात्पर्य यह हुआ कि अन्तःकरणमें सुख-दुःखका ज्ञान होनेसे वह स्वयं सुखी-दुःखी नहीं होता ।

‘सोऽमृतत्वाय कल्पते’—ऐसा धीर पुरुष अमरताके योग्य हो जाता है अर्थात् उसमें अमरता प्राप्त करनेकी सामर्थ्य आ जाती है । योग्यता, सामर्थ्य आनेपर वह अमर हो हो जाता है । इसमें देरीका कोई काम नहीं है । कारण कि उसकी अमरता तो स्वतःसिद्ध है । केवल पदार्थोंके संयोग-वियोगसे जो अपनेमें विकार मानता था, यही गलती थी ।

सम्बन्ध—

अवतक देह-देहीका जो विस्तारपूर्वक विवेचन हुआ है, उसीको भगवान् दूसरे शब्दोंसे आगेके तीन श्लोकोंमें कहते हैं ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।*

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

अर्थ—

असत्का तो भाव (सत्ता) नहीं है और सत्का अभाव नहीं है । तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने इन दोनोंका ही अन्त अर्थात् तत्त्व देखा है ।

व्याख्या—

‘नासतो विद्यते भावः’—शरीर उत्पत्तिके पहले नहीं था, मरनेके बाद भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी इसका क्षण-प्रतिक्षण अभाव हो रहा है । तात्पर्य है कि यह शरीर भूत, भविष्य और वर्तमान—इस तीनों कालोंमें कभी भावरूपसे नहीं रहता । अतः

* यहाँ इस पूर्वार्धमें भगवान्ने ‘भू सत्तायाम्’ (भावः, अभावः), ‘अस् भुवि’ (असतः, सतः) और ‘विद् सत्तायाम्’ विद्यते—इन तीन सत्तावाचक धातुओंका प्रयोग किया है । इन तीनोंके प्रयोगका तात्पर्य नित्य-तत्त्वकी ओर लक्ष्य करानेमें ही है ।

यह असत् है। इसी तरहसे इस संसारका भी भाव नहीं है, यह भी असत् है। यह शरीर तो संसारका एक छोटा-सा नमूना है; इसलिये इससे संसारमात्रके परिवर्तनका अनुभव होता है कि इस संसारका भी पहले अभाव था और पीछे भी अभाव होगा तथा वर्तमानमें भी अभाव हो रहा है।

संसारमात्र कालरूपी अग्निमें लकड़ीकी तरह निरन्तर जल रहा है। लकड़ीके जलनेपर तो कोयला और राख बची रहती है, पर संसारको कालरूपी अग्नि ऐसी विलक्षण रीतिसे जलाती है कि कोयला अथवा राख कुछ भी बाकी नहीं रहता। वह संसारका अभाव-ही-अभाव कर देती है। इसलिये कहा गया है कि अमर्त्यकी सत्ता नहीं है।

‘नाभावो विद्यते सतः’—जो सत् वस्तु है, उसका अभाव नहीं होता अर्थात् जब देह उत्पन्न नहीं हुआ था, तब भी देही था, देह नष्ट होनेपर भी देही रहेगा और देहके परिवर्तनशील होनेपर भी देही उसमें ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इसी रीतिसे जब संसार उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय भी परमात्मतत्त्व था, संसारका अभाव होनेपर भी परमात्मतत्त्व रहेगा और वर्तमानमें संसारके परिवर्तनशील होनेपर भी परमात्मतत्त्व उसमें ज्यों-का-त्यों ही है।

‘उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः’—इन दोनोंके अर्थात् सत्-असत्, देही-देहके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंने इनका

तत्त्व देखा है, इनका निचोड़ निकाळा है कि केवल एक सत्-तत्त्व ही विद्यमान है ।

असत् वस्तुका तत्त्व भी सत् है और सत् वस्तुका तत्त्व भी सत् है अर्थात् दोनोंका तत्त्व एक 'सत्' ही है, दोनो तत्त्व भावरूपसे एक ही है । अतः सत् और असत्—इन दोनोंके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंके द्वारा जाननेमें आनेवाला एक सत्-तत्त्व ही है । असत्की जो सत्ता मानी जाती है, वह सत्ता भी वास्तवमें सत्की ही है । सत्की सत्तासे ही असत् सत्तावान् प्रतीत होता है । इसी सत्को 'परा प्रकृति' (गीता ७ । ५), 'क्षेत्रज्ञ' (गीता १३ । १-२), 'पुरुष' (गीता १३ । १९) और 'अक्षर' (गीता १५ । १६) कहा गया है; तथा असत्को 'परा प्रकृति', 'क्षेत्र', 'प्रकृति' और 'क्षर' कहा गया है ।

अर्जुन भी शरीरोंको लेकर शोक कर रहे हैं कि युद्ध करनेसे ये सब मर जायँगे । इसपर भगवान् कहते हैं कि क्या युद्ध न करनेसे ये नहीं मरेंगे ? असत् तो मरेगा ही और हरदम मर ही रहा है । परन्तु इसमें जो सत्-रूपसे है, उसका कभी अभाव नहीं होगा । इसलिये शोक करना तुम्हारी वेसमझी ही है ।

ग्यारहवें श्लोकमें आया है कि जो मर गये हैं और जो जी रहे हैं, उन दोनोंके लिये पण्डितलोग शोक नहीं करते । बारहवें-तेरहवें श्लोकोंमें देहीश्री नित्यताका वर्णन है और उसमें 'धीर' शब्द आया है । चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें संसारकी अनित्यताका वर्णन आया है, तो उसमें भी 'धीर' शब्द आया है । ऐसे

ही यहाँ (सोळइवें श्लोकमें) सत्-असत्का विवेचन आया है, तो इसमें 'तत्त्वदर्शो'* शब्द आया है । इन श्लोकोंमें पण्डित, धीर और तत्त्वदर्शो पद देनेका तात्पर्य है कि जो विवेकी होते हैं, समझदार होते हैं, उनको शोक नहीं होता । अगर शोक होता है तो वे विवेकी नहीं हैं, समझदार नहीं हैं ।

सम्बन्ध—

अब आगेके दो श्लोकोंमें सत् और असत्की व्याख्या करते हैं ।

श्लोक—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सवमिदं ततम् ।

विनाशप्रव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अर्थ—

अविनाशी ता उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है । इस अविनाशीका विनाश कोई भी नहीं कर सकता ।

व्याख्या—

'अविनाशि तु तद्विद्धि'—पूर्वश्लोकमें जो सत्-असत्की बात कहो थी, उसमेंसे पहले 'सत्' की व्याख्या करनेके लिये यहाँ 'तु' पद आया है ।

* 'नानुशोचन्ति पण्डिताः' (२ । ११), 'धीरस्तत्र न मुह्यति' (२ । १३), 'समदुःखमुखं धीरम्' (२ । १५)—इन तीन जगह जिनको पण्डित और धीर कहा है, उन्हींको यहाँ 'तत्त्वदर्शो' कहा गया है ।

यहाँ 'उस अविनाशी तत्त्वको तू समझ'—ऐसा कहकर भगवान् ने उस तत्त्वको परोक्ष बताया है । परोक्ष बतानेमें तात्पर्य है कि इदंतासे दोखनेवाले इस सम्पूर्ण संसारमें वह परोक्ष तत्त्व ही व्याप्त है, परिपूर्ण है । वास्तवमें जो परिपूर्ण है, वही 'है' और जो सामने संसार दीख रहा है, यह 'नहीं' है; क्योंकि इस संसारकी 'है' के बिना कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है ।

यहाँ 'तत्' पदसे सत्-तत्त्वको परोक्ष रीतिसे कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि वह तत्त्व बहुत दूर है; किन्तु वह इन्द्रियों और अन्तःकरणका विषय नहीं है, इसलिये उसको परोक्ष रीतिसे कहा गया है ।

'येन सर्वमिदं तनम्'*—जिसको परोक्ष कहा है, उसीका वर्णन करते हैं कि यह सब-का-सब संसार उस नित्य-तत्त्वसे व्याप्त है । जैसे सोनेसे बने हुए गहनोंमें सोना, लोहेसे बने हुए अन्न-

* 'येन सर्वमिदं तनम्'—ये पद गीतामें तीन बार आये हैं । उनमेंसे यहाँ (२ । १७ में) ये पद शरीरीके लिये आये हैं कि इस शरीरीसे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है । यह बात साख्ययोगकी दृष्टिसे कही गयी है । दूसरी बार ये पद आठवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें आये हैं । वहाँ कहा गया है कि जिस ईश्वरसे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, वह अनन्यभक्तिसे मिलता है । अतः भक्तिका वर्णन होनेसे उपर्युक्त पद ईश्वरके विषयमें आये हैं । तीसरी बार ये पद अठारहवें अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें आये हैं । वहाँ कहा गया है कि जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उसका चारों वर्ण अपने-अपने कर्मोंद्वारा पूजन करें । यह वर्णन भी भक्तिकी दृष्टिसे हुआ है ।

श्लोमें लहा, मिट्टीसे बने हुए बर्तनोमें मिट्टी और जऊसे बनी हुई बर्फमें जल ही व्याप्त (परिपूर्ण) है, ऐसे ही संसारमें वह सत्-तत्त्व ही व्याप्त है । अतः वास्तवमें इस संसारमें वह सत्-तत्त्व ही जाननेयोग्य है ।

‘विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुं पर्थति’—यह शरीरी अव्यय* अर्थात् अविनाशी है । इस आवनाशीका कोई विनाश कर ही नहीं सकता । परन्तु शरीर विनाशी है; क्योंकि वह नित्य-निरन्तर विनाशकी तरफ जा रहा है । अतः इस विनाशकी विनाशको कोई रोक ही नहीं सकता । तू सोचता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो ये नहीं मरेंगे, पर वास्तवमें तेरे युद्ध करनेसे अथवा न करनेसे इस अविनाशा और विनाशी तत्त्वमें कुछ फर्क नहीं पड़ेगा अर्थात् अविनाशी तो रहेगा ही और विनाशीका नाश होगा ही ।

यहाँ ‘अस्य’ पदसे सत्-तत्त्वको इदंतासे कहनेका तात्पर्य है कि प्रतिक्षण बढ़नेवाले शरीरोमें जो सत्ता दीखती है, वह इसी

नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें राजावद्याका वर्णन करते हुए भगवान्ने ‘मया ततमिदं सर्वम्’ पदोंसे कहा है कि यह सम्पूर्ण ससार मेरेसे व्याप्त है । इस प्रकार तीन जगह तो ‘येन’ पद देकर उस तत्त्वको परोक्षरूपसे कहा है और एक जगह ‘अस्मत्’ शब्द—‘मया’ देकर स्वयं भगवान्ने अपरोक्षरूपसे अपनी बात कही है ।

* भगवान्ने गीतामें जगह-जगह शरीरीको भी अव्यय कहा है और अपनेको भी अव्यय कहा है । स्वरूपसे दोनों अव्यय होनेपर भी भगवान् तो प्रकृतिको अपने वशमें करके (स्वतन्त्रतापूर्वक) प्रकट और अन्तर्धान होते हैं और यह शरीरी प्रकृतिके परवश होकर जन्मता और मरता रहता है; क्योंकि इसने शरीरको अपना मान रखा है ।

सत्-तत्त्वकी है। मेरा शरीर है और मैं शरीरधारी हूँ—ऐसा जो अपनी सत्ताका ज्ञान है, उसीको लक्ष्य करके भगवान् यहाँ 'अस्य' पद देते हैं।

श्लोक—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

अर्थ—

अविनाशी, अप्रमेय और नित्य रहनेवाले इस शरीरके ये देह अन्तवाले कहे गये हैं। इसलिये हे अर्जुन ! तुम युद्ध करो।

व्याख्या—

‘अनाशिनः’—किसी कालमें, किसी कारणसे कभी किञ्चिन्मात्र भी जिसमें परिवर्तन नहीं होता, जिसकी क्षति नहीं होती, अभाव नहीं होता, उसका नाम ‘अनाशी’ अर्थात् अविनाशी है।

‘अप्रमेयस्य’—जो प्रमा- (प्रमाण-) का विषय नहीं है अर्थात् जो अन्तःकरण और इन्द्रियोका विषय नहीं है, उसको ‘अप्रमेय’ कहते हैं।

जिसमें अन्तःकरण और इन्द्रियो प्रमाण नहीं होती, उसमें शास्त्र और सन्त-महापुरुष ही प्रमाण होते हैं। शास्त्र और सन्त-महापुरुष उन्हींके लिये प्रमाण होते हैं जो श्रद्धालु हैं। जिसकी जिस शास्त्र और सन्तमें श्रद्धा होती है, वह उसी शास्त्र और सन्तके

वचनोको मानता है। इसलिये यह तत्त्व केवल श्रद्धाका विषय है*, प्रमाणका विषय नहीं।

शास्त्र और सन्त किसीको बाध्य नहीं करते कि तुम हमारेमें श्रद्धा करो। श्रद्धा करने अथवा न करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। अगर वह शास्त्र और सन्तके वचनोमें श्रद्धा करेगा तो यह तत्त्व उसकी श्रद्धाका विषय है और अगर वह श्रद्धा नहीं करेगा तो यह तत्त्व उसकी श्रद्धाका विषय नहीं है।

‘नित्यस्य’—यह नित्य-निरन्तर रहनेवाला है। यह किसी कालमें न रहता हो—ऐसी बात नहीं है अर्थात् यह सब कालमें सदा ही रहता है।

‘अन्तवन्त इमे देहाः उक्ताः शरीरिणः’—इस अविनाशी, अप्रमेय और नित्य शरीरोके सम्पूर्ण संसारमें जितने भी शरीर हैं, वे सभी अन्तवाले कहे गये हैं। अन्तवाले कहनेका तात्पर्य है कि इनका प्रतिक्षण अन्त हो रहा है। इनमें अन्तके सिवाय और कुछ है ही नहीं, केवल अन्त-ही-अन्त है।

उपर्युक्त पदोंमें शरीरोके लिये तो एकवचन दिया है और शरीरोंके लिये बहुवचन दिया है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक प्राणीके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन शरीर होते हैं; अतः शरीरोंके लिये बहुवचन दिया है। दूसरी बात, संसारके सम्पूर्ण शरीरोंमें एक ही शरीरी है। आगे चौबोसवें श्लोकमें भी इस ‘सर्वगतः’ पदसे सबमें व्यापक बतायेंगे। यह शरीरी तो अविनाशी है और इसके कहे जानेवाले सम्पूर्ण शरीर नाशवान्

* अभी तो यह तत्त्व श्रद्धाका विषय है, पर इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो जायगा तो यह श्रद्धाका विषय नहीं रहेगा।

अविनाशीका कोई विनाश नहीं कर सकता, ऐसे ही नाशवान्का कोई अविनाशी नहीं बना सकता । नाशवान्का तो विनाशीपना ही नित्य रहेगा अर्थात् उसका तो नाश ही होगा ।

विशेष बात—

यहाँ 'अन्तवन्त इमे देहाः' कहनेका तात्पर्य है कि ये जो देह देखनेमें आते हैं, ये सब-के-सब नाशवान् हैं । पर ये देह किसके हैं ? 'नित्यस्य', 'अनाशिनः'—ये देह नित्यके हैं, अविनाशीके हैं । तात्पर्य है कि नित्य-तत्त्वने, जिसका कि कभी-नाश नहीं होता, इनको अपना मान रखा है । अपना माननेका अर्थ है कि अपनेको शरीरमें रख दिया और शरीरको अपनेमें रख दिया । अपनेको शरीरमें रखनेसे 'अहंता' अर्थात् 'मैं'-पन पैदा हो गया और शरीरको अपनेमें रखनेसे 'ममता' अर्थात् 'मेरा'-पन पैदा हो गया ।

यह स्वयं जिन-जिन चीजोंमें अपनेको रखता चला जाता है, उन-उन चीजोंमें 'मैं'-पन होता ही चला जाता है; जैसे—अपनेको धनमें रख लिया तो 'मैं धनी हूँ' अपनेको राज्यमें रख लिया तो 'मैं राजा हूँ' अपनेको विद्यामें रख लिया तो 'मैं विद्वान् हूँ', अपनेको बुद्धिमें रख लिया तो 'मैं बुद्धिमान् हूँ', अपनेको सिद्धियोंमें रख लिया तो 'मैं सिद्ध हूँ', अपनेको शरीरमें रख लिया तो 'मैं शरीरहूँ' आदि-आदि ।

यह स्वयं जिन-जिन चीजोंको अपनेमें रखता चला जाता है, उन-उन चीजोंमें 'मेरा'-पन होता ही चला जाता है; जैसे—कुटुम्बको अपने-रख लिया तो 'कुटुम्ब मेरा है' धनको अपनेमें रख लिया तो 'धन

मेरा है,' बुद्धिको अपनेमें रख लिया तो 'बुद्धि मेरी है', शरीरको अपने-में रख लिया तो 'शरीर मेरा है' आदि-आदि ।

जड़ताके साथ 'मै' और 'मेरा'-पन होनेसे ही मात्र विकार पैदा होते हैं । तात्पर्य है कि शरीर और मै (स्वयं)—दोनों अलग-अलग हैं, इस विवेकको महत्त्व न देनेसे ही मात्र विकार पैदा होते हैं । परन्तु जो इस विवेकको आदर देते हैं, महत्त्व देते हैं, वे पण्डित होते हैं । ऐसे पण्डितलोग कभी शोक नहीं करते; क्योंकि सत् सत् ही है और असत् असत् ही है—इसका उनको ठीक अनुभव हो जाता है ।

'तस्मात्* युध्यस्व'—भगवान् अर्जुनके लिये आज्ञा देते हैं कि सत्-असत्को ठीक समझकर तुम युद्ध करो अर्थात् प्राप्त कर्तव्यका पाठन करो । तात्पर्य है कि शरीर तो अन्तवाला है और शरीरी अविनाशी है । इन दोनों— शरीर-शरीरीकी दृष्टिसे शोक बन ही नहीं सकता । अतः शोकका त्याग करके युद्ध करो ।

* यहाँ 'तस्मात्' पद युक्ति समझनेमें आया है अर्थात् युक्ति समझमें आ गयी तो अब युद्ध करो । इसी तरह गीतामें 'तस्मात्' पदका प्रयोग प्रायः प्रकरणकी समाप्तिपर अथवा युक्तिकी समाप्तिपर किया गया है, जैसे—दूसरे अध्यायके तीसवें, तीसरे अध्यायके उन्नीसवें, आठवें, अध्यायके आठवें तथा सत्ताईसवें आदि श्लोकोंमें 'तस्मात्' पद प्रकरणकी समाप्तिके लिये आया है; और दूसरे अध्यायके पचीसवें, सत्ताईसवें, सैंतीसवें, अड़सठवें तथा ग्यारहवें अध्यायके तैंतीसवें आदि श्लोकोंमें 'तस्मात्' पद युक्तिकी समाप्तिके लिये आया है ।

विशेष बात

यहाँ सत्रहवें और अठारहवें—इन दोनों श्लोकोंमें विशेषतासे सत्-नस्त्वका ही विवेचन हुआ है । कारण कि इस पूरे प्रकरणमें भगवान्का लक्ष्य सत्का बोध करनेमें ही है । सत्का बोध हो जानेसे असत्की निवृत्ति स्वतः हो जाती है । फिर किसी प्रकारका किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं रहता । इस प्रकार सत्का अनुभव करके निःसदिग्ध होकर कर्तव्यका पाठन करना चाहिये । इस विवेचनसे यह बात सिद्ध होती है कि सांख्ययोग और कर्मयोगमें किसी विशेष वर्ण और आश्रमकी आवश्यकता नहीं है । अपने कल्याणके लिये चाहे सांख्ययोगका अनुष्ठान करे, चाहे कर्मयोगका अनुष्ठान करे, इसमें मनुष्यकी पूर्ण स्वतन्त्रता है । परन्तु व्यावहारिक काम करनेमें वर्ण और आश्रमके अनुसार शास्त्रीय विधानकी परम आवश्यकता है, तभी तो यहाँ सांख्ययोगके अनुसार सत्-असत्का विवेचन करते हुए भगवान् युद्ध करनेकी अर्थात् कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं ।

आगे तेरहवें अध्यायमें जहाँ ज्ञानके साधनोंका वर्णन किया गया है, वहाँ भी 'असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु' (१३ । १) कहकर पुत्र, स्त्री, घर, आदिकी आसक्तिका निषेध किया है । अगर संन्यासी ही सांख्ययोगके अधिकारी होते, तो पुत्र, स्त्री, घर आदिमें आसक्तिरहित होनेके लिये कहनेकी आवश्यकता ही नहीं थी; क्योंकि संन्यासीके पुत्र, स्त्री आदि होते ही नहीं ।

इस तरह गीताजीपर विचार करनेसे सांख्ययोग और कर्मयोग परमात्मप्राप्तिके स्वतन्त्र साधन सिद्ध हो जाते हैं । ये किसी वर्ण और आश्रमपर किञ्चिन्मात्र भी अवलम्बित नहीं हैं ।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकतक शरीरीको अविनाशी जाननेवालोंकी बात कही । अब उसी बातको अन्वय-व्यतिरेक रीतिसे दृढ़ करनेके लिये, जो शरीरीको अविनाशी नहीं जानते, उनकी बात आगेके श्लोकमें कहते हैं ।

श्लोक—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अर्थ—

जो पुरुष इस अविनाशी शरीरीको मारनेवाला मानता है और जो पुरुष इसको मरा मानता है, वे दोनों ही इसको नहीं जानते; क्योंकि यह न मारता है और न मारा जाता है ।

व्याख्या—

‘य एनं* वेत्ति हन्तारम्’—जो इस शरीरीको मारनेवाला मानता है, वह ठीक नहीं जानता । कारण कि शरीरीमें कर्तापन

* यहाँ ‘एनम्’ पद अन्वादेशमें आया है । जिसका पहले वर्णन हो चुका है, उसको दुबारा कहना ‘अन्वादेश’ कहलाता है । पहले सत्रहवें श्लोकमें एक विषयको लेकर जिसका ‘अस्य’ पदसे वर्णन हुआ है, अब यहाँ दूसरे विषयको लेकर उसी तत्त्वको दुबारा कह रहे हैं । इसलिये यहाँ ‘एनम्’ पदका प्रयोग किया गया है ।

नहीं है। जैसे कोई भी कारीगर कैसा ही चतुर क्यों न हो, पर किसी औजारके बिना वह कार्य नहीं कर सकता, ऐसे ही यह शरीरी शरीरके बिना खयं कुछ भी नहीं कर सकता। अतः तेरहवें अध्यायमें भगवान् ने कहा है कि सब प्रकारकी क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं—ऐसा जो अनुभव करता है, वह शरीरीके अकर्तापनका अनुभव करता है* । तात्पर्य यह हुआ कि शरीरीमें कर्तापन नहीं है, पर यह शरीरके साथ तादात्म्य करके, सम्बन्ध जोड़कर शरीरसे होनेवाली क्रियाओंमें अपनेको कर्ता मान लेता है। अगर यह शरीरके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े, तो यह किसी भी क्रियाका कर्ता† नहीं है।

‘यश्चैनं मन्यते हतम्’—जो इसको मरा मानता है, वह भी ठीक नहीं जानता। जैसे यह शरीरी मारनेवाला नहीं है, ऐसे ही यह मरनेवाला भी नहीं है, क्योंकि इसमें कभी कोई विकृति नहीं आती। जिसमें विकृति आती है, परिवर्तन होना है अर्थात् जो उत्पत्ति-विनाशशील होता है, वही मर सकता है।

‘उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते’—वे दोनों ही नहीं जानते अर्थात् जो इस शरीरीको मारनेवाला मानता है, वह

* क्रियाको करनेवाला ‘कर्ता’ कहलाता है। अग्ने उद्देश्यकी सिद्धि-के लिये जो क्रिया की जाती है, वह ‘कर्म’ कहलाती है।

† प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

(गीता १३। २९)

भी ठीक नहीं जानता और जो इसको मरनेवाला मानता है, वह भी ठीक नहीं जानता । यहाँ प्रश्न होता है कि जो इस शरीरीको मारनेवाला और मरनेवाला—दोनों मानता है, क्या वह ठीक जानता है ? इसका उत्तर है कि वह भी ठीक नहीं जानता । कारण कि यह शरीरी वास्तवमें ऐसा नहीं है । यह नाश करनेवाला नहीं है और नष्ट होनेवाला भी नहीं है । यह निर्विकाररूपसे निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है । अतः इस शरीरीको नष्ट नहीं करना चाहिये ।

अर्जुनके सामने युद्धका प्रसङ्ग होनेसे ही यहाँ शरीरीको मरने-मारनेकी क्रियासे रहित बताया गया है । वास्तवमें यह संपूर्ण क्रियाओका उपलक्षण है ।

यह शरीरी मरनेवाला क्यों नहीं है—इसके उत्तरमें आगे-का श्लोक कहते हैं ।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमानः शरीरं ॥ २० ॥

यह शरीरी न कभी जन्मता है और न मरता है । यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला नहीं है । यह जन्मरहित, नित्य-निरन्तर

रहनेवाला, शाश्वत और पुराण (अनादि) है । शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता ।

व्याख्या—

[शरीरमें छः विकार होते हैं—उत्पन्न होना, सत्तावाला दीखना, अवस्था बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना* । यह शरीरी इन छहो विकारोंसे रहित है—यही बात भगवान् इस श्लोकमें बता रहे हैं† ।]

‘न जायते म्रियते वा कदाचिन्न’—जैसे शरीर उत्पन्न होता है, ऐसे यह शरीरी कभी भी, किसी भी समयमें उत्पन्न नहीं होता । यह तो सदासे ही है । भगवान्ने इस शरीरीको अपना अंश बताते हुए इसको ‘सनातन’ कहा है—‘ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः’ (१५ । ७)

यह शरीरी कभी मरता भी नहीं । मरता वही है, जो पैदा होता है और ‘म्रियते’ का प्रयोग भी वहीं होता है, जहाँ पिण्ड-प्राणका वियोग होता है । पिण्ड-प्राणका वियोग शरीरमें होता है ।

* जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽप्य म्रियते विनश्यति

(निरुक्त १ । १ । २)

† यह शरीरी उत्पन्न नहीं होता—‘न जायते’, ‘अजः’, उत्पन्न होकर विकारी सत्तावाला नहीं होता—‘अयं भूत्वा भविता वा न भूयः’, यह बदलता नहीं—‘शाश्वतः’, यह बढ़ता नहीं—‘पुराणः’, यह क्षीण नहीं होता—‘नित्यः’ और यह मरता नहीं—‘न म्रियते’, ‘न हन्यते हन्यमाने शरीरे’ ।

परन्तु शरीरमें संयोग-वियोग दोनों ही नहीं होते । यह ज्यों-का-त्यों ही रहता है । इसका मरना होता ही नहीं ।

सभी विकारोंमें जन्मना और मरना—ये दो विकार ही मुख्य हैं; अतः भगवान्ने इनका दो बार निषेध किया है—जिसे पहले 'न जायते' कहा, उसीको दुबारा 'अजः' कहा है और जिसको पहले 'न म्रियते' कहा, उसीको दुबारा 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' कहा है ।

'अयं भूत्वा भविता वा न भूयः'—यह अविनाशो नित्य-तत्त्व पैदा होकर फिर होनेवाला नहीं है अर्थात् यह स्वतःसिद्ध निर्विकार है । जैसे, बच्चा पैदा होता है, तो पैदा होनेके बाद उसकी सत्ता होती है । जब वह गर्भमें ही नहीं आया था, तो 'बच्चा है' ऐसे उसकी सत्ता (होनापन) कोई भी नहीं कहता । तात्पर्य है कि बच्चेको सत्ता पैदा होनेके बाद होती है; क्योंकि उस विकारी सत्ताका आदि और अन्त होता है । परन्तु इस नित्य-तत्त्वकी सत्ता स्वतःसिद्ध और निर्विकार है; क्योंकि इस अविकारी सत्ताका आरम्भ और अन्त नहीं होता ।

'अजः'—इस शरीरका कभी जन्म नहीं होता । इसलिये यह 'अजः' अर्थात् जन्मरहित कहा गया है ।

'नित्यः'—यह शरीर नित्य-निरन्तर रहनेवाला है; अतः इसका कभी अपक्षय नहीं होता । अपक्षय तो अनित्य वस्तुमें होता है, जो कि निरन्तर रहनेवाला नहीं है । जैसे, आधी उम्र बीतनेपर शरीर घटने लगता है, बल क्षीण होने लगता है,

इन्द्रियोंकी शक्ति कम हो जाती है। इस प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदिका तो अपक्षय होता है, पर शरीरीका अपक्षय नहीं होता। इस नित्य-तत्त्वमें कभी किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं आती।

‘शाश्वतः’—यह नित्य-तत्त्व निरन्तर एकरूप, एकरस रहनेवाला है। इसमें अवस्थाका परिवर्तन नहीं होता अर्थात् यह कभी बदलता नहीं। इसमें बदलनेकी योग्यता है ही नहीं।

‘पुराणः’—यह अविनाशी तत्त्व पुराण (पुराना) अर्थात् अनादि है। यह इतना पुराना है कि यह कभी पैदा हुआ ही नहीं। उत्पन्न होनेवाली वस्तुओंमें भी देखा जाता है कि जो वस्तु पुरानी हो जाती है, वह फिर बढ़ती नहीं, प्रत्युत नष्ट हो जाता है; फिर यह तो अनुत्पन्न तत्त्व है, इसमें बढ़नारूप विकार कैसे हो सकता है? तात्पर्य है कि बढ़नारूप विकार तो उत्पन्न होनेवाली वस्तुओंमें ही होता है, इस नित्य-तत्त्वमें नहीं।

‘न हन्यते हन्यमाने शरीरे’—शरीरका नाश होनेपर भी इस अविनाशी शरीरीका नाश नहीं होता। यहाँ ‘शरीरे’ पद देनेका तात्पर्य है कि यह शरीर नष्ट होनेवाला है। इस नष्ट होनेवाले शरीरमें ही छः विकार होते हैं, शरीरमें नहीं। इन पदोंमें भगवान् ने शरीर और शरीरीका जैसा स्पष्ट वर्णन किया है, ऐसा स्पष्ट वर्णन गीतामें और जगह नहीं आया है।

अर्जुन युद्धमें कुटुम्बियोंके मरनेकी आशंकासे विशेष शोककर रहे थे। उस शोकको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं कि

शरीरके मरनेपर भी इस शरीरका परना नहीं होता अर्थात् इसका अभाव नहीं होता ।

सम्बन्ध—

उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने बताया कि यह शरीरी हननरूपी कियाका न तो कर्ता बनता है और न कर्म ही बनता है । इसमें कर्म बननेका निषेध तो बीसवें श्लोकमें कर दिया, अब कर्ता बननेका निषेध करनेके लिये आगेका श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

अर्थ—

हे पृथानन्दन ! जो पुरुष इस शरीरीको अविनाशी, नित्य, जन्मरहित और अव्यय जानता है, वह कैसे किसको मारे और कैसे किसको मरवाये ?

व्याख्या—

‘वेदाविनाशिनं’.....‘घातयति हन्ति कम्’—
इस शरीरीका कभी नाश नहीं होता, इसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, इसका कभी जन्म नहीं होता और इसमें कभी किसी तरहकी कोई कमी नहीं आती—ऐसा जो ठीक अनुभव कर लेता है, वह पुरुष कैसे किसको मारे और कैसे किसको मरवाये ? अर्थात् दूसरोंको मारने और मरवानेमें उस पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । वह किसी कियाका न तो कर्ता बन सकता है और न कारयिता बन सकता है ।

यहाँ भगवान् ने शरीरीको अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय कहकर उसमें छहों विकारोंका निषेध किया है; जैसे—‘अविनाशी’ कहकर मृत्युरूप विकारका, ‘नित्य’ कहकर अवस्थान्तर होना और बढ़नारूप विकारका, ‘अज’ कहकर जन्म होना और जन्मके बाद होनेवाली सत्तारूप विकारका तथा ‘अव्यय’ कहकर क्षयरूप विकारका निषेध किया गया है। शरीरीमें किसी भी क्रियासे किञ्चिन्मात्र भी कोई विकार नहीं होता।

अगर भगवान् को ‘न हन्यते हन्यमाने शरीरे’ और ‘कं घातयति हन्ति कम्’—इन पदोंमें शरीरीके कर्ता और कर्म बननेका ही निषेध करना था, तो फिर यहाँ करने-न-करनेकी बात न कहकर मरने-मारनेकी बात क्यों कही ? इसका उत्तर है कि युद्धका प्रसङ्ग होनेसे यहाँ यह कहना जरूरी है कि शरीरी युद्धमें मारनेवाला नहीं बनता; क्योंकि इसमें कर्तापन नहीं है। जब शरीरी कर्ता नहीं बन सकता, तो यह क्रियाका विषय—कर्म भी कैसे बन सकता है। तात्पर्य यह है कि यह शरीरी किसी भी क्रियाका कर्ता और कर्म नहीं बनता। अतः मरने-मारनेमें शोक नहीं करना चाहिये, प्रत्युत शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्मका पालन करना चाहिये।

सम्बन्ध—

पहलेके श्लोकोंमें देहीकी निर्विकारताका जो वर्णन हुआ है, आगेके श्लोकमें उसीका दृष्टान्तरूपसे वर्णन करते हैं।

श्लोक—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देहा ॥ २२ ॥

अर्थ—

मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही देही पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है ।

व्याख्या—

‘वासांसि जीर्णानि .. . संयाति नवानि देही’—
इसी अध्यायके तेरहवें श्लोकमें सूत्ररूपसे कहा गया था कि देहान्तरकी प्राप्तिके विषयमें धीर पुरुष शोक नहीं करते । अब उसी बातको उदाहरण देकर स्पष्टरूपसे कह रहे हैं कि जैसे पुराने कपड़ोंके परिवर्तनपर मनुष्यको शोक नहीं होता, ऐसे ही शरीरोंके परिवर्तन-पर शोक नहीं होना चाहिये ।

कपड़े मनुष्य ही बदलते हैं, पशु-पक्षी नहीं; अतः यहाँ कपड़े बदलनेके उदाहरणमें ‘नरः’ पद दिया है । यह ‘नरः’ पद मात्र मनुष्ययोनिका वाचक है और इसमें स्त्री-पुरुष, बालक-बालिकाएँ, जवान बूढ़े आदि सभी आ जाते हैं ।

जैसे मनुष्य पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़ोंको धारण करता है, ऐसे ही यह देही पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंको धारण करता है । पुराना शरीर छोड़नेको ‘भरना’ कह

देते हैं और नया शरीर धारण करनेको 'जन्मना' कह देते हैं । जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक यह देही पुराने शरीरोंको छोड़कर कर्मोंके अनुसार या अन्तर्काळीन चिन्तनके अनुसार नये-नये शरीरोंको प्राप्त होता रहता है ।

यहाँ 'शरीराणि' पदमें बहुवचन देनेका तात्पर्य है कि जबतक शरीरोंको अपने वास्तविक स्वरूपका यथार्थ बोध नहीं होता, तबतक यह शरीर अन्तर्काळतक शरीर धारण करता ही रहता है । आजतक इसने कितने शरीर धारण किये हैं, इसकी गिनती भी सम्भव नहीं है । इस बातको लक्ष्यमें रखकर 'शरीराणि' पदमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है तथा सम्पूर्ण जीवोंका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ 'देही' पद आया है ।

यहाँ श्लोकके पूर्वार्धमें तो जीर्ण कपड़ोंकी बात कही है और उत्तरार्धमें जीर्ण शरीरोंकी । जीर्ण कपड़ोंका दृष्टान्त शरीरोंमें कैसे लागू होगा ? कारण कि शरीर तो बच्चों और जवानोंके भी मर जाते हैं । केवळ बूढ़ोंके जीर्ण शरीर मर जाते हों, यह बात तो है नहीं ! इसका उत्तर यह है कि शरीर तो उम्र समाप्त होनेपर ही मरता है और उम्र समाप्त होना ही शरीरका जीर्ण होना है *।

* विवेक-विचारपूर्वक देखा जाय तो उम्र प्रतिक्षण समाप्त हो रहा है अर्थात् शरीर प्रतिक्षण जीर्ण हो रहा है, प्रतिक्षण मर रहा है । यह एक क्षण भी स्थिर नहीं है । जैसे जवान होनेसे बालकपन मर जाता है, तो वास्तवमें वह बालकपन निरन्तर मरता ही रहा है । परन्तु उधर दृष्टि न होनेसे प्रतिक्षण होनेवाली मौतकी तरफ ख्याल नहीं जाता । यही वास्तवमें बेहोशी है ।

शरीर चाहे बच्चोंका हो, चाहे जवानोंका हो, चाहे वृद्धोंका हो, उम्र समाप्त होनेपर वे सभी जोर्ण ही कहलायेंगे ।

इस श्लोकमें भगवान् ने 'यथा' और 'तथा' पद देकर कहा है कि जैसे मनुष्य पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये कपड़े धारण कर लेता है, वैसे ही यह देही पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीरोंमें चला जाता है । यहाँ एक शङ्का होती है । जैसे कुमार, युवा और वृद्ध अवस्थाएँ अपने-आप होती हैं, वैसे ही देहान्तरकी प्राप्ति अपने-आप होती है (२।१३)—यहाँ तो 'यथा' (जैसे) और 'तथा' (वैसे) घट जाते हैं; परन्तु (इस श्लोकमें) पुराने कपड़ोको छोड़नेमें और नये कपड़े धारण करनेमें तो मनुष्यकी स्वतन्त्रता है, पर पुराने शरीरोंको छोड़नेमें और नये शरीर धारण करनेमें देहीकी स्वतन्त्रता नहीं है । इसलिये यहाँ 'यथा' और 'तथा' कैसे घटेंगे ? इसका समाधान है कि यहाँ भगवान् का तात्पर्य स्वतन्त्रता-परतन्त्रता कहनेमें नहीं है, प्रत्युत शरीरके वियोगसे होनेवाले शोकको मिटानेमें है । जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये कपड़े धारण करनेपर भी धारण करनेवाला (मनुष्य) वही रहता है, वैसे ही पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीरोंमें चले जानेपर भी देही ज्यों-का-त्यों निर्लिप्तरूपसे रहता है; अतः शोक करनेकी कोई बात है ही नहीं । इस दृष्टिसे यह दृष्टान्त ठीक ही है ।

दूसरी शङ्का यह होती है कि पुराने कपड़ोंके छोड़नेमें और नये कपड़े धारण करनेमें तो सुख होता है, पर पुराने शरीरोंके छोड़नेमें और नये शरीर धारण करनेमें दुःख होता है । अतः -यहाँ

‘यथा’ और ‘तथा’ कैसे घटेंगे ? इसका समाधान यह है कि शरीरोंके मरनेका जो दुःख होता है, वह मरनेसे नहीं होता, प्रत्युत जीनेकी इच्छासे होता है । ‘मैं जीता रहूँ’—ऐसी जीनेकी इच्छा भीतरमें रहती है और मरना पड़ता है, तब दुःख होता है । तात्पर्य यह हुआ कि जब यह प्राणी शरीरके साथ एकात्मता कर लेता है, तो वह शरीरके मरनेसे अपना मरना मान लेना है और दुःखी होता है । परन्तु जो शरीरके साथ अपनी एकात्मता नहीं मानता, उसको मरनेमें दुःख नहीं होता, प्रत्युत आनन्द होता है ! जैसे, मनुष्य कपड़ोंके साथ अपनी एकात्मता नहीं मानता, तो कपड़ोंको बदलनेमें उसको दुःख नहीं होना । कारण कि वहाँ उसका यह विवेक स्पष्टतया जाग्रत् रहता है कि कपड़े अलग हैं और मैं अलग हूँ । परन्तु वही कपड़ोंका बदलना अगर छोटे बच्चेका-किया जाय, तो वह पुराने कपड़े उतारनेमें और नये कपड़े धारण करनेमें भी रोता है । उसका यह दुःख केवल मूर्खतासे, नासमझीसे होता है । इस मूर्खताको मिटानेके लिये ही भगवान् ने यहाँ ‘यथा’ और ‘तथा’ पद देकर कपड़ोंका दृष्टान्त दिया है ।

यहाँ भगवान् ने कपड़ोंके धारण करनेमें तो ‘गृह्णाति’ क्रिया दी, पर शरीरोंके धारण करनेमें ‘संयाति’ (जाता है) क्रिया दी, ऐसा क्रियाभेद भगवान् ने क्यों किया ? लौकिक दृष्टिसे बेसमझीके कारण ऐसा दीखता है कि मनुष्य अपनी जगह रहता हुआ ही कपड़ोंको धारण करता है और देहान्तरकी प्राप्तिमें देहीको उन-उन देहोंमें जाना पड़ता है । इस लौकिक दृष्टिको लेकर ही भगवान् ने क्रियाभेद किया है ।

विशेष बात

गीतामें 'येन सर्वभिदं ततन्' (२ । १७), 'नित्यः सर्वगतः
 स्थाणुः' (२ । २४) आदि पदोंसे देहीको सर्वत्र व्याप्त, नित्य,
 सर्वगत और स्थिर स्वभाववाला बताया तथा 'संयाति नवानि देही'
 (२ । २२), 'शरीरं यदवाप्नोति' (१५ । ८) आदि पदोंसे
 देहीको दूसरे शरीरोंमें जानेकी बात कही गयी है। अतः जो सर्वगत
 है, सर्वत्र व्याप्त है, उसका जाना-आना कैसे ? क्योंकि जो जिस
 देशमें न हो, उस देशमें चला जाय, तो इसको 'जाना' कहते हैं;
 और जो दूसरे देशमें है, वह इस देशमें आ जाय, तो इसको
 'आना' कहते हैं। परन्तु देहीके विषयमें तो ये दोनों ही बातें
 नहीं हैं ! इसका समाधान यह है कि जैसे किसीकी बाल्या-
 वस्थासे युवावस्था हो जाती है तो वह कहता है कि 'मैं जवान
 हो गया हूँ'। परन्तु वास्तवमें वह स्वयं जवान नहीं हुआ है, प्रत्युत
 उसका शरीर जवान हुआ है। इसलिये बाल्यावस्थामें जो वह था,
 युवावस्थामें भी वही है। परन्तु शरीरमें तादात्म्य 'माननेके कारण
 वह शरीरके परिवर्तनको अपनेमें आरोपित कर लेता है। ऐसे ही
 आना-जाना वास्तवमें शरीरका धर्म है, पर शरीरके साथ तादात्म्य
 होनेसे वह अपनेमें आना-जाना मान लेता है। तादात्म्यके कारण
 ही सुख-दुःखका भोग होता है, नहीं तो सदा एकरस रहनेवाला
 आने-जानेवाले सुख-दुःखसे सुखी-दुःखी कैसे हो सकता है ? तात्पर्य
 है कि वास्तवमें देहीका कहीं भी आना-जाना नहीं होता, केवल
 शरीरोंके तादात्म्यके कारण उसका आना-जाना प्रतीत होता है।

अब यह प्रश्न होता है कि अनादिकालसे जो जन्म-मरण चल रहा है, उसमें कारण क्या है ? कर्मोंकी दृष्टिसे तो शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगनेके लिये जन्म-मरण होता है, ज्ञानकी दृष्टिसे अज्ञानके कारण ही जन्म-मरण होता है और भक्तिकी दृष्टिसे भगवान्की विमुखताके कारण जन्म-मरण होता है । इन तीनोंमें भी मुख्य कारण है कि भगवान्ने जीवको जो स्वतन्त्रता दी है, उसका जीवने दुरुपयोग किया है । उसी दुरुपयोगसे जन्म-मरण हो रहा है । अब वह जन्म-मरण मिटे कैसे ? मिली हुई स्वतन्त्रताका सदुपयोग करनेसे जन्म-मरण मिट जायगा । तात्पर्य है कि अपने स्वार्थके लिये कर्म करनेसे जन्म-मरण हुआ है; अतः अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे जन्म-मरण मिट जायगा । अपनी जानकारीका अनादर करनेसे* जन्म-मरण हुआ है; अतः अपनी जानकारीका आदर करनेसे जन्म-मरण मिट जायगा । भगवान्से विमुख होनेसे जन्म-मरण हुआ है; अतः भगवान्के सम्मुख होनेसे जन्म-मरण मिट जायगा ।

* अपनी जानकारीका अनादर करनेका तात्पर्य है कि हम जितना जानते हैं, उसके अनुसार कार्य न करना । जैसे, सत्य बोलना ठीक है, झूठ बोलना ठीक नहीं—ऐसा जानते हुए भी स्वार्थके लिये झूठ बोल देते हैं । कोई हमें सुख देता है तो अच्छा लगता है और दुःख देता है तो बुरा लगता है—ऐसा जानते हुए भी अपने सुखके लिये दूसरोंको दुःख देते हैं । ऐसे ही हम जानते हैं कि शरीर आदि सब जानेवाले हैं, रहनेवाले नहीं हैं, फिर भी इनमें मोह-ममता करते हैं । यही अपनी जानकारीका अनादर है ।

सम्बन्ध --

पहले दृष्टान्तरूपसे शरीरीकी निर्विकारताका वर्णन करके अब उसीका प्रकारान्तरसे आगेके तीन श्लोकोंमें वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

अर्थ—

शस्त्र इस शरीरीको काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकता ।

व्याख्या—

‘नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि’—इस शरीराको शस्त्र नहीं काट सकते; क्योंकि ये प्राकृत शस्त्र वहाँतक पहुँच ही नहीं सकते ।

जितने शस्त्र हैं, वे सभी पृथ्वी-तत्त्वसे उत्पन्न होते हैं । यह पृथ्वी-तत्त्व इस शरीरीमें किसी तरहका कोई विकार नहीं पैदा कर सकता । इतना ही नहीं, पृथ्वी-तत्त्व इस शरीरीतक पहुँच ही नहीं सकता, फिर विकृति करनेकी बात तो दूर ही रही !

‘नैनं दहति पावकः’—अग्नि इस शरीरीका जला नहीं सकती; क्योंकि अग्नि वहाँतक पहुँच ही नहीं सकती । जब वहाँतक पहुँच ही नहीं सकती, तो उसके द्वारा जलाना कैसे सम्भव हो सकता है ? तात्पर्य है कि अग्नितत्त्व इस शरीरीमें कभी किसी तरहका विकार उत्पन्न कर ही नहीं सकता ।

‘न चैनं क्लेदयन्त्याः’—जल इसको गीला नहीं कर सकता । क्योंकि जल बहोतक पहुँच हो नहीं सकता । तात्पर्य है कि जल-तत्त्व इस शरीरमें किसी प्रकारका विकार पैदा नहीं कर सकता ।

‘न शोषयति मारुतः’—वायु इसको सुखा नहीं सकता अर्थात् वायुमें इस शरीरको सुखानेका सामर्थ्य नहीं है; क्योंकि वायु बहोतक पहुँचता ही नहीं । तात्पर्य है कि वायु-तत्त्व इस शरीरमें किसी तरहकी विकृति पैदा नहीं कर सकता ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत कहलाते हैं । भगवान् ने इनमेंसे चार ही महाभूतोंकी बात कही है कि ये पृथ्वी, जल, तेज और वायु इस शरीरमें किसी तरहकी विकृति नहीं कर सकते, परन्तु पाँचवें महाभूत आकाशकी कोई चर्चा ही नहीं की है । इसका कारण यह है कि आकाशमें कोई भी क्रिया करनेकी शक्ति नहीं है । क्रिया (विकृति) करनेकी शक्ति तो इन चार महाभूतोंमें ही है । आकाश तो इन सबको अवकाशमात्र देता है ।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये चारो तत्त्व आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं, पर वे अपने कारणभूत आकाशमें भी किसी तरहका विकार पैदा नहीं कर सकते अर्थात् पृथ्वी आकाशका छेदन नहीं कर सकती, जल गीला नहीं कर सकता, अग्नि जला नहीं सकती और वायु सुखा नहीं सकता । जब ये चारो तत्त्व अपने कारणभूत आकाशको और आकाशके कारणभूत महत्तत्त्वको, महत्तत्त्वके कारणभूत प्रकृतिको भी कोई

क्षति नहीं पहुँचा सकते, तब प्रकृतिसे सर्वथा अतीत शरीरीतक ये पहुँच ही कैसे सकते हैं ? इन गुणयुक्त पदार्थोंकी उस निर्गुण-तत्त्वमें पहुँच ही कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती* ।

शरीरी नित्य-तत्त्व है । पृथ्वी आदि चारो तत्त्वोको इसीसे सत्ता-श्रुति मिलती है । अतः जिससे इन तत्त्वोको सत्ता-श्रुति मिलती है, उसको ये कैसे विकृत कर सकते हैं ? यह शरीरी सर्वव्यापक है और पृथ्वी आदि चारो तत्त्व व्याप्य हैं अर्थात् शरीरोके अन्तर्गत हैं । अतः व्याप्य वस्तु व्यापकको कैसे नुकसान पहुँचा सकती है ? उसको नुकसान पहुँचाना सम्भव ही नहीं है ।

यहाँ युद्धका प्रसङ्ग है । ये सब सम्बन्धी मर जायँगे— इस बातको लेकर अर्जुन शोक कर रहे हैं । अतः भगवान् कहते हैं कि ये कैसे मर जायँगे ? क्योंकि वहाँतक अस्त्र-शस्त्रोंकी क्रिया पहुँचना ही नहीं अर्थात् शस्त्रके द्वारा शरीर कट जानेपर भी शरीरी नहीं कटता, अग्न्यस्त्रके द्वारा शरीर जल जानेपर भी शरीरी नहीं जलता, वरुणास्त्रके द्वारा शरीर गल जानेपर भी शरीरी नहीं गलता और वायव्यास्त्रके द्वारा शरीर सूख जानेपर भी शरीर नहीं सूखता । तात्पर्य यह कि अस्त्र-शस्त्रोंके द्वारा शरीर मर जानेपर भी शरीरी नहीं मरना, प्रत्युन ज्यों-का-त्यों निर्विकार

* अनादित्वान्निर्गुणं वात्परमात्मायमव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कोन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

(गीता १३-३१)

रहता है । अतः इसको लेकर शोक करना तेरी बिल्कुल ही बेसमझी है ।

श्लोक—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

अर्थ—

यह शरीरी काटा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह गीला नहीं किया जा सकता और यह सुखाया भी नहीं जा सकता । कारण कि यह नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, स्थिर स्वभाववाला, अचल अर अनदि है ।

व्याख्या—

[शस्त्र आदि इस शरीरीमें विकार क्यों नहीं करते—यह बात इस श्लोकमें कहते हैं ।]

‘अच्छेद्योऽयम्’—शस्त्र इस शरीरीका छेदन नहीं कर सकते । इसका मतलब यह नहीं है कि शस्त्रोका अभाव है या शस्त्र चलानेवाला अयोग्य है, प्रत्युत छेदनरूपी क्रिया इसमें प्रविष्ट ही नहीं हो सकती । कारण कि यह छेदन होनेके योग्य ही नहीं है ।

शस्त्रके सिवाय मन्त्र, शाप आदिसे भी इस शरीरीका छेदन नहीं होसकता । जैसे, शाकल्य ऋषि याज्ञवल्क्यसे प्रश्न करते-कहते अतिप्रश्न* करने लगे तो याज्ञवल्क्यने उनसे कहा—‘तुम अतिप्रश्न करोगे तो तुम्हारा सिर कट जायगा’ । शाकल्यने उनकी बातपर

* जिस विषयमें प्रश्न बनता ही नहीं, उस विषयमें प्रश्न करना ‘अतिप्रश्न’ कहलाता है ।

ध्यान न देकर अतिप्रश्न किया तो उनका चिर कट गया । इस प्रकार देह तो मन्त्रोसे, वाणीसे कट सकता है, पर देही सर्वथा अच्छेय है ।

‘अशह्योऽयम्’—यह शरीरी अदाह्य है; क्योंकि इसमें जलनेकी योग्यता ही नहीं है । अग्निके सिवाय मन्त्र, शाप आदिसे भी यह देही जल नहीं सकता । जैसे, दमयन्तीके शाप देनेसे व्याध बिना अग्निके जलकर भस्म हो गया । इस प्रकार अग्नि, शाप आदिसे वही जल सकता है, जो जलनेयोग्य होता है । इस देहीमें तो दहन-क्रियाका प्रवेश ही नहीं हो सकता ।

‘अक्लेयः’—यह देही गोला होनेयोग्य नहीं है अर्थात् इसमें गोला होनेकी योग्यता ही नहीं है । जउसे तथा मन्त्र, शाप, ओषधि आदिसे यह गोला नहीं हो सकता । जैसे सुननेमें आता है कि ‘मालकौंस’ रागके गाये जानेसे पत्थर भी गोला हो जाता है; चन्द्रमाको देखनेसे चन्द्रकान्त-मणि गीली हो जाती है । परन्तु यह देही राग-रागिनी आदिसे गीली होनेवाला वस्तु नहीं है ।

‘अशोष्यः’—यह देही अशोष्य है । वायुसे इसका शोषण हो जाय, यह ऐसी वस्तु नहीं है; क्योंकि इसमें शोषण-क्रियाका प्रवेश ही नहीं होता । वायुसे तथा मन्त्र, शाप, ओषधि आदिसे यह देही सूख नहीं सकता । जैसे अगस्त्य ऋषि समुद्रका शोषण कर गये, ऐसे इस देहीका कोई अपनी शक्तिसे शोषण नहीं कर सकता ।

प्राकृतमात्र पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं तथा ये पहले भी नहीं थे और पीछे भी नहीं रहेंगे । परन्तु जो न उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है, तथा जो पहले भी था और पीछे भी हरदम रहेगा — उस तत्त्व- (देही-) की तरफ लक्ष्य करानेमें 'सनातनः' पदका तात्पर्य है ।

उपर्युक्त पाँचो विशेषणोंका तात्पर्य है कि शरीर-संसारके साथ तादात्म्य होनेपर भी और शरीर-शरीरी भावका अलग-अलग अनुभव न होनेपर भी शरीरी नित्य-निरन्तर एकरस, एकरूप रहता है । जैसा कि आगे तेरहवें अध्यायके सताईसवें श्लोकमें भगवान् ने कहा है कि सम्पूर्ण विषम प्राणियोंमें भी समरूपसे परिपूर्ण रहनेवाले, नष्ट होनेवाले पदार्थोंमें भी अविनाशीरूपसे रहनेवाले और परिवर्तनशील पदार्थोंमें भी अप्रिवर्तनशील रहनेवाले तत्त्वको जो देखता है, वही वास्तवमें देखना है अर्थात् उसका देखना ही वास्तवमें सही देखना है* ।

श्लोक—

अव्यक्तोऽयमचिन्तोऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अर्थ—

यह देही प्रत्यक्ष नहीं दीखता, यह चिन्तनका विषय नहीं है और इसमें कोई विकार नहीं है । इसलिये इस देहीको ऐसा जानकर शोक नहीं करना चाहिये ।

* सम सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

(गीता १३ । २७)

व्याख्या—

‘अव्यक्तोऽयम्’—जैसे शरीर-ससार स्थूलरूपसे देखनेमें आता है, ऐसे यह शरीरी स्थूलरूपसे देखनेमें आनेवाला नहीं है; क्योंकि यह स्थूल सृष्टिसे रहित है ।

‘अचिन्त्योऽयम्’—जैसे मन, बुद्धि आदि देखनेमें तो नहीं आते, पर चिन्तनमें आते ही हैं अर्थात् ये सभी चिन्तनके विषय हैं । परन्तु यह देही चिन्तनका भी विषय नहीं है; क्योंकि यह सूक्ष्म सृष्टिसे रहित है ।

‘अविकार्योऽयमुच्यते’—यह देही विकाररहित कहा जाता है अर्थात् इसमें कभी किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता । सबका कारण प्रकृति है, उस कारणभूत प्रकृतिमें भी विकृति होती है । परन्तु इस देहीमें किसी प्रकारकी विकृति नहीं होती; क्योंकि यह कारण सृष्टिसे रहित है ।

यहाँ चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें अण्डेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोच्य, अचल, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य—इन आठ विशेषणोंके द्वारा इस देहीका निषेधमुखसे और नित्य, सर्वगत, स्थाणु और सनातन—इन चार विशेषणोंके द्वारा इस देहीका विधिमुखसे वर्णन किया गया है । परन्तु वास्तवमें इसका वर्णन हो नहीं सकता; क्योंकि वह वाणीका विषय नहीं है । जिससे वाणी आदि प्रकाशित होते हैं, उस देहीको वे सब प्रकाशित कैसे कर सकते हैं । अतः इस देहीका ऐसा अनुभव करना ही इसका

‘एव च’—अर्जुन नाशकी सम्भावनाको लेकर शोक कर रहे थे । इसलिये शरीरीको अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य कहकर भगवान् ‘एव च’ पदोंसे विशेष जोर देकर कहते हैं कि यह शरीरी तो ऐना ही है । इसमें किसी भी क्रियाका प्रवेश नहीं होता । अतः यह शरीर शोक करनेयोग्य है ही नहीं !

‘नित्यः’—यह देही नित्य-निरन्तर रहनेवाला है । यह किसी कालमें नहीं था और किसी कालमें नहीं रहेगा—ऐसी बात नहीं है, किन्तु यह सब कालमें नित्य-निरन्तर ज्यो-का-त्यो रहनेवाला है ।

‘सर्वगतः’—जब यह देही सब कालमें ज्यों-का-त्यो ही रहता है, तो किसी देशमें रहता होगा ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह देही सम्पूर्ण व्यक्ति, वस्तु, शरीर आदिमें एकरूपसे विराजमान है ।

‘स्थायुः’—जब यह सर्वगत है, तो यह कहीं आता-जाता भी होगा ? इसपर कहते हैं कि यह देही स्थिर स्वभाववाला है अर्थात् इसमें कभी यहाँ तो कभी वहाँ—इस प्रकारकी चटनरूपी क्रिया नहीं है ।

‘अचलः’—यह स्थिर स्वभाववाला है, कहीं आता-जाता नहीं—यह बात ठीक है, पर इसमें कम्पन तो होता होगा ? जैसे वृक्ष एक जगह ही रहता है, कहीं भी आता-जाता नहीं, पर वह एक जगह रहता हुआ ही हिलता है । ऐसे ही इस देहीमें भी हिलनेकी क्रिया होती होगी ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह देही अचल है अर्थात् इसमें हिलनेकी क्रिया नहीं है ।

‘सनातनः’—यह देही स्थाणु है, अचल है—यह बात तो ठीक है, पर यह कभी पैदा भी होता होगा ? इसपर कहते हैं कि यह सनातन है, अनादि है, सदासे है । यह किसी समय नहीं था, ऐसा सम्भव नहीं है ।

विशेष बात

यह संसार अनित्य है, एक क्षण भी स्थिर रहनेवाला नहीं है । परन्तु जो सदा रहनेवाला है, जिसमें कभी किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता, उस देहीकी तरफ लक्ष्य करानेमें ‘नित्यः’ पदका तात्पर्य है ।

देखने, सुनने, पढ़ने, सपन्ननेमें जो कुछ प्राकृत संसार आता है, उसमें जो सब जगह परिपूर्ण तत्त्व है, उसकी तरफ लक्ष्य करानेमें ‘सर्वगतः’ पदका तात्पर्य है ।

प्रकृति और प्रकृतिके कार्य संसारमें प्रतिक्षण क्रिया होती रहती है, परिवर्तन होता रहता है । ऐसे परिवर्तनशील संसारमें जो क्रियारहित, परिवर्तनरहित, स्थायी स्वभाववाला तत्त्व है, उसकी तरफ लक्ष्य करानेमें ‘स्थाणु’ पदका तात्पर्य है ।

ससारमात्रमें जो कुछ वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदि हैं, वे सब-के-सब चलायमान हैं । उन चलायमान वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिमें जो अपने स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता, चलायमान नहीं होता, उस तत्त्वकी तरफ लक्ष्य करानेमें ‘अचलः’ पदका तात्पर्य है ।

प्राकृतमात्र पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं तथा ये पहले भी नहीं थे और पीछे भी नहीं रहेंगे। परन्तु जो न उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है, तथा जो पहले भी था और पीछे भी हरदम रहेगा—उस तत्त्व-(देही-) की तरफ लक्ष्य करानेमें 'सनातनः' पदका तात्पर्य है।

उपर्युक्त पाँचों विशेषणोंका तात्पर्य है कि शरीर-संसारके साथ तादात्म्य होनेपर भी और शरीर-शरीरी भावका अलग-अलग अनुभव न होनेपर भी शरीरी नित्य-निरन्तर एकरस, एकरूप रहता है। जैसा कि आगे तेरहवें अध्यायके सताईसवें श्लोकमें भगवान् ने कहा है कि सम्पूर्ण विषम प्राणिगोमे भी समरूपसे परिपूर्ण रहनेवाले, नष्ट होनेवाले पदार्थोंमें भी अविनाशीरूपसे रहनेवाले और परिवर्तनशील पदार्थोंमें भी अपरिवर्तनशील रहनेवाले तत्त्वको जो देखता है, वही वास्तवमें देखना है अर्थात् उसका देखना ही वास्तवमें सही देखना है*।

श्लोक—

अव्यक्तोऽयमचिन्तोऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशाबितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अर्थ—

यह देही प्रत्यक्ष नहीं दीखता, यह चिन्तनका विषय नहीं है और इसमें कोई विकार नहीं है। इसलिये इस देहीको ऐसा जानकर शोक नहीं करना चाहिये।

* सम सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

(गीता १३ । २७)

व्याख्या—

‘अव्यक्तोऽयम्’—जैसे शरीर-ससार स्थूलरूपसे देखनेमें आता है, ऐसे यह शरीरी स्थूलरूपसे देखनेमें आनेवाला नहीं है; क्योंकि यह स्थूल सृष्टिसे रहित है ।

‘अचिन्त्योऽयम्’—जैसे मन, बुद्धि आदि देखनेमें तो नहीं आते, पर चिन्तनमें आते ही हैं अर्थात् ये सभी चिन्तनके विषय हैं । परन्तु यह देही चिन्तनका भी विषय नहीं है; क्योंकि यह सूक्ष्म सृष्टिसे रहित है ।

‘अविकार्योऽयमुच्यते’—यह देही विकाररहित कहा जाता है अर्थात् इसमें कभी किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता । सबका कारण प्रकृति है, उस कारणभूत प्रकृतिमें भी विकृति होती है । परन्तु इस देहीमें किसी प्रकारकी विकृति नहीं होती; क्योंकि यह कारण सृष्टिसे रहित है ।

यहाँ चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोच्य, अचल, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य—इन आठ विशेषणोंके द्वारा इस देहीका निषेधमुखसे और नित्य, सर्वगत, स्थाणु और सनातन—इन चार विशेषणोंके द्वारा इस देहीका विधिमुखसे वर्णन किया गया है । परन्तु वास्तवमें इसका वर्णन हो नहीं सकता; क्योंकि वह वाणीका विषय नहीं है । जिससे वाणी आदि प्रकाशित होते हैं, उस देहीको वे सब प्रकाशित कैसे कर सकते हैं । अतः इस देहीका ऐसा अनुभव करना ही इसका वर्णन करना है ।

‘तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशान्बितुमर्हसि’ इसलिये इस देहीको अच्छेद्य, अशोच्य, नित्य, सनातन, अविकार्य आदि जान ले, तो शोक नहीं हो सकता। इस देहीको ऐसा जाननेका तात्पर्य है कि स्वयं-को जब ऐसा अनुभव हो जाता है, तो फिर शोक हो ही नहीं सकता।

सम्बन्ध—

अगर तू शरीरको निर्विकार न मान कर विकारी माने (जो कि सिद्धान्तसे विरुद्ध है), तो भी शोक नहीं हो सकता—यह बात आगेके दो श्लोकोंमें कहते हैं।

श्लोक—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मय्यत्रे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अर्थ—

हे महाबाहो ! अगर तू इस देहीको नित्य पैदा होनेवाला और नित्य मरनेवाला भी माने, तो भी तेरेको इसका शोक नहीं करना चाहिये।

व्याख्या—

‘अथ चैनं... .. शोचितुमर्हसि’—भगवान् यहाँ पक्षान्तरमें

‘अथ च’ पद देकर कहते हैं कि यद्यपि देही किसी भी कालमें जन्मने-मरनेवाला नहीं है, तथापि अगर तुम इस देहीको नित्य जन्मनेवाला और नित्य मरनेवाला मान लो तो भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

एक बीजको पृथ्वीमें बो दिया जाय तो वह फूलकर अंकुर दे देता है और वही अंकुर क्रमशः बढ़कर वृक्षरूप हो जाता है । इसमें सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय कि क्या वह बीज एक क्षण भी एकरूपसे रहा ? पृथ्वीमें वह पहले अपने कठोररूपको छोड़कर कोमलरूपमें हो गया, फिर कोमलरूपको छोड़कर अंकुररूपमें हो गया, इसके बाद अंकुररूपको छोड़कर वृक्षरूपमें हो गया और अन्तमें आयु समाप्त होनेपर वह सूख गया । इस तरह बीज एक क्षण भी एकरूपसे नहीं रहा, प्रत्युत प्रतिक्षण बदलता रहा । अगर बीज एक क्षण भी एकरूपसे रहता तो वृक्षके सूखनेतककी क्रिया कैसे होती ? उसने पहले रूपको छोड़ा—यह उसका मरना हुआ और उसने दूसरे रूपको धारण किया—यह उसका जन्मना हुआ । इस तरह वह प्रतिक्षण ही जन्मता-मरता रहा । बीजकी ही तरह यह शरीर है । बहुत सूक्ष्मरूपसे वीर्यका जन्तु रजके साथ मिला । वह बढ़ते-बढ़ते बच्चेके रूपमें हो गया और फिर जन्म गया । जन्मके बाद वह बड़ा, फिर घटा और अन्तमें मर गया । इस तरह शरीर एक क्षण भी एकरूपसे न रहकर बदलता रहा अर्थात् प्रतिक्षण जन्मता-मरता रहा* ।

❁ नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।

कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तत्र दृश्यते ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २२ । ४१)

‘अद्यपि प्रतिक्षण ही शरीरोंकी उत्पत्ति और नाश होता रहता है, तथापि कालकी गति अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण उनका प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होना दिखायी नहीं देता ।’

भगवान् कहते हैं कि अगर तू शरीरको तरह शरीरको भी नित्य जन्मने-मरनेवाला मान ले, तो भी यह शोकका विषय नहीं हो सकता ।

श्लोक—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

अर्थ—

क्योंकि पैदा हुएकी जरूर मृत्यु होगी और मरे हुएका जरूर जन्म होगा—इस (जन्म-मरणके प्रवाह) का परिहार अर्थात् निवारण नहीं हो सकता । इसलिये इस विषयमें तुमको शोक नहीं करना चाहिये ।

व्याख्या—

‘जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च’—पूर्वश्लोकके अनुसार अगर शरीरको भी नित्य जन्मने और मरनेवाला मान लिया जाय, तो भी वह शोकका विषय नहीं हो सकता । कारण कि जिसका जन्म हो गया है, वह जरूर मरेगा । और जो मर गया है, वह जरूर जन्मेगा ।

‘तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि’—इसलिये कोई भी इस जन्म-मृत्युरूप प्रवाहका परिहार (निवारण) नहीं कर सकता; क्योंकि इसमें किसीका किञ्चिन्मात्र भी वश नहीं चलता । यह जन्म मृत्युरूप प्रवाह तो अनादिकालसे चलता आ रहा है और अन्तकाल-तक चलता रहेगा । इस दृष्टिसे तेरे लिये शोक करना उचित नहीं है ।

ये धृतराष्ट्रके पुत्र जन्मे हैं तो जरूर मरेंगे । तुम्हारे पास ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे तुम उनको बचा सको । जो मर जायँगे, वे जन्मेंगे जरूर । उनको भी तुम रोक नहीं सकते । फिर शोक किस बातका ?

शोक उसीका कीजिये, जो अनहोनी होय ।

अनहोनी होती नहीं, होनी है सो होय ॥

जैसे इस बातको सब जानते हैं कि सूर्यका उदय हुआ है, तो उसका अस्त होगा ही और अस्त होगा, तो उसका उदय होगा ही । इसलिये मनुष्य सूर्यका अस्त होनेपर शोक-चिन्ता नहीं करते । ऐसे ही हे अर्जुन ! अगर तुम ऐसा मानते हो कि शरीरके साथ ये भीष्म, द्रोण आदि सभी मर जायँगे तो फिर शरीरके साथ जन्म भी जायँगे । अतः इस दृष्टिसे भी शोक नहीं हो सकता ।

भगवान् ने इन दो (छव्वीसवें-सत्ताईसवें) श्लोकोंमें जो बात कही है, वह भगवान् का कोई वास्तविक सिद्धान्त नहीं है । अतः 'अथ च' पद देकर भगवान् ने दूसरे (शरीर-शरीरीको एक माननेवाले) पक्षकी बात कही है कि ऐसा सिद्धान्त तो है नहीं, पर अगर तू ऐसा भी मान ले, तो भी शोक करना सर्वथा अनुचित है ।

इन दो श्लोकोका तात्पर्य यह हुआ कि संसारकी मात्र चीजें प्रतिक्षण परिवर्तनशील होनेसे पहले रूपको छोड़कर दूसरे रूपको धारण करती रहती हैं । इसमें पहले रूपको छोड़ना—यह मरना हो गया और दूसरे रूपको धारण करना—यह जन्मना हो गया । इस प्रकार 'जो जन्मता है, उसकी मृत्यु होती है और जिसकी मृत्यु

होती है, वह फिर जन्मता है—यह प्रवाह तो हरदम चळता ही रहता है । इस दृष्टिसे भी क्या शोक करें ?

सम्बन्ध—

पहलेकें दो श्लोकोंमें पक्षान्तरकी बात कहकर अब भगवान् आगेके श्लोकमें बिल्कुल साधारण दृष्टिकी बात कहते हैं ।

श्लोक—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥
अर्थ—

हे भारत ! सभी प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद अप्रकट हो जायँगे, केवल बीचमें प्रकट दीखते हैं; अतः इसमें शोक करनेकी बात ही क्या है ?

व्याख्या—

‘अव्यक्तादीनि भूतानि’—देखने, सुनने और समझनेमें आने-वाले जितने भी प्राणी (शरीर आदि) हैं वे सब-के-सब जन्मसे पहले अप्रकट थे अर्थात् दीखते नहीं थे ।

‘अव्यक्तनिधनान्येव’—ये सभी प्राणी मरनेके बाद अप्रकट हो जायँगे अर्थात् इनका नाश होनेपर ये सभी ‘नहीं’ में चले जायँगे, दीखेंगे नहीं ।

‘व्यक्तमध्यानि’—ये सभी प्राणी जन्मके बाद और मृत्युके पहले, बीचमें प्रकट दिखायी देते हैं । परन्तु बीचमें प्रकट दीखते हुए भी ये सभी प्राणी अप्रकटरूपमें ही जा रहे हैं । जैसे सोनेसे

पहले स्वप्न नहीं था, सोनेपर स्वप्न दीखने लग गया और फिर जगनेपर स्वप्न नहीं रहा, ऐसे ही इन प्राणियोंके शरीरोंका पहले भी अभाव था, पीछे भी अभाव रहेगा और बीचमें भावरूपसे दीखते हुए भी प्रतिक्षण अभाव हो रहा है।

‘तत्र का परिदेवना’—जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह बीचमें भी नहीं होता—यह सिद्धान्त है* । सभी प्राणियोंके शरीर पहले नहीं थे और पीछे नहीं रहेंगे; अतः वास्तवमें वे बीचमें भी नहीं हैं। परन्तु यह शरीर पहले भी था और पीछे भी रहेगा; अतः वह बीचमें भी रहेगा ही। निष्कर्ष यह निकला कि शरीरोंका सदा अभाव है और शरीरोंका कभी भी अभाव नहीं है। इसलिये इन दोनोंके ही लिये शोक नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—

अब भगवान् आगेके श्लोकमें शरीरोंकी अलौकिकताका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्य-

वद्वदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वा-

प्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

❀ आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।

(माण्डूक्यकारिका ४ । ३१)

अर्थ—

कोई इस शरीरीको आश्चर्यकी तरह देखता है । वैसे ही अन्य कोई इसका आश्चर्यकी तरह वर्णन करता है तथा अन्य कोई इसको आश्चर्यकी तरह सुनता है और इसको सुन करके भी कोई नहीं जानता ।

व्याख्या—

‘आश्चर्यवन्पश्यति कश्चिदेनम्’—इस देहीको कोई आश्चर्यकी तरह ही जानता है । तात्पर्य यह है कि दूसरी जितनी चीजें देखने, सुनने, पढ़ने और जाननेमें आती हैं, ऐसा इस देहीका जानना नहीं होता । कारण कि दूसरी वस्तुएँ इदंतासे (‘यह’ करके) जानते हैं अर्थात् वे जाननेका विषय होती हैं, पर यह देही इन्द्रिय-मन-बुद्धिका विषय नहीं है । इसको तो स्वयंसे, अपने-आपसे ही जाना जाता है । अपने-आपसे जो जानना होता है, वह जानना लौकिक ज्ञानकी तरह नहीं होता, प्रत्युत बहुत विवक्षित होता है ।

‘पश्यति’ पदके दो अर्थ होते हैं—नेत्रोंसे देखना और स्वयंके द्वारा स्वयंको जानना यहाँ ‘पश्यति’ पद स्वयंके द्वारा स्वयंको जाननेके विषयमें आया है । ऐसे ही ‘परं दृष्ट्वा निवर्तते (गीता २ । ५९), ‘विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति’ (गीता १३ । २७) आदि पदोंमें भी स्वयंके द्वारा स्वयंको देखनेकी बात कही गयी है ।

जहाँ नेत्र आदि करणोंसे देखना (जानना) होता है, वहाँ द्रष्टा (देखनेवाला), दृश्य (दीखनेवाली वस्तु) और दर्शन

(देखनेकी शक्ति)—यह त्रिपुटी होती है । इस त्रिपुटीसे ही सांसारिक देखना—जनना होता है । परन्तु स्वयंके ज्ञानमें यह त्रिपुटी नहीं होनी अर्थात् स्वयंका ज्ञान करण-सापेक्ष नहीं है । स्वयंका ज्ञान तो स्वयंके द्वारा ही होता है अर्थात् वह ज्ञान करण-निरपेक्ष है । जैसे, 'मैं हूँ'—ऐसा जो अपने होनेपनका ज्ञान है, इसमें किसी प्रमाणकी या किसी करणकी आवश्यकता नहीं है । इस अपने होनेपनको इदंतासे अर्थात् दृश्यरूपसे नहीं देख सकते । इसका ज्ञान अपने-आपको ही होता है । यह ज्ञान इन्द्रियजन्य या बुद्धिजन्य नहीं है । इसलिये स्वयंको जानना अपने-आपको जानना आश्चर्यकी तरह होता है ।

जैसे अँधेरे कमरेमें हम किसी चीजको लाने जाते हैं, तो हमारे साथ प्रकाश भी चाहिये और नेत्र भी चाहिये अर्थात् उस अँधेरे कमरेमें प्रकाशकी सहायतासे हम उस चीजको नेत्रोंसे देखेंगे, तब उसको लायेंगे । परन्तु कहीं दीपक जल रहा है और हम उस दीपकको देखने जायँगे, तो उस दीपकको देखने-के लिये हमें दूसरे दीपककी आवश्यकता नहीं पड़ेगी; क्योंकि दीपक स्वयंप्रकाश है । वह अपने-आपको स्वयं ही प्रकाशित करता है । ऐसे ही अपने स्वरूपको देखनेके लिये किसी दूसरे प्रकाशको आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यह देही (स्वरूप) स्वयंप्रकाश है । यह अपने-आपसे ही अपने-आपको जानता है ।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन शरीर हैं । अन्न-जलसे बना हुआ 'स्थूलशरीर' कहा जाता है । यह स्थूलशरीर इन्द्रियोंका

विषय है । इस स्थूलशरीरके भीतर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंसे बना हुआ ‘सूक्ष्म-शरीर’ कहा जाता है । यह सूक्ष्मशरीर इन्द्रियोका विषय नहीं है, प्रत्युत बुद्धिका विषय है । जो बुद्धिका भी विषय नहीं है, जिसमें प्रकृति—स्वभाव रहता है, वह ‘कारणशरीर’ कहा जाता है । इन तीनों शरीरोंपर विचार किया जाय तो यह स्थूलशरीर मेरा स्वरूप नहीं है, क्योंकि यह प्रतिक्षण बदलता है और जाननेमें आता है । सूक्ष्मशरीर भी बदलता है और जाननेमें आता है; अतः यह भी मेरा स्वरूप नहीं है । कारणशरीर प्रकृतिस्वरूप है, पर देही (स्वरूप) प्रकृतिसे भी अतीत है, अतः कारणशरीर भी मेरा स्वरूप नहीं है । यह देही जब प्रकृतिको छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब यह अपने-आपसे अपने-आपको जान लेता है । यह जानना सांसारिक वस्तुओंको जाननेकी अपेक्षा सर्वथा विरुद्ध होता है, इसलिये इसको ‘आश्चर्यं वत् पश्यति’ कहा गया है ।

यहाँ भगवान् ने कहा है कि अपने-आपका अनुभव करनेवाला कोई एक ही होता है—‘कश्चित्’ और आगे सातवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भी यही बात कही है कि कोई एक मनुष्य ही मेरे-को तत्त्वसे जानता है—‘कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः’ । इन पदोंसे ऐसा मायम होता है कि इस अविनाशी तत्त्वको जानना बड़ा कठिन है, दुर्लभ है । परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है । इस तत्त्वको जानना कठिन नहीं है, दुर्लभ नहीं है, प्रत्युत इस तत्त्वको सच्चे हृदयसे जाननेवालेकी, इस तरफ लगनेवालेकी कमी है । यह कमी जाननेकी जिज्ञासाकी कमीके कारण ही है ।

‘आश्चर्यवद्भवति तथैव चान्यः’—ऐसे ही दूसरा पुरुष इस देहीका आश्चर्यकी तरह ही वर्णन करता है; क्योंकि यह तत्त्व वाणीका विषय नहीं है। जिससे वाणी भी प्रकाशित होती है, वह वाणी उसका वर्णन कैसे कर सकती है। जो महापुरुष इस तत्त्वका वर्णन करता है, वह तो शाखाचन्द्रन्यायवी ताह वाणीसे इसका केवल संकेत ही करता है, जिससे सुननेवालेका इधर लक्ष्य हो जाय। अतः इसका वर्णन आश्चर्यकी तरह ही होता है।

यहाँ जो ‘अन्यः’ पद आया है, उसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो जाननेवाला है, उससे यह कहनेवाला अन्य है; क्योंकि जो स्वयं जानेगा ही नहीं, वह वर्णन क्या करेगा ! अतः इस पदका तात्पर्य यह है कि जितने जाननेवाले हैं, उनमें वर्णन करनेवाला कोई एक ही होता है। कारण कि सब-के-सब अनुभवी तत्त्वज्ञ महापुरुष उस तत्त्वका विवेचन करके सुननेवालेको उस तत्त्वतक नहीं पहुँचा सकते। उसकी शंकाओंका, तर्कोंका पूरी तरह समाधान करनेकी क्षमता नहीं रखते। अतः वर्णन करनेवालेकी विलक्षण क्षमताका द्योतन करनेके लिये ही यहाँ ‘अन्यः’ पद दिया गया है।

‘आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति’—दूसरा कोई इस देहीको आश्चर्यकी तरह ही सुनता है। तात्पर्य है कि सुननेवाला शास्त्रोंकी, लोक-त्रेकान्तरोंकी जितनी बातें सुनता आया है, उन सब बातोंसे इस देहीकी बात विलक्षण मालूम देती है। कारण कि दूसरा जो कुछ सुना है, वह सब-का सब इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदिका विषय

है; परन्तु यह देही इन्द्रियों आदिका विषय नहीं है, प्रत्युत यह इन्द्रियो आदिके विषयको प्रकाशित करता है। अतः इस देहीकी विलक्षण बात वह आश्चर्यकी तरह सुनता है।

यहाँ 'अन्यः' पद देनेका तात्पर्य है कि जाननेवाला और कहनेवाला—इन दोनोंसे सुननेवाला (तत्त्व का जिज्ञासु) अलग है।

'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्'—इसको सुन करके भी कोई नहीं जानता—इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसने सुन लिया, तो अब वह जानेगा ही नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि केवल सुन करके (सुननेमात्रसे) इसको कोई भी नहीं जानता। सुननेके बाद जब वह स्वयं उसमें स्थित होगा, तब वह अपने-आपसे ही अपने-आपको जानेगा। इसलिये कहा गया है कि अपनेद्वारा अपने-आपका उद्धार करे—'उद्धरेदात्मनात्मानम्' (गीता ६।५)

यहाँ कोई कहे कि शास्त्री और गुरुजनोंसे ज्ञान तो होता ही है, फिर यहाँ 'सुन करके भी कोई नहीं जानता'—ऐसा कैसे कहा गया है ? इस विषयपर थोड़ा गम्भीरतासे विचार करके देखें कि शास्त्रोंपर श्रद्धा स्वयं शास्त्र नहीं कराते और गुरुजनोंपर श्रद्धा स्वयं गुरुजन नहीं कराते; किन्तु साधक स्वयं ही शास्त्र और गुरुपर श्रद्धा-विश्वास करता है और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक ही अपने स्वरूपमें स्थित होता है और स्वयं ही अपने-आपको ज्ञान लेता है। तात्पर्य है कि श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सुननेसे स्वरूपमें स्थित होनेमें सहायता तो जरूर मिलती है, पर स्वरूपमें स्थित स्वयं ही होता है।

जैसे, भगवान् ने कहा है कि 'जब अपने-आपसे अपने-आपमें सन्तुष्ट होता है, तब वह स्थितप्रज्ञ होता है' (गीता २ । ५५), 'कई ध्यानसे अपने-आपसे ही अपने-आपको जानते हैं' (गीता १३ । २४) । ऐसे ही भगवान् के लिये भी अर्जुन ने कहा है कि 'हे पुरुषोत्तम ! आप अपने-आपसे ही अपने-आपको जानते हैं' (गीता १० । १५) । तात्पर्य है कि यह स्वयं ही अपने-आपसे अपनेको जानता है । इसके सिवाय अपनेको जाननेमें दूसरा कोई कारण नहीं है ।

शक्तिपात आदिके द्वारा जो ज्ञान होता है, उसमें भी स्वयं ही सम्मुख होता है । अगर स्वयंके सम्मुख हुए बिना ही ज्ञान हो जाता, तो आजतक भगवान् के बहुत अवतार हुए हैं, बड़े-बड़े जीवन्मुक्त महापुरुष हुए हैं, उनके सामने कोई अज्ञानी रटना ही नहीं चाहिये था अर्थात् सबको तत्त्वज्ञान हो जाना चाहिये था । पर ऐसा देखनेमें नहीं आता ।

अपने-आपसे अपने-आपको जानना क्या होता है ? एक होता है करना, एक होता है देखना और एक होता है जानना । करनेमें कर्मेन्द्रियोंकी, देखनेमें ज्ञानेन्द्रियोंकी और जाननेमें स्वयंकी मुख्यता होती है । ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा जानना नहीं होता, प्रत्युत देखना होता है, जो कि व्यवहारमें उपयोगी है । स्वयंके द्वारा जो जानना होता है, वह दो तरहका होता है—एक तो शरीर संसारके साथ मेरी सदा भिन्नता है और दूसरा, परमात्माके साथ मेरी सदा अभिन्नता है । दूसरे शब्दोंमें, परिवर्तनशील नाशवान् पदार्थोंके

साथ मेरा किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है और अपरिवर्तनशील अविनाशी परमात्माके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध है। ऐसा जाननेके बाद फिर अनुभव होता है। उस अनुभवका वाणीसे वर्णन नहीं हो सकता। वहाँ तो बुद्धि भी चुप हो जाती है।

इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि यह सब दृश्य अभावरूप है और इसको देखनेवाला, जाननेवाला भावरूप है। उस भावरूपका देखना, जानना ही आश्चर्यकी ज्यों है अर्थात् सब दृश्यको अभावरूप देखकर जो भावरूप है, उसका अनुभव करना ही आश्चर्यकी ज्यों है। कभी ऐसा देखा ही नहीं, यह देखना विचित्र ही है। दूसरा कोई कहता है, तो उसका कहना, दूसरा कोई सुनता है तो उसका सुनना आश्चर्यकी ज्यों ही है। परन्तु उसको सुनकर कोई जान सकता ही नहीं, कारण कि सबका अभाव होकर जो भावरूपसे रहता है, उसका अनुभव तो स्वयंसे ही होता है, इन्द्रियों-मन-बुद्धि आदि किसी कारणसे नहीं अर्थात् उसका अनुभव कारण-निरपेक्ष है।

सम्बन्ध—

अबतक देह और देहीका जो प्रकरण चल रहा था, उसका आगेके श्लोकमें उपसंहार करते हैं।

श्लोक—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

अर्थ—

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन ! सबके देहमें यह देही नित्य ही अवध्य है। इसलिये सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये अर्थात् किसी भी प्राणीके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

व्याख्या

‘देही नित्यमवधोऽयं देहे सर्वस्य भारत’—मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंमें यह देही एक है, नित्य और अवध्य अर्थात् अविनाशी है ।

‘अवध्यः’ शब्दके दो अर्थ होते हैं—(१) इसका वध नहीं करना चाहिये और (२) इसका वध हो ही नहीं सकता । जैसे गाय-अव्यय है अर्थात् कभी किसी भी अवस्थामें गायको नहीं मारना चाहिये; क्योंकि गायको मारनेमें बड़ा भारी दोष है, पाप है । परन्तु देहीके विषयमें ‘देहीका वध नहीं करना चाहिये’—ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत इस देहीका वध (नाश) कभी किसी भी तरहसे हो ही नहीं सकता और कोई कर भी नहीं सकता — ‘विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति’ (२।१७) ।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि’—इसलिये तुम्हें किसी भी प्राणीके लिये शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि इस देहीका विनाश कभी हो ही नहीं सकता और विनाशी देह क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रहता ।

यहाँ ‘सर्वाणि भूतानि’ पदोंमें बहुवचन देनेका आशय है कि कोई भी प्राणी बाकी न रहे अर्थात् किसी भी प्राणीके लिये शोक नहीं करना चाहिये ।

शरीर विनाशी ही है; क्योंकि उसका स्वभाव ही नाशवान् है, वह प्रतिक्षण ही नष्ट हो रहा है । परन्तु जो अपना नित्य-स्वरूप है, उसका कभी नाश होता ही नहीं । अगर इस वास्तविकताको जान लिया जाय, तो शोक होना सम्भव ही नहीं है ।

प्रकरण-सम्वन्धी विशेष बात

यहाँ ग्याहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतकका जो प्रकरण है, यह खास करके देही-देह, नित्य-अनित्य, मत्-असत्, अविनाशी-विनाशी—इन दोनोंके विवेकके लिये अर्थात् इन दोनोंको अलग-अलग बतानेके लिये ही है । कारण कि जबतक देही अलग है और देह अलग है—यह विवेक नहीं होगा, तबतक कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि कोई-सा भी योग अनुष्ठानमें नहीं आयेगा । इतना ही नहीं, स्वर्गादि लोकोकी प्राप्तिके लिये भी देही-देहके भेदको समझना आवश्यक है । कारण कि देहसे अलग देही न हो, तो देहके मरनेपर स्वर्ग कौन जायगा ? अतः जितने भी आस्तिक दार्शनिक हैं, वे चाहे अद्वैतवादी हों, चाहे द्वैतवादी हो, किसी भी मतके क्यो न हो, सभी शरीर-शरीरके भेदको मानते ही हैं । यहाँ भगवान् इसी भेदको स्पष्ट करना चाहते हैं ।

इस प्रकरणमें भगवान् ने जो बात कही है, वह प्रायः सम्पूर्ण मनुष्योंके अनुभवकी बात है । जैसे, देह बदलता है और देही नहीं बदलता । अगर यह देही बदलता तो देहके बदलनेको कौन जानता ? पहले वाल्यावस्था थी, फिर जवानी आयी; कभी बीमारी आयी तो कभी बीमारी चली गयी—इस तरह अवस्थाएँ तो बदलती रहती हैं, पर इन सभी अवस्थाओंको जाननेवाला देही वही रहता है । अतः बदलनेवाला और न बदलनेवाला—ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते । इसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है, इसलिये भगवान् ने इस प्रकरणमें आत्मा-अनात्मा, ब्रह्म-जीव, प्रकृति-पुरुष,

जड़-चेतन, माया-अग्नि आदि दार्शनिक शब्दोंका प्रयोग नहीं किया है। कारण कि लोगोंने दार्शनिक बातें केवल सीखनेके लिये मान रखी हैं, उन बातोंको केवल पढाईका विषय मान रखा है। इसको दृष्टिमें रखकर भगवान्ने इस प्रकरणमें दार्शनिक शब्दोंका प्रयोग न करके देह-देही, शरीर-शरीरो, असत्-सत्, विनाशो-अविनाशी शब्दोंका ही प्रयोग किया है। जो इन दोनोंके भेदको ठीक-ठीक जान लेता है, उसको कभी किञ्चिन्मात्र भी शोक नहीं हो सकता। शोक तो उसीको होता है, जो केवल दार्शनिक बातोंको सीख लेता है।

सम्बन्ध—

सत् और असत्के विवेककी दृष्टिसे भी तुम्हें युद्ध करना चाहिये—यह बात भगवान्ने ग्यारहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतक कह दी। अब व्यवहारमें क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे भी तुम्हें युद्ध करना चाहिये—यह बात बतानेके लिये भगवान् आगेका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले दो श्लोकोंमें युद्ध करनेसे क्या लाभ होता है, उसको बताते हैं।

श्लोक—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

अर्थ—

अपने धर्मको देखकर भी तुम्हें विकम्पित अर्थात् कृतव्य-
कर्मसे विचलित नहीं होना चाहिये, क्योंकि धर्मना युद्धसे बढकर
क्षत्रियके लिये दूसरा कोई कल्याणकारक काम नहीं है।

व्याख्या—

‘स्वधर्ममपि चात्रेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि’—यह स्वयं परमात्माका अंश है । जब यह शरीरके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब यह ‘स्व’ को अर्थात् अपने-आप को जो कुछ मानता है, उसका कर्तव्य ‘स्वधर्म’ कहलाता है । जैसे, कोई अपने-आपको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र मानता है, तो अपने-अपने वर्णोचित कर्तव्योंका पालन करना उसका स्वधर्म है । कोई अपनेको शिक्षक या नौकर मानता है, तो शिक्षक या नौकरके कर्तव्योंका पालन करना उसका स्वधर्म है । कोई अपनेको किसीका पिता या किसीका पुत्र मानता है, तो पुत्र या पिताके प्रति किये जानेवाले कर्तव्योंका पालन करना उसका स्वधर्म है ।

यहाँ क्षत्रियके कर्तव्य-कर्मको ‘धर्म’ नामसे कहा गया है* । क्षत्रियका खास कर्तव्य-कर्म है—युद्धसे विमुख न होना । अर्जुन क्षत्रिय है; अतः युद्ध करना उनका स्वधर्म है । इसलिये भगवान् कहते हैं कि अगर स्वधर्मको लेकर देखा जाय, तो भी क्षात्र-धर्मके अनुसार

* अठारहवें अध्यायमें जहाँ चारों वर्णोंके धर्मोंका वर्णन आया है, वहाँ कर्मोंके वर्णनमें ‘धर्म’ शब्द आया है; जैसे—‘ब्रह्मकर्म स्वभावजम्’, ‘क्षात्रं कर्म स्वभावजम्’, ‘वैश्यकर्म स्वभावजम्’, ‘परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्’, ‘स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः’, ‘स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य’, ‘श्रेयान्स्वधर्मः परधर्मात्’, ‘स्वभावनियतं कर्म’, ‘सहजं कर्म’ (१८।४२-४८) । इस वर्णनसे ‘कर्म’ और ‘धर्म’ शब्द पर्यायवाची सिद्ध होते हैं ।

तुम्हारे लिये युद्ध वरना ही वर्तव्य है । अपने कर्तव्यसे तुम्हें कभी विमुख नहीं होना चाहिये ।

मार्मिक बात

स्वयं परमात्माका अश हांनसे वास्तवमें स्वधर्म हैं—अपना कल्याण करना, अपनेको भगवान्का मानना और भगवान्के सिवाय किसीको भी अपना न मानना, अपनेको जिज्ञासु मानना, अपनेको सेवक मानना । कारण कि ये सभी सही धर्म हैं, खास-स्वयंके धर्म हैं, मन-बुद्धिके धर्म नहीं हैं । वाकी वर्ण, आश्रम, शरीर आदिको लेकर जितने भी धर्म हैं, वे अपने कर्तव्यपालनके लिये स्वधर्म होते हुए भा परधर्म हों हैं । कारण कि वे सभी धर्म माने हुए हैं और स्वयंके नहीं हैं । उन सभी धर्मोंमें दूसरोके सहारेकी आवश्यकता होती है अर्थात् उनमें परतन्त्रता रहती है; परन्तु जो अपना असली धर्म है, उसमें किसीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती अर्थात् उसमें स्वतन्त्रता रहती है ।

प्रेमी होना होता है तो स्वयं होता है, जिज्ञासु होना होता है तो स्वयं होता है और सेवक होना होता है तो स्वयं होता है । अतः प्रेमी प्रेम होकर प्रेमास्पदके साथ एक हो जाता है, जिज्ञासु जिज्ञासा होकर ज्ञातव्य-तत्त्वके साथ एक हो जाता है और सेवक सेवा होकर सेव्यके साथ एक हो जाता है । ऐसे ही साधकमात्र साधनासे एक होकर साध्यस्वरूप हो जाता है ।

‘धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते’—
धर्ममय युद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये दूसरा कोई कल्याणकारक

काम नहीं है अर्थात् क्षत्रियके लिये क्षत्रियके कर्तव्यका अनुष्ठान करना ही खास काम है । [ऐसे ही ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रके लिये भी अपने-अपने कर्तव्यका अनुष्ठान करनेके सिवाय दूसरा कोई कल्याणकारी काम नहीं है ।]

अर्जुनने सातवें श्लोकमें प्रार्थना की थी कि आप मेरे लिये निश्चित श्रेयकी बात कहिये । उसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि श्रेय (कल्याण) तो अपने धर्मका पालन करनेसे ही होगा । किसी भी दृष्टिसे अपने धर्मका त्याग कल्याणकारक नहीं है । अतः तुम्हें अपने युद्धरूप धर्मसे विमुख नही होना चाहिये ।

श्लोक—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमोदशम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—

अपने-आप प्राप्त हुआ युद्ध खुला हुआ स्वर्गका दरवाजा है । हे पृथानन्दन ! वे क्षत्रिय बड़े सुखी हैं, जिनको ऐसा युद्ध प्राप्त होता है ।

व्याख्या—

‘यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्’—पाण्डवोंसे जूआ खेलनेमें दुर्योधनने यह शर्त रखी थी कि अगर इसमें आप हार जायेंगे तो आपको दारुह वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञात-वास होगा । तेरहवें वर्षके बाद आपको अपना राज्य मिल जायगा । परन्तु अज्ञातवासमें अगर हमलोग आपलोगोंको खोज लेंगे, तो

आपलोगोंको दुवारा वरह वर्षका वनवास भोगना पड़ेगा । जएमे हार जानेपर शर्तके अनुमार पाण्डवोंने वारह वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास भोग लिया । उसके बाद उन्होंने अपना राज्य माँगा, तो दुर्योधनने कहा 'क मै बिना युद्ध किये मूर्खकी तीखी नोक-जितनी जमीन भी नहीं दूँगा । दुर्योधनके ऐसा कहनेपर भी पाण्डवोंकी ओरसे बार-बार सन्धिका प्रस्ताव रखा गया, पर दुर्योधनने पाण्डवोंसे सन्धि स्वीकार नहीं की । इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि यह युद्ध तुमलोगोंको अपने-आप प्राप्त हुआ है । अपने-आप प्राप्त हुए धर्ममय युद्धमें जो शूरवीरतासे लड़ते हुए मरता है, उसके लिये स्वर्गका दरवाजा खुला हुआ रहता है (गीता २ । ३७) ।

‘सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्’—ऐसा धर्ममय युद्ध जिनको प्राप्त हुआ है, वे क्षत्रिय बड़े सुखी हैं । यहाँ सुखी कहनेका तात्पर्य है कि अपने कर्तव्यका पालन करनेमें जो सुख है, वह सुख सांसारिक भोगोंमें नहीं है । सांसारिक सुख तो पशु-पक्षियोंको भी होता है, पर मनुष्यका सुख, कर्तव्यपालनमें ही है । अतः जिनको कर्तव्यपालनका अवसर प्राप्त हुआ है, उनको बड़ा भाग्यशाली मानना चाहिये ।

सम्बन्ध—

अब युद्ध न करनेसे क्या हानि होती है ?—इसका आगेके चार श्लोकोंमें वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अर्थ—

अब अगर तू यह धर्ममय युद्ध नहीं करेगा, तो अपने धर्म और कीर्ति का त्याग करके पाप को प्राप्त होगा ।

व्याख्या—

‘अथ चेत्त्वमिमं पापमवाप्स्यसि’—यहाँ अथ अवयव पक्षान्तरमें आया है और ‘चेत्’ अवयव सम्भावनाके अर्थमें आया है। इनका तात्पर्य है कि यद्यपि तू युद्धके बिना रह नहीं सकेगा, अपने क्षात्र-स्वभावके परवश हुआ तू युद्ध करेगा ही (गीता १८ । ६०), तथापि अगर ऐसा मान लें कि तू युद्ध नहीं करेगा, तो तेरे द्वारा क्षात्रधर्मका त्याग हो जायगा । छात्रधर्मका त्याग होनेसे तेरेको पाप लगेगा और तेरी कीर्तिका भी नाश होगा ।

आपसे-आप प्राप्त हुए धर्मरूप कर्तव्यका त्याग करके तू क्या करेगा ? अपने धर्मका त्याग करनेसे तेरेको परधर्म स्वीकार करना पड़ेगा, जिससे तेरेको पाप लगेगा ।

युद्धका त्याग करनेसे दूसरे लोग ऐसा मानेंगे कि अर्जुन-जैसा शूरवीर भी मरनेसे भयभीत हो गया ! इससे तेरी कीर्तिका नाश होगा ।

श्लोक—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अर्थ—

और सब प्राणी भी तेरी सदा रहनेवाली अपकीर्तिका कथन करेंगे । वह अपकीर्ति सम्मानित पुरुषके लिये मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायी होती है ।

ब्याख्या—

‘अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्’—
मनुष्य, देवता, यक्ष, राक्षस आदि जिन प्राणियोंका तेरे साथ कोई
सम्बन्ध नहीं है अर्थात् जिनकी तेरे साथ न मित्रता है और न
शत्रुता, ऐसे साधारण प्राणी भी तेरी अपकीर्ति, अपयशका कथन
करेंगे कि देखो ! अर्जुन कैसा भीरु था, जो कि अपने क्षात्र-धर्मसे
विमुख हो गया ! वह कैसा शूरावीर था, पर उसकी भी कायरता
युद्धके मौकेपर प्रकट हो गयी, जिसका कि दूसरोको पता ही नहीं
था ! आदि-आदि ।

‘ते’ कहनेका भाव है कि स्वर्ग, मृत्यु और पाताललोकमें भी
जिसकी धाक जमी हुई है, ऐसे तेरी अपकीर्ति होगी । ‘अव्ययाम्’
कहनेका तात्पर्य है कि जो आदमी श्रेष्ठताको लेकर जितना अधिक
प्रसिद्ध होता है, उसकी कीर्ति और अपकीर्ति भी उतनी ही अधिक
स्थायी रहनेवाली होती है ।

‘सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादनिरिच्यते’—इस श्लोकके
पूर्वार्धमें भगवान् ने साधारण प्राणियों द्वारा अर्जुनकी निन्दा किये
जानेकी बात बतायी । अब श्लोकके उत्तरार्धमें सबके लिये लागू
होनेवाली सामान्य बात बताते हैं ।

संसारकी दृष्टिमें जो श्रेष्ठ माना जाता है, जिसको लोग बड़ी ऊँची
दृष्टिसे देखते हैं, ऐसे पुरुषकी जब अपकीर्ति होती है, तो वह
अपकीर्ति उसके लिये मरणसे भी अधिक भयंकर दुःखदायी होती
है । कारण कि मरनेमें तो उम्र समाप्त हुई है, उसने कोई अपराध
तो किया नहीं है; परन्तु अपकीर्ति होनेमें तो वह खुद धर्म-मर्यादा-

‘ततो दुःखतरं नु किम्’—इससे बढ़कर अत्यन्त भयंकर दुःख क्या होगा ? क्योंकि यह देखा जाता है कि जैसे मनुष्य तुच्छ आदमियोंके द्वारा तिरस्कृत होनेपर अपना तिरस्कार सह नहीं सकता और अपनी योग्यतासे, अपनी शूरवीरतासे अधिक काम करके मर मिटता है । ऐसे ही जब शत्रुओंके द्वारा तेरा सर्वथा अनुचित तिरस्कार हो जायगा, तो उसको तू सह नहीं सकेगा और तेजीमें आकर युद्धके लिये क्रोध पड़ेगा । तेरेसे युद्ध किये बिना नहीं रहा जायगा । अभी तो तू युद्धसे उपरत हो रहा है, पर जब तू समय-पर युद्धके लिये क्रोध पड़ेगा तो तेरी कितनी निन्दा होगी ! उस निन्दाको तू कैसे सह सकेगा ?

सम्बन्ध—

पहलेके चार श्लोकोंमें युद्ध न करनेसे हानि बताकर अब आगेके दो श्लोकोंमें युद्ध करनेसे लाभ बताते हैं ।

श्लोक—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

अर्थ—

अगर युद्धमें तू मारा जायगा तो तेरेको स्वर्गकी प्राप्ति होगी, और अगर युद्धमें तू जीत जायगा तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा । अतः हे कुन्तीनन्दन ! तू युद्धके लिये निश्चय काके खड़ा हो जा ।

व्याख्या—

‘हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्’— इसी अध्यायके छठे श्लोकमें अर्जुनने कहा था कि हम लोगोंको

इसका भी पना नहीं है कि युद्धमें हम आपको जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे । अर्जुनके इस सन्देहको लेकर भगवान् यहाँ साफ कहते हैं कि अगर व युद्धमें कर्ण आदिके द्वारा मारा भी जायगा तो स्वर्गको चला जायगा और अगर युद्धमें तेरी जीत हो जायगी तो यहाँ पृथ्वीका राज्य भोगेगा । इस तरह तुम्हारे तो दोनों ही हाथोंमें लड्डू हैं । तात्पर्य है कि युद्ध करनेसे तो तुम्हारा दोनों तरफसे लाभ ही लाभ है और युद्ध न करनेसे दोनों तरफसे हानि-ही-हानि है । अतः तुम्हें युद्धमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये ।

‘तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः’—यहाँ ‘कौन्तेय’ सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि जब मैं सन्धिका प्रस्ताव लेकर कौरवोंके पास गया था, तो माता कुन्तीने तुम्हारे लिये यही सन्देश भेजा था कि तुम युद्ध करो । अतः तुम्हें युद्धसे निवृत्त नहीं होना चाहिये, प्रत्युत युद्धका निश्चय करके खड़ा हो जाना चाहिये ।

अर्जुनका युद्ध न करनेका निश्चय था और भगवान् ने इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें युद्ध करनेकी आज्ञा दे दी । इससे अर्जुनके मनमें सन्देह हुआ कि युद्ध करना ठीक है या न करना ठीक है । अतः यहाँ भगवान् उस सन्देहको दूर करनेके लिये कहते हैं कि तुम युद्धके लिये एक निश्चय कर लो, उसमें सन्देह मत रखो ।

यहाँ भगवान् का तात्पर्य ऐसा मालूम होता है कि मनुष्यको किसी भी हालतमें प्राप्त कर्तव्यका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उत्साह और तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये । कर्तव्यका पालन करनेमें ही मनुष्यकी मनुष्यता है ।

से, कर्तव्यसे च्युत हुआ है। तात्पर्य है कि लोगोंमें श्रेष्ठ माना जानेवाला पुरुष अगर अपने कर्तव्यसे च्युत होता है, तो उसका बड़ा भयंकर अपप्रश होता है।

श्लोक—

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—

महारथीलोग तेरेको भयके कारण युद्धसे उपरत हुआ मानेंगे। जिनकी धारणामें तू बहुमान्य हो चुका है, उनकी दृष्टिमें तू लघुता-को प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या—

‘भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः’—तू ऐसा समझता है कि मैं तो केवल अपना कल्याण करनेके लिये युद्धसे उपरत हुआ हूँ, परन्तु अगर ऐसी ही बात हांती और युद्धको तू पाप समझता, तो पहले ही एकान्तमें रहकर भजन-स्मरण करता और तेरी युद्धके लिये प्रवृत्ति भी नहीं होती। परन्तु तू एकान्तमें न रहकर युद्धमें प्रवृत्त हुआ है। अब अगर तू युद्धसे निवृत्त होगा, तो बड़े-बड़े महारथीलोग ऐसा ही मानेंगे कि युद्धमें मारे जानेके भयसे ही अर्जुन युद्धसे निवृत्त हुआ है। अगर वह धर्मका विचार करता, तो युद्धसे निवृत्त नहीं होता; क्योंकि युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है। अतः वह मरनेके भयसे ही युद्धसे निवृत्त हो रहा है।

‘येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्’—भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, शल्य आदि जो बड़े-बड़े महारथी हैं, उनकी

दृष्टिमें तू बहुमान्य हो चुका है अर्थात् उनके मनमें यह एक विश्वास है कि युद्ध करनेमें नामी शूरवीर तो अर्जुन ही है । वह युद्धमें अनेक दैत्यों, देवताओं, गन्धर्वों आदिको हरा चुका है । अगर अब तू युद्धसे निवृत्त हो जायगा, तो उन महारथियोंके सामने तू लघुता- (तुच्छता-) को प्राप्त हो जायगा अर्थात् उनकी दृष्टिमें तू गिर जायगा ।

श्लोक—

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—

तेरे शत्रुलोग तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए न कहनेयोग्य बहुत-से वचन कहेंगे । उससे बढ़कर और दुःखकी बात क्या होगी ?

ब्याख्या—

अवाच्यवादांश्च..... निन्दन्तस्तव सामर्थ्यम्—
‘अहित’ नाम शत्रुका है, अहित करनेवालेका है । तेरे जो दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण आदि शत्रु हैं, तेरे वैर न रखनेपर भी वे स्वयं तेरे साथ वैर रखकर तेरा अहित करनेवाले हैं । वे तेरे सामर्थ्यको जानते हैं कि यह बड़ा भारी शूरवीर है । ऐसा जानते हुए भी वे तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करेंगे कि यह तो हिंजडा है । देखो ! यह युद्धके मौकेपर हो गया न अलग ! क्या यह हमारे सामने टिक सकता है ? क्या यह हमारे साथ युद्ध कर सकता है ? इस प्रकार तेरेको दुःखी करनेके लिये, तेरे भीतर जलन पैदा करनेके लिये न जाने कितने न कहनेलायक वचन कहेंगे । उनके वचनोंको तू कैसे सहेगा ?

‘ततो दुःखतरं नु किम्’—इससे बढ़कर अत्यन्त भयंकर दुःख क्या होगा ? क्योंकि यह देखा जाता है कि जैसे मनुष्य तुच्छ आदमियोंके द्वारा तिरस्कृत होनेपर अपना तिरस्कार सह नहीं सकता और अपनी योग्यतासे, अपनी शूरवीरतासे अधिक काम करके मर मिटता है । ऐसे ही जब शत्रुओंके द्वारा तेरा सर्वथा अनुचित तिरस्कार हो जायगा, तो उसको तू सह नहीं सकेगा और तेजीमें आकर युद्धके लिये क्रोध पड़ेगा । तेरेसे युद्ध किये बिना नहीं रहा जायगा । अभी तो तू युद्धसे उपरत हो रहा है, पर जब तू समय-पर युद्धके लिये क्रोध पड़ेगा तो तेरी कितनी निन्दा होगी ! उस निन्दाको तू कैसे सह सकेगा ?

सम्यन्ध—

पहलेके चार श्लोकोंमें युद्ध न करनेसे हानि बताकर अब आगेके दो श्लोकोंमें युद्ध करनेसे लाभ बनाते हैं ।

श्लोक—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

अर्थ—

अगर युद्धमें तू मारा जायगा तो तेरेको स्वर्गकी प्राप्ति होगी, और अगर युद्धमें तू जीत जायगा तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा । अतः हे कुन्तीनन्दन ! तू युद्धके लिये निश्चय काके खड़ा हो जा ।

व्याख्या—

‘हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्’— इसी अध्यायके छठे श्लोकमें अर्जुनने कहा था कि हम लोगोंको

इसका भी पता नहीं है कि युद्धमें हम उनको जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे । अर्जुनके इस सन्देहको लेकर भगवान् यहाँ साफ कहते हैं कि अगर व युद्धमें कर्ण आदिके द्वारा मारा भी जायगा तो स्वर्गको चला जायगा और अगर युद्धमें तेरी जीत हो जायगी तो यहाँ पृथ्वीका राज्य भोगेगा । इस तरह तुम्हारे तो दोनों ही हाथोंमें लड़्डू हैं । तात्पर्य है कि युद्ध करनेसे तो तुम्हारा दोनों तरफसे लाभ-ही-लाभ है और युद्ध न करनेसे दोनो तरफसे हानि-ही-हानि है । अतः तुम्हें युद्धमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये ।

‘तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः’—यहाँ ‘कौन्तेय’ सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि जब मैं सन्धिका प्रस्ताव लेकर कौरवोंके पास गया था, तो माता कुन्तीने तुम्हारे लिये यही सन्देश भेजा था कि तुम युद्ध करो । अतः तुम्हें युद्धसे निवृत्त नहीं होना चाहिये, प्रत्युत युद्धका निश्चय करके खड़ा हो जाना चाहिये ।

अर्जुनका युद्ध न करनेका निश्चय था और भगवान् ने इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें युद्ध करनेकी आज्ञा दे दी । इससे अर्जुनके मनमें सन्देह हुआ कि युद्ध करना ठीक है या न करना ठीक है । अतः यहाँ भगवान् उस सन्देहको दूर करनेके लिये कहते हैं कि तुम युद्धके लिये एक निश्चय कर लो, उसमें सन्देह मत रखो ।

यहाँ भगवान् का तात्पर्य ऐसा माद्वम देता है कि मनुष्यको किसी भी हालतमें प्राप्त कर्तव्यका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उत्साह और तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये । कर्तव्यका पालन करनेमें ही मनुष्यकी मनुष्यता है ।

श्लोक—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अर्थ—

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा । इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा ।

व्याख्या—

[अर्जुनवो यह आशंका थी कि युद्धमें कुटुम्बियोंको मारनेसे हमारेको 'पाप' लग जायगा, पर भगवान् यहाँ कहते हैं कि पापका हेतु युद्ध नहीं है, प्रत्युत अपनी कामना है । अतः कामनाका त्याग करके तम युद्धके लिये खड़े हो जाओ ।]

‘सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ततो युद्धाय युज्यस्व’—युद्धमें सबसे पहले जय और पराजय होती है, जय-पराजयका परिणाम होता है—लाभ और हानि तथा लाभ-हानिका परिणाम होता है—सुख और दुःख । जय-पराजय और लाभ-हानिमें सुखी-दुःखी होना तेरा उद्देश्य नहीं है । तेरा उद्देश्य तो इन तीनोंमें सम होकर अपने कर्तव्यका पालन करना है ।

युद्धमें जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख तो होंगे ही । अतः तू पहलेसे यह विचार कर ले कि मुझे तो केवल अपने कर्तव्यका पालन करना है, जय-पराजय आदिसे कुछ भी

मत्तत्त्व नहीं रखना है । फिर युद्ध करनेसे पाप नहीं लगेगा । अर्थात् ससारका बन्धन नहीं होगा ।

सकाम और निष्काम—दोनों ही भावोंसे अपने कर्तव्य-कर्मका पालन आवश्यक है । जिसका सकामभाव है, उसको तो कर्तव्य-कर्मके करनेमें आलस्य, प्रमाद त्रिकुल नहीं करने चाहिये, प्रत्युत तत्परतासे अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये । जिसका निष्काम-भाव है, जो अपना कल्याण चाहता है, उसको भी तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये ।

सुख आता हुआ, अच्छा लगता है, और जाता हुआ बुरा लगता है तथा दुःख आता हुआ बुरा लगता है और जाता हुआ अच्छा लगता है । अतः इनमें कौन अच्छा है, कौन बुरा ? अर्थात् दोनों ही समान हैं, बराबर हैं । इस प्रकार सुख-दुःखमें समबुद्धि रखते हुए तेरेको युद्ध करना चाहिये ।

‘नैवं पापमवाप्स्यसि’—यहाँ ‘पाप’ शब्द पाप और पुण्य—दोनोंका वाचक है, जिनका फल है—स्वर्ग और नरककी प्राप्तिरूप बन्धन, जिससे मनुष्य अपने कल्याणसे वञ्चित रह जाता है और बार-बार जन्मता-मरता है । भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! समतामें स्थित होकर युद्धरूपी कर्तव्य-कर्म करनेसे तेरेको पाप और पुण्य—दोनों ही नहीं बँधेंगे ।

प्रकरण-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान् ने इकतीसवें श्लोकसे अड़तीसवें श्लोकतकके आठ श्लोकोंमें कई विचित्र भाव प्रकट किये हैं; जैसे—

(१) किसीको व्याख्यान देना हो और किसी विषयको समझाना हो, तो भगवान् इन आठ श्लोकोंमें उसकी कला बताते हैं । जैसे, कर्तव्य-कर्म करना और अकर्तव्य न करना—ऐसे विधि-निषेधका व्याख्यान देना हो तो उसमें पहले विधिका, बीचमें निषेधका और अन्तमें फिर विधिका वर्णन करके व्याख्यान समाप्त करना चाहिये । भगवान् ने भी यहाँ पहले इकतीसवें-वत्तीसवें दो श्लोकोंमें कर्तव्य-कर्म करनेसे लाभका वर्णन किया, फिर बीचमें तैंतीसवेंसे छत्तीसवेंतकके चार श्लोकोंमें कर्तव्य-कर्म न करनेसे हानिका वर्णन किया और अन्तमें सैंतीसवें-अड़तीसवें दो श्लोकोंमें कर्तव्य-कर्म करनेसे लाभका वर्णन करके कर्तव्य कर्म करनेकी आज्ञा दी ।

(२) पहले अध्यायमें अर्जुनने अपनी दृष्टिसे जो दलीलें दी थीं, उनका भगवान् ने इन आठ श्लोकोंमें समाधान किया है; जैसे—अर्जुन कहते हैं—मैं युद्ध करनेमें कल्याण नहीं देखता हूँ (१ । ३१) । तो भगवान् कहते हैं—क्षत्रियके लिये धर्ममय युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणका साधन नहीं है (२ । ३१) । अर्जुन कहते हैं—युद्ध करके हम सुखी कैसे होंगे ? (१ । ३७), तो भगवान् कहते हैं—जिन क्षत्रिषोंको ऐसा युद्ध मिल जाता है, वे ही क्षत्रिय सुखी हैं (२ । ३२) । अर्जुन कहते हैं—युद्धके परिणाममें नरककी प्राप्ति होगी (१ । ४४) तो भगवान् कहते हैं—युद्ध करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होगी (२ । ३२, ३७) । अर्जुन कहते हैं—युद्ध करनेसे पाप लगेगा (१ । ३६), तो भगवान् कहते हैं—युद्ध न करनेसे पाप

लगेगा (२ । ३३) । अर्जुन कहते हैं—युद्ध करनेसे परिणाममें धर्मका नाश होगा (१ । ४०), तो भगवान् कहते हैं—युद्ध न करनेसे धर्मका नाश होगा (२ । ३३) ।

(३) अर्जुनका यह आग्रह था कि युद्धरूपी घोर कर्मको छोड़कर भिक्षासे निर्वाह करना मेरे लिये श्रेयस्कर है (२ । ५), तो उनको भगवान्ने युद्ध करनेकी आज्ञा दी (२ । ३८); और उद्धवजीके मनमें भगवान्के साथ रहनेकी इच्छा थी तो उनको भगवान्ने उत्तराखण्डमें जाकर तप करनेकी आज्ञा दी (श्रीमद्भा० ११ । २९ । ४१) । इसका तात्पर्य यह हुआ कि अपने मनका आग्रह छोड़ बिना कल्याण नहीं होता । वह आग्रह चाहे किसी रीतिका हो, पर वह उद्धार नहीं होने देगा ।

(४) भगवान्ने इस अध्यायके दूसरे-तीसरे श्लोकोमें जो बातें संक्षेपसे कही थीं, उन्हींको भगवान्ने यहाँ विस्तारसे कहा है; जैसे—वहाँ 'अनार्यजुष्टम्' कहा, तो यहाँ 'धर्माद्वियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्' कहा । वहाँ 'अस्वर्ग्यम्' कहा; तो यहाँ 'स्वर्गद्वारमपावृतम्' कहा । वहाँ 'अकीर्तिकरम्' कहा, तो यहाँ 'अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्' कहा । वहाँ युद्धके लिये आज्ञा दी थी—'न्यक्तवोत्तिष्ठ परंतप', वही आज्ञा यहाँ देते हैं—'ततो युद्धाय युज्यस्व' ।

(५) यहाँ सांख्ययोगके बाद अव्यवहितरूपसे कर्मयोगका वर्णन होना चाहिये था । परन्तु पहले भगवान्ने (२ । ११—३० तक) सांख्ययोगका और आगे (२ । ३९ से) कर्मयोगका वर्णन

किया और बीचमें यह आठ श्लोकोंवाला प्रकरण कहा, जिसमें कर्तव्य-कर्म करनेकी आवश्यकता बनायी । इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्राप्त कर्तव्यका पालन करना सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनोंके लिये आवश्यक है । यही इस बाचके प्रकरणकी विलक्षणता है । अगर भगवान् बाचमें यह कर्तव्य-कर्मरूप धर्मका प्रकरण न कहते तो लोग समझते कि मुक्तिका साधन अरुण है और सांसारिक व्यवहार अलग है । अतः मुक्ति प्राप्त करनी हो तो सांसारिक व्यवहारसे बिल्कुल अलग होना होगा, इससे अलग हुए बिना कल्याण नहीं होगा—इस मान्यताको हटानेके लिये ही भगवान्ने यह मध्यम प्रकरण कहा है कि मनुष्य अपने कर्तव्यका सागोपांग पालन करते हुए सांख्य या योग-मार्गमें चल सकता है ।

भगवान्ने इस प्रकरणमें युद्ध-जैसे महान् हिंसात्मक और घोर कर्म—व्यवहारमें भी परमार्थकी कला बतायी है कि कर्तव्य-रूपसे जो कार्य प्राप्त हो जाय, उसका पालन सुख-दुःखमें सम रहते हुए करनेसे मनुष्य कर्म-बन्धनसे छूट जाता है ।

सम्बन्ध—

भगवान्ने पहले सांख्ययोग और क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना कर्तव्य बताया, अब आगेके श्लोकसे कर्मयोगकी दृष्टिसे कर्तव्य-कर्म करनेकी रीति बताते हैं ।

श्लोक —

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।

बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

अर्थ—

हे पार्थ ! यह समबुद्धि पहले सांख्ययोगमें कही गयी, अब तू इसको योगके विषयमें सुन; जिस समबुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मबन्धनका त्याग कर देगा ।

व्याख्या—

‘एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु’—यहाँ ‘तु’ पद प्रवरणका सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये आया है अर्थात् पहले सांख्यका प्रकरण कह दिया, अब योगका प्रकरण कहते हैं ।

यहाँ ‘एषा’ पद समबुद्धिके लिये आया है, जिसका वर्णन पहले सांख्ययोगमें (ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक) भलीभाँति किया गया है । देह-देशीका ठीक-ठीक विवेक होनेपर समतामें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है । कारण कि केवल देहमें राग रहनेसे ही विषमता आती है । इस प्रकार सांख्ययोगमें तो समबुद्धिका वर्णन हो चुका है । अब इसी समबुद्धिको तू कर्मयोगके विषयमें सुन* ।

* यहाँ भगवान् कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए अर्जुनको आज्ञा देते हैं कि इस समबुद्धिको तुम कर्मयोगके विषयमें सुनो—‘योगे त्विमां शृणु’, और आगे इस प्रकरणको समाप्त करते हुए कहते हैं कि मैंने कर्मयोगकी बात कह दी—‘स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः’ (४ । ३) । इस प्रकरणके बाद अर्जुनने भगवान् के अवतारके विषयमें प्रश्न किया, तो भगवान् ने अवतारका समय, प्रयोजन आदि बताकर अपने जन्म और कर्मको दिव्य बताया । भगवान् के उन कर्मोंको आदर्श मानकर मनुष्य कर्म करे, इसके लिये आगे पुनः कर्मयोगका प्रकरण कहा गया है ।

‘इमाम्’ कहनेका तात्पर्य है कि अभी इस समबुद्धिको कर्मयोगके विषयमें कहना है कि यह समबुद्धि कर्मयोगमें कैसे प्राप्त होती है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसकी महिमा क्या है । इन बातोंके लिये भगवान् ने इस बुद्धिको योगके विषयमें सुननेके लिये कहा है ।

‘बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि’—अर्जुनके मनमें युद्ध करनेसे पाप लगनेकी सम्भावना थी (१ । ३६, ४५) । परन्तु भगवान् के मनमें पाप तो कर्मोंमें विषमबुद्धि (राग-द्वेष) होनेसे लगता है । समबुद्धि होनेसे पाप लगता ही नहीं । जैसे, संसारमें पाप और पुण्यकी अनेक क्रियाएँ होती रहनी हैं, पर उनसे हमें पाप-पुण्य नहीं लगते; क्योंकि उनमें हमारी समबुद्धि रहती है अर्थात् उनमें हमारा कोई पक्षपात, आग्रह, राग-द्वेष नहीं रहते । ऐसे ही तू समबुद्धिसे युक्त रहेगा, तो तेरेको भी ये कर्म बन्धन-कारक नहीं होंगे ।

इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें अर्जुनने अपने कल्याणकी बात पूछी थी । इसलिये भगवान् कल्याणके मुख्य-मुख्य साधनोंका वर्णन करते हैं । पहले भगवान् ने सांख्ययोगका साधन बताकर कर्तव्य-कर्म करनेपर बड़ा जोर दिया कि क्षत्रियके लिये धर्मरूप युद्धसे बढ़कर श्रेयका अन्य कोई साधन नहीं है (२ । ३१) । फिर कहा कि समबुद्धिसे युद्ध किया जाय, तो पाप नहीं लगता (२ । ३८) । अब उसी समबुद्धिको कर्मयोगके विषयमें कहते हैं ।

सम्बन्ध—

उन्नालीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें समबुद्धिका माहात्म्य बताया । अब उसी समबुद्धिका और भी माहात्म्य बतानेके लिये आगेका श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य वायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

अर्थ—

इस मनुष्यलोकमें इस समबुद्धिरूप धर्मके आरम्भका नाश नहीं होता, इसके अनुष्ठानका उल्टा फल भी नहीं होता और इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान (जन्म-मरणरूप) महान् भयसे रक्षा कर लेता है ।

व्याख्या—

[इस समबुद्धिकी महिमा भगवान् ने पूर्वश्लोकके उत्तरार्धमें और इस (चालीसवें) श्लोकमें चार प्रकारसे बताया है—(१) इसके द्वारा कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है, (२) इसके उपक्रमका नाश नहीं होता, (३) इसका उल्टा फल नहीं होता और (४) इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान महान् भयसे रक्षा करनेवाला होता है ।]

‘नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति’ —इस समबुद्धि-(समता-) का केवल आरम्भ ही हो जाय, तो उस आरम्भका भी नाश नहीं होता । मनमें समता प्राप्त करनेकी जो डाढ़सा, उत्कण्ठा लगी है, यही इस

समताका आरम्भ होता है । इस आरम्भका कभी अभाव नहीं होता; क्योंकि सत्य वस्तुकी लालसा भी सत्य ही होती है ।

‘प्रत्यवायो न विद्यते’—मग्नभावपूर्वक किये गये कर्ममें अगर मन्त्र-उच्चारण, यज्ञ-विधि आदिमें कोई कमी रह जाय, तो उसका उल्टा फल हो जाता है । जैसे, कोई पुत्रप्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि यज्ञ करता है, तो उसमें विधिकी त्रुटि हो जानसे पुत्रका होना तो दूर रहा, वरमें किसीकी मृत्यु हो जाती है अथवा विधिकी कमी रहनेसे इतना उल्टा फल न भी हो, तो भी पुत्र पूर्ण अङ्गोंके साथ नहीं जन्मता ! परन्तु जो मनुष्य इस समबुद्धिको अपने अनुष्ठानमें लानेका प्रयत्न करत है, उसके प्रयत्नका, अनुष्ठानका कभी भी उल्टा फल नहीं होता । कारण कि उसके अनुष्ठानमें फलकी इच्छा नहीं होती । जबतक फलेच्छा रहती है, तबतक समता नहीं आती और समता आनेपर फलेच्छा नहीं रहती । अतः उसके अनुष्ठानका विपरीत फल होता ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं ।

विपरीत फल क्या है । संसारमें विषमताका होना ही विपरीत फल है । सांसारिक किसी कार्यमें राग होना और किसी कार्यमें द्वेष होना ही विषमता है और इसी विषमतासे जन्म मरणरूप बन्धन होता है । परन्तु मनुष्यमें जब समता आती है, तो राग-द्वेष नहीं रहते और राग-द्वेषके न रहनेसे विषमता नहीं रहती, तो फिर उसका विपरीत फल होनेका कोई कारण ही नहीं है ।

‘स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्’—इस समबुद्धिरूप धर्मका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान हो जाय, थोड़ी-सी भी

समता जीवनमें, आचरणमें आ जाय तो यह जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेना है ।

यहाँ समबुद्धिको धर्म क्यों कहा है ? धर्म नाम इन दो बातोंका है—(१) दान देना, प्याऊ लगाना, अन्न-क्षेत्र खोलना आदि उपचारका काम करना और (२) वर्ण-आश्रमके अनुसार शास्त्र-विहित अपने कर्तव्यकर्मका तत्परतासे पालन करना । इन धर्मोंका निष्कामभावपूर्वक पालन करनेसे समतारूप धर्म स्वतः आ जाता है, क्योंकि यह समतारूप धर्म स्वयंका धर्म अर्थात् स्वरूप है । इसी बातको लेकर यहाँ समबुद्धिको धर्म कहा गया है ।

सम्बन्ध—

उन्तालोसवें श्लोकमें भगवान्ने जिस समबुद्धिको योगमें सुननेके लिये कहा था, उसी समबुद्धिको प्राप्त करनेका साधन आगेके श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—

हे कुरुनन्दन ! इस समबुद्धिकी प्राप्तिके विषयमें व्यवसायात्मिका बुद्धि एक हो होती है । अव्यवसायी पुरुषोंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखा भोगाली ही होती हैं ।

व्याख्या—

‘व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन’—कर्मयोगी सावकका ध्येय (लक्ष्य) जिस समताको प्राप्त करना रहता है, वह

समता परमात्माका स्वरूप है । उस परमात्मस्वरूप समताकी प्राप्तिके लिये अन्तःकरणकी समता साधन है, अन्तःकरणकी समतामें संसारका राग बाधक है । उस रागको हटानेका अथवा परमात्म-तत्त्वको प्राप्त करनेका जो एक निश्चय है, उसका नाम है— व्यवसायात्मिका बुद्धि ।

गीतामें कर्मयोग और भक्तियोग (९ । ३०) के प्रकरणमें तो व्यवसायात्मिका बुद्धिका वर्णन आया है, पर ज्ञानयोगके प्रकरणमें व्यवसायात्मिका बुद्धिका वर्णन नहीं आया है । इसका कारण यह है कि ज्ञानयोगमें पहले स्वरूपका बोध होता है, फिर उसके परिणामस्वरूप बुद्धि स्वतः एक निश्चयवाली हो जाती है और कर्मयोग तथा भक्तियोगमें पहले बुद्धिका एक निश्चय होता है, फिर स्वरूपका बोध होता है । अतः ज्ञानयोगमें ज्ञानकी मुख्यता है और कर्मयोग तथा भक्तियोगमें एक निश्चयकी मुख्यता है ।

‘बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्’—अव्यवसायी वे होते हैं, जिनके भीतर सकामभाव होता है, जो भोग और संग्रहमें आसक्त होते हैं । ऐसे पुरुषोंकी बुद्धियाँ अनन्त होती हैं और वे बुद्धियाँ भी अनन्त शाखाओवाली होती हैं अर्थात् एक-एक बुद्धिकी शाखा भी अनन्त होती है । जैसे, पुत्र-प्राप्ति करनी है—यह एक बुद्धि हुई और पुत्र-प्राप्तिके लिये किसी औषधका सेवन करें, किसी मन्त्रका जप करें, कोई अनुष्ठान करें, किसी सन्त-का आशीर्वाद लें आदि उपाय उस बुद्धिकी अनन्त शाखाएँ हुई । ऐसे ही धन-प्राप्ति करनी है—यह एक बुद्धि हुई और धन-

प्राप्तिके लिये व्यापार करें, नौकरी करें, चोरी करें, डाका डालें, धोखा दें, ठगई करें आदि उस बुद्धिकी अनन्त शाखाएँ हुईं। ऐसे पुरुषोंकी बुद्धिमें परमात्मप्राप्तिका निश्चय नहीं होता।

सम्बन्ध—

अव्यवसायी पुरुषोंकी बुद्धियाँ अनन्त क्यों होती हैं ? इसका हेतु आगेके तीन श्लोकोंमें बताते हैं।

श्लोक—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चिनः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

अर्थ—

हे पृथानन्दन ! जो कामनाओंमें तन्मय हो रहे हैं, स्वर्गको ही श्रेष्ठ माननेवाले हैं, वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंमें प्रीति रखनेवाले हैं, उन भोगोंके सिवाय और कुछ है ही नहीं—ऐसा कहनेवाले हैं, वे अविवेकी पुरुष इस प्रकारकी जिस पुष्पित (दिखाऊ शोभायुक्त) वागीको कहा करते हैं, जो कि जन्म-रूपी कर्मफलको देनेवाली है तथा भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है।

व्याख्या—

‘कामात्मानः’—वे कामनाओंमें इतने रचे-पचे रहते हैं कि वे कामनारूप ही बन जाते हैं। उनको अपनेमें और कामनामें भिन्नता ही नहीं दीखती। उनका तो यही भाव होता है कि कामनाके

बिना आदमी जी नहीं सकता; कामनाके बिना कोई भी काम नहीं हो सकता, कामनाके बिना आदमी पत्थरकी तरह जड़ हो जाता है, उसको चेतना भी नहीं रहती । ऐसे भाववाले पुरुष 'कामात्मानः' हैं ।

स्वयं तो नित्य-निरन्तर ज्यो-वा-त्यो रहता है, उसमें कभी घट-बढ़ नहीं होती, पर कामना आती-जाती रहती है और घटती-बढ़ती है । स्वयं परमात्माका अश है और कामना संसारके अशको लेकर है । अतः स्वयं और कामना—ये दोनों सर्वथा अलग-अलग हैं । परन्तु कामनामें रचे-पचे लोगोको अपने स्वरूपका अलग भान ही नहीं होता ।

‘स्वर्गपराः’—स्वर्गमें बढ़िया-से-बढ़िया दिव्य भोग मिलते हैं, इसलिये उनके लक्ष्यमें स्वर्ग ही सर्वश्रेष्ठ होता है और वे उसकी प्राप्तिमें ही रात-दिन लगे रहते हैं ।

यहाँ ‘स्वर्गपराः’ पदसे उन मनुष्योकी बात कही गयी है, जो वेदोंमें, शास्त्रोंमें वर्णित स्वर्ग आदि लोकोंमें आस्था रखनेवाले हैं ।

‘वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः’—वे वेदोंमें कहे हुए सुकाम कर्मोंमें प्रीति रखनेवाले हैं अर्थात् वेदोंका तात्पर्य वे केवल भोगोंमें और स्वर्गकी प्राप्तिमें मानते हैं, वे ‘वेदवादरताः’ हैं । उनकी मान्यतामें यहाँके और स्वर्गके भोगोंके सिवाय और कुछ है ही नहीं अर्थात् उनकी दृष्टिमें भोगोंके सिवाय परमात्मा, तत्त्वज्ञान, मुक्ति, भगवत्प्रेम आदि कोई चीज है ही नहीं । अतः वे भोगोंमें ही रचे-पचे रहते हैं । भोग भोगना उनका मुख्य लक्ष्य रहता है ।

‘यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः’—जिनमें सत्-असत्, नित्य-अनित्य, अविनाशी-विनाशीका विवेक नहीं है, ऐसे अविवेकी पुरुष वेदोंकी जिस वाणीमें संसार और भोगोंका वर्णन है, उस पुष्पित वाणीको कहा करते हैं ।

‘पुष्पिताम्’ कहनेका तात्पर्य है कि भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिका वर्णन करनेवाली वाणी केवल फूट-पत्ती ही है, फल नहीं है तृप्ति फलसे ही होती है, फूट-पत्तीकी शोभासे नहीं । यह वाणी स्थायी फल देनेवाली नहीं है । इस वाणीका जो फल—स्वर्गादिका भोग है, वह केवल देखनेमें ही सुन्दर दाखता है, उसमें स्थायीपना नहीं है ।

‘जन्मकर्मफलप्रदाम्’—वह पुष्पित वाणी जन्मरूपी कर्मफलको देनेवाली है; क्योंकि उसमें सासारिक भोगोंको ही महत्त्व दिया गया है । उन भोगोंका राग ही आगे जन्म होनेका कारण है—‘कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु’ (गीता ११।२१) ।

‘क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति’—वह पुष्पित अर्थात् दिखाऊ शोभायुक्त वाणी भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये जिन सकाम अनुष्ठानोंका वर्णन करती है, उनमें क्रियाओंकी बहुलता रहती है अर्थात् उन अनुष्ठानोंमें अनेक तरहकी विधियाँ होती हैं, अनेक तरहकी क्रियाएँ करनी पड़ती हैं, अनेक तरहके पदार्थोंकी जरूरत पड़ती है और शरीर आदिमें परिश्रम भी अधिक होता है (गीता १८।२४) ।

श्लोक—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तथापहतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

अर्थ—

उस पुष्पित वाणीसे जिनका अन्तःकरण हरा गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषोंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती ।

व्याख्या—

‘तथापहतचेतसाम्’—पूर्वश्लोकोमें जिस पुष्पित वाणीका वर्णन किया गया है, उस वाणीसे जिनका चित्त अपहृत हो गया है अर्थात् स्वर्गमें बड़ा भारी सुख है, दिव्य नन्दनवन है, अप्सराएँ हैं, अमृत है—ऐसी वाणीसे जिनका चित्त उन भोगोंकी तरफ खिंच गया है ।

‘भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्’—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचो विषय, शरीरका आराम, मान और नामकी बड़ाई—इनके द्वारा सुख लेनेका नाम ‘भोग’ है । भोगोंके लिये पदार्थ, रुपये-पैसे, मकान आदिका जो संग्रह किया जाता है, उसका नाम ‘ऐश्वर्य’ है । इन भोग और ऐश्वर्यमें जिनकी आसक्ति है, प्रियता है, खिचाव है अर्थात् इनमें जिनकी महत्त्वबुद्धि है, उनको ‘भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्’ कहा गया है ।

जो भोग और ऐश्वर्यमें ही लगे रहते हैं, वे आसुरी-सम्पत्ति-वाले होते हैं । कारण कि ‘असु’ नाम प्राणोंका है और उन

प्राणोंको जो बनाये रखना चाहते हैं, उन प्राणपोषणपरायण लोगोंका नाम 'असुर' है। वे शरीरकी प्रधानताको लेकर यहाँके अथवा स्वर्गके भोग भोगना चाहते हैं* ।

‘व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते’—जो मनुष्यजन्मका असली ध्येय है, जिसके लिये मनुष्यशरीर मिला है, उस परमात्माको ही प्राप्त करना है—ऐसी व्यवसायात्मिका बुद्धि उन लोगोमें नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जो भोग भोगे जा चुके हैं, जो भोग भोगे जा सकते हैं, जिन भोगोको सुन रखा है और जो भोग सुने जा सकते हैं, उनके संस्कारोके कारण बुद्धिमें जो मलिनता रहती है, उसके कारण संसारसे सर्वथा विरक्त होकर एक परमात्माकी तरफ चलना है—ऐसा दृढ़ निश्चय नहीं होता। ऐसे ही संसारकी अनेक विद्याओ, अनेक कलाओं आदिका जो संग्रह है, उससे ‘मै विद्वान् हूँ; मै जानकार हूँ’—ऐसा जो अभिमानजन्य सुखका भोग होता है, उसमें आसक्त पुरुषोका भी परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय नहीं होता।

विशेष बात—

परमदयालु प्रभुने कृपा करके इस मनुष्यशरीरमें एक ऐसी विलक्षण विवेकशक्ति दी है, जिससे वह सुख-दुःखसे ऊँचा उठ

* यहाँ जिन राजसी पुरुषोंका वर्णन हो रहा है, उनको भगवान् ने सोलहवें अध्यायमें आमुरी-सम्पत्तिवालोंके प्रकरणमें ‘कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः’ (१६ । ११), ‘प्रसक्ताः कामभोगेषु’ (१६ । १६) आदि पदोंसे कहा है। अतः जो केवल भोग भोगना चाहते हैं, वे आमुरी-सम्पत्तिवाले ही हैं।

जाय, अपना उद्धार कर ले, सबकी सेवा करके भगवान् तकको अपने वशमें कर ले ! इसीमें मनुष्यशरीरकी सार्थकता है । परन्तु प्रभुप्रदत्त उस विवेकशक्तिका अन्यादर करके नाशवान् भोग और संग्रहमें आसक्त हो जाना पशुबुद्धि है । कारण कि पशु-पक्षी भी भोगोंमें लगे रहते हैं, वैसे ही अगर मनुष्य भी भोगोंमें लगा रहे तो पशु-पक्षियोंमें और मनुष्यमें अन्तर ही क्या हुआ ?

पशु-पक्षी तो भोगयोनि हैं; अतः उनके सामने कर्तव्यका प्रश्न ही नहीं है । परन्तु मनुष्यजन्म तो केवल अपने कर्तव्यका पाठन करके अपना उद्धार करनेके लिये ही मिला है, भोग भोगनेके लिये नहीं । इसलिये मनुष्यके सामने जो कुछ अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब साधन-सामग्री है, भोगसामग्री नहीं । जो उसको भोग-सामग्री मान लेते हैं, उनकी परमात्मामें व्यवसायात्मिका बुद्धि पैदा नहीं होती ।

वास्तवमें सांसारिक पदार्थ परमात्माकी तरफ चलनेमें बाधा नहीं देते, प्रत्युत वर्तमानमें जो भोगोका महत्त्व अन्तःकरणमें बैठे हुआ है, वही बाधा दे रहा है । भोग उतना नहीं अटकाते, जितना भोगोका महत्त्व अटकाता है । अटकानेमें अपनी रुचि, अपनी नीयतकी प्रधानता है । भोग और संग्रहकी रुचिको रखते हुए कोई परमात्माको प्राप्त करना चाहे, तो परमात्माकी प्राप्ति तो दूर रही, उनकी प्राप्ति का एक निश्चय भी नहीं हो सकता । कारण कि जहाँ परमात्माकी तरफ चलनेकी रुचि है, वहाँ ही भोगोकी रुचि भी है । जबतक भोग और संग्रहमें, मान-बड़ाई-आराममें

रुचि है, तबतक कोई भी एक निश्चय करके परमात्मामें नहीं लग सकता; क्योंकि उसका अन्नःकरण भोगोकी रुचिद्वारा हरा गया; उसकी जो शक्ति थी वह भोग और सग्रहमें लग गयी ।

सम्बन्ध—

किसी बातको पुष्ट करना हो, तो पहलें उसके दोनों पक्ष सामने रखकर फिर उसको पुष्ट किया जाता है । यहाँ भगवान् निष्कामभावको पुष्ट करना चाहते हैं; अतः पहलेके तीन श्लोकोंमें सकामभाववालोंका वर्णन करके अब आगेके श्लोकमें निष्काम होनेकी प्रेरणा करते हैं ।

श्लोक—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

अर्थ—

वेद तीनो गुणोंके कार्यका ही वर्णन करनेवाले हैं; हे अर्जुन । तू तीनों गुणोंसे रहित हो जा, निर्द्वन्द्व हो जा, नित्य वस्तुमें स्थित हो जा, योगक्षेमकी चाहना भी मत रख और परमात्म-परायण हो जा ।

व्याख्या—

‘त्रैगुण्यविषया वेदाः’—यहाँ वेदोंसे तात्पर्य वेदोंके उस अंशसे है, जिसमें तीनो गुणोंका और तीनो गुणोंके कार्य स्वर्गादि भोग-भूमियोंका वर्णन है ।

यहाँ उपर्युक्त पदोंका तात्पर्य वेदोंकी निन्दामें नहीं है, प्रत्युत निष्कामभावकी महिमामें है । जैसे हीरेके वर्णनके साथ-साथ काँचका

वर्णन किया जाय तो उसका तात्पर्य काँचकी निन्दा करनेमें नहीं है, प्रत्युत हीरेको महिमा बतानेमें है। ऐसे ही यहाँ निष्कामभावकी महिमा बतानेके उद्य ही वेदोंके सकामभावका वर्णन अग्रा है, निन्द'के लिये नहीं। वेद केवल तीनो गुणोंका कार्य संसारका ही वर्णन करनेवाले हैं, ऐसी बात भी नहीं है। वेदोंमें परमात्मा और उनकी प्राप्तिके साधनोंका भी वर्णन हुआ है।

‘निश्चैगुण्यो भवार्जुन’—हे अर्जुन ! तू तानों गुणोंके कार्य-रूप संसारकी इच्छाका त्याग करके अससारी बन जा अर्थात् संसारसे ऊँचा उठ जा।

‘निर्द्वन्द्वः’—संसारसे ऊँचा उठनेके लिये राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित होनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है; क्योंकि ये ही वास्तवमें मनुष्यके शत्रु हैं अर्थात् उसको संसारमें फँसानेवाले हैं*। इसलिये तू सम्पूर्ण द्वन्द्वोंसे रहित हो जा।

यहाँ भगवान् अर्जुनको निर्द्वन्द्व होनेकी आज्ञा क्यों दे रहे हैं ? कारण कि द्वन्द्वोंसे सम्मोह होता है, संसारमें फँसावट होती है (गीता ७।२७)। जब सावक निर्द्वन्द्व होता है, तभी वह दृढ़व्रत होकर भजन कर सकता है (गीता ७।२८)। निर्द्वन्द्व होनेसे साधक सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है

* इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

(गीता ३।३४)

(गीता ५ । ३) । निर्द्वन्द्व होनेसे मूर्धता चञ्चो जाती है (गीता १५ । ५) । निर्द्वन्द्व होनेसे साधक कर्मा करता हुआ भी बँधता नहीं (गीता ४ । २२) । तात्पर्य है कि साधककी साधना निर्द्वन्द्व होनेसे ही दृढ़ होती है । इसलिये भगवान् अर्जुनको निर्द्वन्द्व होनेकी आज्ञा देते हैं ।

दूसरी बात, अगर संसारमें किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिमें राग होगा, तो दूसरी वस्तु, व्यक्ति आदिमें द्वेष हो जायगा—यह नियम है । ऐसा होनेपर भगवान्की उपेक्षा हो जायगी, तो यह भी एक प्रकारका द्वेष है; परन्तु जब साधकका भगवान्में प्रेम हो जायगा, तो संसारसे द्वेष नहीं होगा, प्रभु पर संसारसे स्वाभाविक उपरति हो जायगी । उपरति होनेको पहचान आस्था यह होगी कि साधकका प्रतिकूलतामें द्वेष नहीं होगा; किन्तु उसमें उपेक्षा-वृत्ति होगी । उपेक्षाके बाद उदासीनता होगी और उदासीनताके बाद उपरति होगी । उपरतिमें राग-द्वेष सर्वथा मिट जाते हैं । इस क्रममें अगर सूक्ष्मतासे देखा जाय तो उपेक्षामें राग-द्वेषके संस्कार रहते हैं, उदासीनतामें राग-द्वेषकी सत्ता रहती है, और उपरतिमें राग-द्वेषके न संस्कार रहते हैं, न सत्ता रहती है; किन्तु राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जाता है ।

‘नित्यस्त्वन्यथाः’—द्वन्द्वोंसे रहित होनेका उपाय यह है कि जो नित्य निरन्तर रहनेवाला सर्वत्र परेपूरे परमानन्द है, वह उसीमें निरन्तर स्थित रह ।

‘निर्योगक्षेमः’— तू योग और क्षेमकी* इच्छा भी मत रख; क्योंकि जो केवल मेरे परायण होते हैं, उनके योगक्षेमका वहन मैं स्वयं करता हूँ† ।

‘आत्मवान्’— तू केवल परमात्माके परायण हो जा । एक परमात्मप्राप्तिका ही लक्ष्य रख ।

सम्बन्ध—

तीनों गुणोंमें रहित, निर्द्वन्द्व आदि हो जानसे क्या होगा? इसपर कहते हैं—

श्लोक—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—

सब तरफसे परिपूर्ण मद्दान् जलाशयके प्राप्त होनेपर छोटे जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता, वेदों और शास्त्रोंको तत्त्वसे जाननेवाले ब्रह्मज्ञानीका सम्पूर्ण वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रहता है अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता ।

* अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति का नाम ‘योग’ है और प्राप्त सामग्रीकी रक्षा का नाम ‘क्षेम’ है ।

† अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

व्याख्या—

‘यावानर्थ उद्गपाने ‘सर्वतः संप्लुतोदके’—जलसे सर्वथा परिपूर्ण, स्वच्छ, निर्मल मङ्गल सरोवरके प्राप्त होनेपर मनुष्यको छोटे-छोटे जलाशयोंकी कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती । कारण कि छोटे-से जलाशयमें अगर हाथ-पैर धोये जायँ तो उसमें मिट्टी घुल जानेसे वह जल स्नानके लायक नहीं रहता और अगर उसमें स्नान किया जाय तो मिट्टी घुल जानेसे वह जल कपड़े धोनेलायक नहीं रहता और अगर उसमें कपड़े धोये जायँ तो मिट्टी घुलनेसे वह जल पीनेलायक नहीं रहता । परन्तु मङ्गल सरोवरके मिलनेपर उसमें सब कुछ करनेपर भी उसमें कुछ भी फरक नहीं पड़ता अर्थात् उसकी स्वच्छता, निर्मलता, पवित्रता वैसी-की-वैसी ही बनी रहती है ।

‘नावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः’—ऐसे ही जो महापुरुष परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो गये हैं, उनके लिये वेदोंमें कहे हुए यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि जितने भी पुण्यकारी कार्य हैं, उन सबसे उनका कोई मतलब नहीं रहता अर्थात् वे पुण्यकारी कार्य उनके लिये छोटे-छोटे जलाशयोंकी तरह हो जाते हैं । ऐसा ही दृष्टान्त आगे सत्तरवें श्लोकमें दिया है कि वह ज्ञानी महात्मा समुद्रकी तरह गम्भीर होता है, उसके सामने कितने ही भोग आ जायँ, पर वे उसमें कुछ भी विकृति पैदा नहीं कर सकते ।

जो परमात्मतत्त्वको जाननेवाला है और वेदों तथा शास्त्रोंके तत्त्वको भी जाननेवाला है, उस महापुरुषको यहाँ ‘ब्राह्मणस्य विजानत’ पदोंसे कहा गया है ।

‘तावान्’ कहनेका तात्पर्य है कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होने-पर वह तीनो गुणोंसे रहित हो जाता है, निर्द्वन्द्व हो जाता है अर्थात् उसमें राग-द्वेष आदि नहीं रहते । नित्यतत्त्वमें स्थित हो जाता है । निर्योगक्षेम हो जाता है अर्थात् कोई वस्तु मिल जाय और मिली हुई वस्तुकी रक्षा होती रहे—ऐसा उसमें भाव भी नहीं होता । वह सदा ही परमात्मपरायण रहता है ।

सम्बन्ध—

भगवान् ने उन्तालीसवें श्लोकमें जिस यांगको सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा दी थी, अब आगेके श्लोकमें उसकी विधि बताते हैं ।

श्लोक—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अर्थ—

कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं । अतः तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और तेरी अकर्मण्यतामें भी आसक्ति न हो ।

व्याख्या—

‘कर्मण्येवाधिकारस्ते’—प्राप्त कर्तव्य-कर्मका पाळन करनेमें ही तेरा अधिकार है । इसमें तू स्वतन्त्र है । कारण कि मनुष्य कर्मयोनि है । मनुष्यके सिवाय दूसरी कोई भी योनि नया कर्म करनेके लिये नहीं है । पशु, पक्षी आदि जङ्गम और वृक्ष, वृत्ता

आदि स्थावर प्राणी नया कर्म नहीं कर सकते । देवता आदिमें नया कर्म करनेकी सामर्थ्य तो है, पर वे केवल अपने यज्ञ, दान आदि शुभकर्मोंका फल भोगनेके लिये ही हैं । वे भगवान्‌के विधानके अनुसार मनुष्योंके लिये कर्म करनेकी सामग्री दे सकते हैं, पर केवल सुखभोगमें ही लिप्त रहनेके कारण वे नया कर्म नहीं कर सकते । नारकीय जीव भी भोगयोनि होनेके कारण अपने दुष्कर्मोंका फल भोगते हैं, नया कर्म नहीं कर सकते । नया कर्म करनेमें तो केवल मनुष्यका ही अधिकार है । भगवान्‌ने सेवारूप नया कर्म करके केवल अपना उद्धार करनेके लिये ही यह अन्तिम मनुष्य-जन्म दिया है । अगर यह कर्मोंको अपने लिये करेगा तो बन्धनमें पड़ जायगा और अगर कर्मोंको न करके आलस्य-प्रमादमें पड़ा रहेगा तो बार-बार जन्मता-मरता रहेगा । अतः भगवान्‌ कहते हैं कि तेरा केवल सेवारूपसे कर्तव्य-कर्म करनेमें ही अधिकार है ।

‘कर्मणि’ पदमें एकवचन देनेका तात्पर्य है कि मनुष्यके सामने देश, काल, घटना, परिस्थिति आदिको लेकर शास्त्रविहित कर्म तो अलग-अलग होंगे, पर एक समयमें एक मनुष्य किसी एक कर्मको ही तत्परतापूर्वक कर सकता है । जैसे, क्षत्रिय होनेके कारण अर्जुनके लिये युद्ध करना, दान देना आदि कर्तव्य-कर्मोंका विधान है, पर वर्तमानमें युद्धके समय वह एक युद्धरूप कर्तव्य-कर्म ही कर सकता है, दान आदि कर्तव्य-कर्म नहीं कर सकता ।

‘मा फलेषु कदाचन’—फलमें तेरा किञ्चिन्मात्र भी अधिकार नहीं है अर्थात् फलकी प्राप्तिमें तेरी स्वतन्त्रता नहीं है; क्योंकि फलका

विधान तो मेरे अधीन है । अतः फलकी इच्छा न रखकर कर्तव्य-कर्म कर । अगर तू फलकी इच्छा रखकर कर्म करेगा तो तू बंध जायगा—‘फले सको निवध्यते’ (गीता ५ । १२) ।

दूसरी बात, जितने भी कर्म होते हैं, वे सभी प्राकृत पदार्थों और व्यक्तियोंके संगठनसे ही होने हैं । पदार्थों और व्यक्तियोंके संगठनके बिना स्वयं कर्म कर ही नहीं सकता, तो फिर इनके संगठनके द्वारा किये हुए कर्मका फल अपने लिये चाहना ईमानदारी नहीं है । अतः कर्मका फल चाहना मनुष्यके लिये हितकारक नहीं है ।

फलमें मेरा अधिकार नहीं है—इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि फलके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें अथवा न जोड़नेमें मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है, सबल है । इसमें वह पराधीन और निर्बल नहीं है ।

‘फलेषु’ पदमें बहुवचन देनेका तात्पर्य है कि मनुष्य कर्म तो एक करता है, पर उस कर्मके फल अनेक चाहता है । जैसे, मैं अमुक कर्म कर रहा हूँ तो इससे मेरेको पुण्य हो जाय, ससारमें मेरी कीर्ति हो जाय, लोग मेरेको अच्छा समझें, मेरा आदर-सत्कार करें, मेरेको इतना धन प्राप्त हो जाय आदि-आदि ।

निष्काम होनेके उपाय—(१) कामना पैदा होनेसे अभावका अनुभव होता है, कामनाकी पूर्ति होनेसे परतन्त्रता और पूर्ति न होनेसे दुःख होता है तथा कामना-पूर्तिका सुख लेनेसे नयी कामनाकी उत्पत्ति होती है और सकामभावपूर्वक नये-नये कर्म

करनेकी रुचि बढ़ता चली जाती है—ऐसा ठीक-ठीक समझ लेनेसे निष्कामता स्वतः आ जाती है ।

(२) कर्म नित्य नहीं हैं; क्योंकि उनका आरम्भ और अन्त होता है तथा उन कर्मोंका फल भी नित्य नहीं है; क्योंकि उनका भी संयोग और वियोग होना है । परन्तु स्वयं नित्य है । अनित्य कर्म और कर्मफलसे नित्य स्वरूपको कोई लाभ नहीं है । ऐसा ठीक समझ लेनेसे निष्कामता आ जाती है । निष्काम होनेसे संसारका सम्बन्ध छूट जाता है और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है ।

कर्ममें निष्काम होनेके लिये साधकमें तेजोका विवेक भी होना चाहिये और सेवाभाव भी होना चाहिये; क्योंकि इन बातोंके होनेसे ही कर्मयोग ठीक तरहसे आचरणमें आयेगा, नहीं तो 'कर्म' हो जायेंगे पर 'योग' नहीं होगा । तात्पर्य है कि अपने सुख-आरामका त्याग करनेमें तो 'विवेक' की प्रधानता होनी चाहिये और दूसरोंको सुख-आराम पहुँचानेमें 'सेवाभाव'की प्रधानता होनी चाहिये ।

‘मा कर्मफलहेतुर्भूः’—तू कर्मफलका हेतु भी मत बन । तात्पर्य है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कर्म-सामग्रीके साथ अपनी किञ्चिन्मात्र भी ममता नहीं रखनी चाहिये, क्योंकि इनमें ममता होनेसे मनुष्य कर्मफलका हेतु बन जाता है । आगे पाँचवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भी भगवान् ने शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके साथ ‘केवलैः’ पद देकर बताया है कि शरीर आदिके साथ किञ्चिन्मात्र भी ममता नहीं होनी चाहिये ।

शुभ क्रियाओंमें फलकी इच्छा न होनेपर भी 'मेरेद्वारा किसीका उपकार हो गया, किसीका हित हो गया, किसीको सुख पहुँचा'—ऐसा भाव हो जाता है तो यह कर्मफलका हेतु बनना है। कारण कि ऐसा भाव होनेसे शुभ कर्मके साथ और मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदिके साथ सम्बन्ध हो जाता है, जो कि असत्का सङ्ग है। वास्तवमें अन्नःकरण, वहिष्करण और क्रियाओंके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इनका सम्बन्ध समष्टि संसारके साथ है। जैसे, दूसरे किसी व्यक्तिके द्वारा दूसरे किसीका हित होता है तो उसमें हम अपना सम्बन्ध नहीं मानते, उसमें अपनेको निमित्त नहीं मानते, ऐसे ही अपने कहलानेवाले शरीर आदिसे किसीका हित हो जाय, तो उसमें अपनेको निमित्त न माने। जब अपनेको किसी भी क्रियामें निमित्त, हेतु नहीं मानेंगे तो कर्मफलका हेतु भी नहीं बनेंगे।

‘मा ते सङ्गाऽऽस्त्वकर्मणि’—कर्म न करनेमें भी तेरी आसक्ति नहीं होनी चाहिये। कारण कि कर्म न करनेमें आसक्ति होनेसे आलस्य, प्रमाद आदि होंगे। कर्मफलमें आसक्ति रहनेसे जैसा बन्धन होता है, वैसा ही बन्धन कर्म न करनेमें आलस्य, प्रमाद आदि होनेसे होता है; क्योंकि आलस्य-प्रमादका भी एक भोग होता है अर्थात् उनका भी एक सुख होता है, जो तमोगुण है—‘निद्रालस्यप्रमादोऽथ तत्तामसमुदाहृतम्’ (गीता १८। ३९) और जिसका फल अश्रोगति होता है—‘अथो गच्छन्ति तामसाः’ (गीता १४। १८)। तात्पर्य यह हुआ कि राग, आसक्ति कहीं भी होगी तो वह बाँधनेवाली हो ही जयगी—‘कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु’ (गीता १३। २१)

कर्मराहित होनेसे हमें लौकिक लाभ होगा, ससारमें हमारी प्रसिद्धि होगी आदि कोई सांसारिक प्रयोजन भी नहीं होना चाहिये और समाधि लग जानेसे आध्यात्मिक तत्त्वमें हमारी स्थिति होगी आदि कोई पारमार्थिक प्रयोजन भी नहीं होना चाहिये । तात्पर्य है कि 'कर्म न करनेसे सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति होगी'—यह भी कर्म न करनेसे आसक्ति है. क्योंकि वास्तविक तत्त्व कर्म करने और न करनेसे अतीत है ।

इस श्लोकमें भगवान्‌का यह तात्पर्य मात्तम देता है कि परिवर्तनशील वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया, घटना, परिस्थिति, अवस्था, स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीर आदिके साथ साधककी सर्वथा निर्लिप्तता होनी चाहिये । इनके साथ किञ्चिन्मात्र भी किसी तरहका सम्बन्ध नहीं होना चाहिये ।

इस श्लोकके चार चरणोंमें चार बातें आयी हैं—(१) कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है । (२) फलमें कभी तेरा अधिकार नहीं है । (३) तू कर्मफलका हेतु भी मत बन । (४) कर्म न करनेमें भी तेरी आसक्ति न हो । इनमेंसे पहले और चौथे चरणकी बात एक है तथा दूसरे और तीसरे चरणकी बात एक है । पहले चरणमें कर्म करनेमें अधिकार बताया और चौथे चरणमें कर्म न करनेमें आसक्ति होनेका निषेध किया । दूसरे चरणमें फलकी चाहनाका निषेध किया और तीसरे चरणमें फलका हेतु बननेका निषेध किया ।

तात्पर्य यह हुआ कि तेरी अकर्मण्यनामें रुचि होनेसे प्रमाद, आलस्य आदि 'तामसी वृत्ति'के साथ तेरा सम्बन्ध हो जायगा । कर्म और कर्मफलके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे तेरा 'राजसी वृत्ति'के साथ सम्बन्ध हो जायगा । प्रमाद, आलस्य, कर्म, कर्मफल आदिका सम्बन्ध न रहनेपर जो विवेकजन्य सुख होता है, प्रकाश मिलता है, ज्ञान मिलता है, उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे 'सात्त्विकी वृत्ति'के साथ सम्बन्ध हो जायगा । इनके साथ सम्बन्ध होना ही जन्म-मरणका कारण है । अतः साधक कर्म, कर्मफल और इनके त्यागका सुख—इनमेंसे किसीके भी साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े, इनमें राग या आसक्ति न करे । कर्म करने हुए इनके साथ सम्बन्ध न रखना ही कर्मयोग है ।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें कर्त्तव्य-कर्म करनेकी जो विधि बतायी है, अब आगेके श्लोकमें उस विधिको काममें लानेका प्रकार बताते हैं ।

श्लोक—

योगस्थः कुरु कर्माणि मङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।

सिद्धयसिद्धयः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

अर्थ—

हे धनञ्जय ! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर योगमें स्थिर हुआ कर्मोंको कर, क्योंकि समता ही योग कहा जाता है ।

व्याख्या —

‘सङ्गं त्यक्त्वा’—किसी भी कर्ममें, किसी भी कर्मके फलमें, किसी भी देश, काल, घटना, परिस्थिति, अन्तःकरण, बहिःकरण आदि प्राकृत वस्तुमात्रमें तेरी आसक्ति न हो, तभी तू निर्लिप्तता-पूर्वक कर्म कर सकता है । अगर तू कर्म, फल आदि किसीमें भी विपक्त जायगा, तो निर्लिप्तता कैसे रहेगी ? और निर्लिप्तता रहे बिना वह कर्म मुक्तिदायक कैसे होगा ? क्योंकि गुणोंका सङ्ग ही जन्म-मरणका कारण है (गीता १३ । २१) ।

‘सिद्ध्यसिद्धयोः समो भूत्वा’—आसक्तिके त्यागका परिणाम क्या होगा ? सिद्धि और असिद्धिमें समता हो जायगी ।

कर्मका पूरा होना अथवा न होना, साक्षारिक दृष्टिसे उसका फल अनुकूल होना अथवा प्रतिकूल होना, उस कर्मको करनेसे आदर-निरादर, प्रशंसा-निन्दा होना, अन्तःकरणकी शुद्धि होना अथवा न होना आदि-आदि जो सिद्धि और असिद्धि है, उसमें सम रहना चाहिये* ।

❀ इस विषयमें श्रीशङ्कराचार्यजी महाराज गीता २ । ४८ की व्याख्या करते हुए - हते हैं—

‘योगस्थः सन् कुरु कर्माणि केवलमीश्वरार्थं तत्रार्पाश्रयो मे तुभ्यत्विति सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ! फलतृष्णाशून्येन क्रियमाणे कर्मणि सत्त्वशुद्धिजा ज्ञानप्राप्तिलक्षणा सिद्धिस्तद् विपर्ययात् असिद्धिस्तयोः सिद्ध्यसिद्धयोःपि समस्तुल्यो भूत्वा कुरु कर्माणि । कोऽनौ योगो यत्रस्थः कुर्वित्युक्तमिदमेव तत् सिद्ध्यसिद्धयोः समत्वं योग उच्यते ।’

हे धनञ्जय ! योगमें स्थित होकर केवल ईश्वरके लिये कर्म कर । उसमें भी ‘ईश्वर मेरेपर प्रसन्न हो जाय’—इस सङ्ग- (कामना-) को

कर्मयोगीकी इतनी समता अर्थात् निष्कामभाव होना चाहिये कि कर्मोंकी पूर्ति हो चाहे न हो, फलकी प्राप्ति हो चाहे न हो, अपनी मुक्ति हो चाहे न हो, मेरेको तो केवल कर्तव्य-कर्म करना है । साधकको असङ्गताका अनुभव न हुआ हो, उसमें समता न आयी हो, तो भी उसका उद्देश्य असङ्ग होनेका, सम होनेका ही हो । जो बात उद्देश्यमें आ जाती है, वही अन्तमें सिद्ध हो जाती है । अतः साधनरूप समतासे अर्थात् अन्तःकरणकी समतासे साध्यरूप समता स्वतः आ जाती है—‘तदा योगमवाप्स्यसि’ (२।५३) ।

‘योगस्थः कुरु कर्माणि’—सिद्धि-असिद्धिमें सम होनेके बाद उस समतामें निरन्तर अटल स्थित रहना ही ‘योगस्थ’ होना है । जैसे किसी कार्यके आरम्भमें गणेशजीका पूजन करते हैं, तो उस पूजनको कार्य करने समय हरदम साथमें नहीं रखते, ऐसे ही कोई यह न समझ ले कि आरम्भमें एक बार सिद्धि-असिद्धिमें सम हो गये, तो अब उस समताको हरदम साथमें नहीं रखना है, राग-द्वेष करते रहना है । इसलिये भगवान् कहते हैं कि समतामें हरदम स्थित रहते हुए ही कर्तव्य-कर्मको करना चाहिये ।

छोड़कर कर्म कर । फलतृष्णारहित पुरुषके द्वारा कर्म किये जानेपर अन्तःकरणकी शुद्धिसे उत्पन्न होनेवाली ज्ञानप्राप्ति तो सिद्धि है और उससे विपरीत (ज्ञानप्राप्तिका न होना) असिद्धि है । ऐसी सिद्धि-असिद्धि-में भी सम होकर अर्थात् दोनोंको तुल्य समझकर कर्म कर । वह कौन-सा योग है, जिसमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहा है ? यही जो सिद्धि और असिद्धिमें सम होना है, इसीको योग कहते हैं ।

‘समत्वं योग उच्यते’—समता ही योग है अर्थात् समता परमात्माका स्वरूप है । वह समता अन्तःकरणमें निरन्तर बनी रहनी चाहिये । आगे पाँचवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान् कहेंगे कि जिनका मन समतामें स्थिर हो गया है, उन लोगोंने जीवित-अवस्थामें ही संसारको जीन लिया है क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है; अतः उनकी स्थिति ब्रह्ममें ही है ।’

‘समताका नाम योग है’—यह योगकी परिभाषा है । इसीको आगे छठे अध्यायके तेईसवें श्लोकमें कहेंगे कि ‘दुःखोके संयोगका जिसमें वियोग है, उसका नाम योग है ।’ ये दोनों परिभाषाएँ वास्तवमें एक ही हैं । जैसे दाढ़की बीमारीमें खुजलीका सुख होता है और जलनका दुःख होता है, पर ये दोनों ही बीमारी होनेसे दुःखरूप ही हैं, ऐसे संसारके सम्बन्धसे होनेवाला सुख और दुःख—दोनों ही वास्तवमें दुःखरूप ही हैं । ऐसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदका नाम ही ‘दुःखसंयोगवियोग’ है । अतः चाहे दुःखोके संयोगका वियोग अर्थात् सुख-दुःखसे रहित होना कहें चाहे सिद्धि-असिद्धिमें अर्थात् सुख-दुःखमें सम होना कहें, एक ही बात है ।

इस श्लोकका तात्पर्य यह हुआ कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसे होनेवाली मात्र क्रियाओको केवल संसारकी सेवारूपसे करना है, अपने लिये नहीं । ऐसा करनेसे ही समता आयेगी ।

बुद्धि और समता-सम्बन्धी विशेष बात

बुद्धि दो तरहकी होती है—अव्यवसायात्मिका और

व्यवसायात्मिका । जिसमें सांसारिक सुख, भोग, आराम, मान, बड़ाई आदि प्राप्त करनेका ध्येय होता है, वह बुद्धि 'व्यवसायात्मिका' होती है (गीता २ । ४४) । जिसमें परमात्माकी प्राप्ति करनेका, अपना कल्याण करनेका ही उद्देश्य रहता है, वह बुद्धि 'व्यवसायात्मिका' होती है (गीता २ । ४१) । अव्यवसायात्मिका बुद्धि अनन्त होती है और व्यवसायात्मिका बुद्धि एक होती है । जिसकी बुद्धि अव्यवसायात्मिका होती है, वह स्वयं अव्यवसायी— अव्यवसित होता है—'बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' (२ । ४१) तथा वह संसारी होता है । जिसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका होती है, वह स्वयं व्यवसायी—व्यवसित होता है—'व्यवसितो हि सः' (९ । ३०) तथा वह साधक होता है ।

समता भी दो तरहकी होती है—साधनरूप समता और साध्यरूप समता । साधनरूप समता अन्तःकरणकी होती है और साध्यरूप समता परमात्मस्वरूपकी होती है । सिद्धि-असिद्धि, अनु-कूलता-प्रतिकूलता आदिमें सम रहना अर्थात् अन्तःकरणमें राग-द्वेषका न होना साधनरूप समता है, जिसका वर्णन गीतामें अधिक हुआ है । इस साधनरूप समतासे जिस स्वतःसिद्ध समताकी प्राप्ति होती है, वह साध्यरूप समता है, जिसका वर्णन यहाँ 'योगस्थः' पदसे और आगे इसी अध्यायके तिरपनवें श्लोकमें 'तदा योग-मवाप्स्यसि' पदोंसे हुआ है ।

अब इन चारों भेदोंको यो समझें कि एक संसारी होना है, एक साधक होता है, एक साधन होता है और एक साध्य होता

है । भोग भोगना और संप्रह करना—यही जिसका उद्देश्य होता है, वह संसारी होता है । उसकी एक व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती, प्रत्युत कामनारूपी शाखाओंवाली अनन्त बुद्धियाँ होती हैं ।

मेरेको तो परमात्मप्राप्ति ही करनी है, चाहे जो हो जाय—ऐसा निश्चय करनेवालेकी व्यवसायात्मिका बुद्धि होती है । ऐसा साधक जब व्यवहारक्षेत्रमें आता है तो उसके सामने सिद्धि-असिद्धि, लाभ-हानि, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आदि आनेपर वह उनमें सम रहता है, राग-द्वेष नहीं करता । इस साधनरूप समतासे वह संसारसे ऊँचा उठ जाता है—‘इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः’ (गीता ५ । १९ का पूर्वार्ध) । साधनरूप समतासे स्वतःसिद्ध समरूप परमात्माके प्राप्ति हो जाती है—‘निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः’ (गीता ५ । १९ का उत्तरार्ध) ।

मन्त्र—

उन्तालीसवेसे अडतालीसवे श्लोक तक जिस समबुद्धिका वर्णन हुआ है, सकामकर्मकी अपेक्षा उस समबुद्धिकी श्रेष्ठता बतानेके लिये आगेका श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—

दूरेण ह्यधरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

अर्थ—

बुद्धियोग-(समता-) की अपेक्षा सकामकर्म दूरसे (अत्यन्त) ही निकृष्ट है । अतः हे धनञ्जय ! तू बुद्धि-(साता-) का आश्रय ले; क्योंकि कर्मके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन होते हैं ।

ब्याख्या—

‘दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात्’—बुद्धियोग अर्थात् समता-
की अपेक्षा सकामभावसे कर्म करना अत्यन्त ही निकृष्ट है । कारण
कि कर्म भी उत्पन्न और नष्ट होते हैं तथा उन कर्मोंके फलका
भी संयोग और वियोग होता है । परन्तु योग (समता) नित्य
है; उसका कभी वियोग नहीं होता, उसमें कोई विकृति नहीं
आती । अतः समताकी अपेक्षा सकामकर्म अत्यन्त ही निकृष्ट है ।

सम्पूर्ण कर्मोंमें समता ही श्रेष्ठ है । समताके बिना तो मात्र
जीव कर्म करते ही रहते हैं तथा उन कर्मोंके परिणाममें जन्मते-
मरते और दुःख भोगते रहते हैं । कारण कि समताके बिना
कर्मोंमें उद्धार करनेकी ताकत नहीं है । कर्मोंमें समता ही कुशलता
है । अगर कर्मोंमें समता नहीं होगी तो शरीरमें अहता-ममता
हो जायगी, और शरीरमें अहता-ममता होना ही पशुबुद्धि है ।
भागवतमें शुकदेवजीने राजा परीक्षितसे कहा है—‘त्वं तु राजन्
मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि’ (१२ । ५ । २.) अर्थात् ‘हे
राजन् ! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मर जाऊँगा ।

‘दूरेण’ कहनेका तात्पर्य है कि जैसे प्रकाश और अन्धकार
कभी समकक्ष नहीं हो सकते, ऐसे ही बुद्धियोग और सकामकर्म
भी कभी समकक्ष नहीं हो सकते । इन दोनोंमें दिन-रातकी तरह

* इस प्रकरणमें ‘बुद्धि’, ‘योग’ और ‘बुद्धियोग’—ये तीनों
पद समताके ही वाचक हैं ।

महान् अन्तर है । कारण कि बुद्धियोग तो परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है और सकामकर्म जन्म-मरण देनेवाला है ।

‘बुद्धौ शरणमन्विच्छ’—तू बुद्धि-(समता-) की शरण ले । समतामें निरन्तर स्थित रहना ही उसकी शरण लेना है । समतामें स्थित रहनेसे ही तेरेको स्वस्वमें अपनी स्थितिका अनुभव होगा ।

‘कृपणाः फलहेतवः’—कर्मोंके फलका हेतु बनना अत्यन्त निकृष्ट है । कर्म, कर्मफल, कर्मसामग्री और शरीरादि कारणोंके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेना ही कर्मफलका हेतु बनना है । अतः भगवान् ने सैंतालीसवें श्लोकमें ‘मा कर्मफलहेतुर्भूः’ कहकर कर्मोंके फलका हेतु बननेमें निषेध किया है ।

कर्म और कर्मफलका विभाग अलग है तथा इन दोनोंसे रहित जो नित्य तत्त्व है, उसका विभाग अलग है । वह नित्य तत्त्व अनित्य कर्मफलके आश्रित हो जाय—इसके समान निकृष्टता और क्या होगी ?

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें जिस बुद्धिके आश्रयकी बात बतायी, अब आगेके श्लोकमें उसी बुद्धिके आश्रयका फल बताते हैं ।

श्लोक—

बुद्धियुक्तो जहातीह उमे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

गी० आ० १७-१८—

अथ—

बुद्धि-(समता-) से युक्त पुरुष यहाँ जीवित-अवस्थामें ही पुण्य और पाप दोनोंका त्याग कर देता है । अतः तू योग-(समता-) में लग जा; क्योंकि योग ही कर्मोंमें कुशलता है ।

व्याख्या—

‘बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते’—समतायुक्त पुरुष जीवित-अवस्थामें ही पुण्य-पापका त्याग कर देता है अर्थात् उसको पुण्य-पाप नहीं लगते, वह उनसे रहित हो जाता है । जैसे संसारमें पुण्य-पाप होते ही रहते हैं, पर सर्वव्यापी परमात्माको वे पुण्य-पाप नहीं लगते, ऐसे ही जो समतामें निरन्तर स्थित रहता है, उसको पुण्य-पाप नहीं लगते (गीता २ । ३८) ।

समता एक ऐसी विद्या है, जिससे मनुष्य संसारमें रहता हुआ ही संसारसे सर्वथा निर्लिप्त रह सकता है । जैसे कमलका पत्ता जलसे ही उत्पन्न होता है और जलमें ही रहता है, पर वह जलसे लिप्त नहीं होता, ऐसे ही समतायुक्त पुरुष संसारमें रहते हुए भी संसारसे निर्लिप्त रहता है । पुण्य-पाप उसका स्पर्श नहीं करते अर्थात् वह पुण्य-पापसे असङ्ग हो जाता है ।

वास्तवमें यह स्वयं (चेतनस्वरूप) पुण्य-पापसे रहित है ही । केवल असत् पदार्थों—शरीरादिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही पुण्य-पाप लगते हैं । अगर यह असत् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध न जोड़े, तो यह आकाशकी तरह निर्लिप्त रहेगा, इसको पुण्य-पाप नहीं लगेंगे ।

‘तस्माद्योगाय युज्यस्व’—इसलिये तुम योगमें लग जाओ अर्थात् निरन्तर समतामें स्थित रहो । वास्तवमें समता तुम्हारा स्वरूप है । अतः तुम हरदम ही समतामें स्थित रहते हो । केवल राग-द्वेषके कारण तुम्हारेको उस समताका अनुभव नहीं हो रहा है । अगर तुम हरदम समतामें स्थित न रहते, तो सुख और दुःखका ज्ञान तुम्हें कैसे होता; क्योंकि ये दोनों ही अलग-अलग हैं । जब इन दोनोंका तुम्हें ज्ञान होता है, तो तुम इनके आने-जानेमें सदा सम-रूपसे रहते हो । इसी समताका तुम अनुभव करो ।

‘योगः कर्मसु कौशलम्’—कर्मोंमें योग ही कुशलता है अर्थात् कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें और उन कर्मोंके फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहना ही कर्मोंमें कुशलता है । उत्पत्ति-विनाशशील कर्मोंमें योगके सिवाय दूसरा कोई महत्त्वकी चीज नहीं है ।

इन पदोंमें भगवान्ने योगकी परिभाषा नहीं बतायी है, प्रत्युत योगकी महिमा बतायी है । अगर इन पदोंका अर्थ ‘कर्मोंमें कुशलता ही योग है’—ऐसा किया जाय तो क्या आपत्ति है ? अगर ऐसा अर्थ किया जायगा, तो मान लो कि कोई बड़ी कुशलतासे, सावधानीपूर्वक चोरी करता है, तो उसका वह चोरिरूप कर्म भी योग हो जायगा ! अतः ऐसा अर्थ मानना अनुचित है । कोई कह सकता है कि हम तो विहित कर्मोंको ही कुशलतापूर्वक करनेका नाम योग मानते हैं । परन्तु ऐसा माननेसे मनुष्य कुशलतापूर्वक सांगोपांग किये गये कर्मोंके फलमें बँध जायगा, जिससे उसकी

स्थिति समतामें नहीं रहेगी । अतः यहाँ 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'—ऐसा अर्थ लेना ही उचित है । कारण कि कर्मोंको करते हुए भी जिसके अन्तःकरणमें समता रहती है, वह कर्म और उनके फलसे नहीं बँधेगा । इसलिये उत्पत्ति-विनाशशील कर्मोंको करते हुए सम रहना ही कुशलता है, बुद्धिमानी है ।

दूसरी बात, पीछेके दो श्लोकोंमें तथा इस श्लोकमें पूर्वार्धमें भी योग-(समता-) का ही प्रसङ्ग है, कुशलताका प्रसङ्ग ही नहीं है । इसलिये भी 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'—यह अर्थ लेना प्रसङ्गके अनुसार युक्तियुक्त है ।

सम्बन्ध—

कर्मोंमें योग ही कुशलता क्यों हैं ? इसका हंतु उदाहरण देकर आगेके श्लोकमें स्पष्ट करते हैं ।

श्लोक —

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—

क्योंकि समतायुक्त मनीषी साधक कर्मजन्य फलका त्याग करके जन्मरूप बन्धनसे मुक्त होकर निर्विकार पदको प्राप्त हो जाते हैं ।

व्याख्या—

'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः'—जो समतासे युक्त हैं, वे ही वास्तवमें मनीषी अर्थात् बुद्धिमान् हैं । अटारह

अध्यायके दसवें श्लोकमें भी कहा है कि जो पुरुष, अकुशल कर्मोंसे द्वेष नहीं करता और कुशल कर्मोंमें राग नहीं करता, वह मेधावी (बुद्धिमान्) है ।

कर्म तो फलके रूपमें परिणत होता ही है । उसके फलका त्याग कोई कर ही नहीं सकता । जैसे, कोई खेतीमें निष्कामभावसे बीज बोये, तो क्या खेतीमें अनाज नहीं होगा ? बोया है तो पैदा अवश्य होगा । ऐसे ही कोई निष्कामभावपूर्वक कर्म करता है तो उसको कर्मका फल तो मिलेगा ही । अतः यहाँ कर्मजन्य फलका त्याग करनेका अर्थ है—कर्मजन्य फलकी इच्छा, कामना, ममता, वासनाका त्याग करना । इसका त्याग करनेमें सभी समर्थ हैं ।

कर्मजन्य फल चार तरहके होते हैं—प्राप्त, अप्राप्त, दृष्ट और अदृष्ट । प्रारब्धके अनुसार हमें जो देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था मिली है, वह कर्मका 'प्राप्त' फल है । प्रारब्धके अनुसार आगे जो मिलनेवाला है, जो कि अभी हमारे सामने नहीं है, वह कर्मका 'अप्राप्त' फल है । अभी वर्तमानमें किये जानेवाले कर्मोंमें जिनका फल तत्काल मिलता है, वह कर्मका 'दृष्ट' फल है; जैसे—भोजन किया और तृप्ति हो गयी । वर्तमानमें किये गये शुभ-अशुभ कर्मोंका जो आगे शुभाशुभ फल मिलेगा, वह कर्मका 'अदृष्ट' फल है । कर्मजन्य फलका त्याग करनेका तात्पर्य है—प्राप्त फलमें ममता न करना, दृष्ट फलमें सुखी-दुःखी न होना और अप्राप्त तथा अदृष्ट फलकी कामना न करना ।

‘जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः’—समतायुक्त मनीषी साधक जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं । कारण कि समतामें स्थित हो जानेसे उनमें राग-द्वेष, कामना, वासना, ममता आदि दोष किञ्चिन्मात्र भी नहीं रहते; अतः उनके पुनर्जन्मका कोई कारण ही नहीं रहता । वे बार-बार जन्म लेनारूप बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाते हैं ।

‘पदं गच्छन्त्यनामयम्’—‘आमय’ नाम रोगका है । रोग एक विकार है । जिसमें किञ्चिन्मात्र भी किसी प्रकारका विकार न हो, उसको ‘अनामय’ अर्थात् निर्विकार कहते हैं । समतायुक्त मनीषीलोग ऐसे निर्विकार पदको प्राप्त हो जाते हैं ।

यद्यपि गीतामें सत्त्वगुणको भी अनामय कहा गया है (१४ । ६), पर वास्तवमें अनामय (निर्विकार) तो अपना स्वरूप अथवा परमात्मतत्त्व ही है; क्योंकि वह गुणातीत तत्त्व है, जिसको प्राप्त होकर फिर किसीको भी जन्म-मरणके चक्रमें नहीं आना पड़ता । परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें हेतु होनेसे भगवान् ने सत्त्वगुणको भी अनामय कह दिया है ।

अनामय पदको प्राप्त होना क्या है ? प्रकृति विकारशील है, तो उसका कार्य और शरीर भी विकारशील है । स्वयं निर्विकार होते हुए भी जब यह विकारी शरीरके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब यह अपनेको भी विकारी मान लेता है । परन्तु जब यह शरीरके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग कर देता है, तो इसको

अपने सहज निर्विकार स्वरूपका अनुभव हो जाता है । इस स्वाभाविक निर्विकारताका अनुभव होनेको ही यहाँ अनामय पदको प्राप्त होना कहा गया है ।

इस श्लोकमें 'बुद्धियुक्ताः' और 'मनीषिणः' पदमें बहुवचन देनेका तात्पर्य है कि जो भी समतामें स्थित हो जाते हैं, वे सर्व-के-सब अनामय पदको प्राप्त हो जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं । उनमें-से कोई भी बाकी नहीं रहता । इस तरह समता अनामय पदकी प्राप्तिका अचूक उपाय है । इससे यह नियम सिद्ध होता है कि जब उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंके साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा तो स्वतः-सिद्ध निर्विकारताका अनुभव हो जायगा । इसके लिये कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ेगा; क्योंकि उस निर्विकारताका निर्माण नहीं करना पड़ता, वह तो स्वतः-स्वाभाविक ही है ।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें बताये अनामय पदकी प्राप्तिका क्रम क्या है ? इसका उत्तर आगेके दो श्लोकोंमें देते हैं ।

श्लोक—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

अर्थ—

जिस समय तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलको तर जायगी, उसी समय तू सुने हुए और सुननेमें आनेवाले भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा ।

व्याख्या—

‘यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति’—शरीरमे अहंता और ममता करना तथा शरीर-सम्बन्धी माता-पिता, भाई-भौजाई, स्त्री-पुत्र, वस्तु, पदार्थ आदिमे ममता करना ‘मोह’ है । कारण कि इन शरीरादिमें अहंता-ममता है नहीं, केवल अपनी मानी हुई है । मोहसे उत्पन्न होनेवाले अनुकूल पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति, घटना आदिके प्राप्त होनेपर प्रमत्त होना और प्रतिकूल पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति आदिके प्राप्त होनेपर उद्विग्न होना, संसारमे—परिवारमे विपत्ति, पक्षपात, मात्सर्य आदि विकार होना -यह सब-का-सब ‘कलिल’ है, दलदल है । इस मोहरूप दलदलमें जब बुद्धि फँस जाती है, तो मनुष्य विकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है । फिर मनुष्यको कुछ सूझता नहीं ।

यह स्वयं चेतन होता हुआ भी शरीरादि जड़ चीजोमे अहंता-ममता करके उनके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है । पर वास्तवमें यह जिन-जिन चीजोके साथ सम्बन्ध जोड़ता है, वे चीजें इसके साथ सदा नहीं रह सकतीं और यह भी उनके साथ सदा नहीं रह सकता । परन्तु मोहके कारण इसकी इस तरफ दृष्टि ही नहीं जाती, प्रत्युत यह अनेक प्रकारके नये-नये सम्बन्ध जोड़कर संसारमें अधिक-से-अधिक फँसता चला जाता है । जैसे कोई राहगीर अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेसे पहले ही रास्तेमें अपना डेरा लगाकर खेल-कूद, हँसी-दिल्लीगी आदिमें अपना समय बिता दे, ऐसे ही भगवान् ने इस जीवको अपना उद्धार करनेके

लिये मनुष्यशरीर दिया है, पर यह यहाँके नाशवान् पदार्थोंका संग्रह करनेमें और उनसे सुख लेनेमें तथा व्यक्ति, परिवार आदिमें ममता करके उनसे सुख लेनेमें लग गया। यही इसकी बुद्धिका मोहरूपी कल्लिखमें फँसना है।

इस मोहरूपी कल्लिखसे बुद्धिका तरना क्या है ? हमें शरीरमें अहंता-ममता करके तथा परिवारमें ममता करके यहाँ ही थोड़े बैठे रहना है ? इनमें ही फँसे रहकर अपनी वास्तविक उन्नति (कल्याण-) से वञ्चित थोड़े ही रहना है ? हमें तो इनमें न फँसकर अपना कल्याण करना है—ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाना ही बुद्धिका मोहरूपी दलदलसे तरना है। कारण कि ऐसा दृढ़ विचार होनेपर बुद्धि ससारके सम्बन्धोंको लेकर अटकेगी नहीं, संसारमें चिपकेगी नहीं।

मोहरूपी कल्लिखसे तरनेके दो उपाय हैं—विवेक और सेवा। विवेक (जिसका वर्णन २। ११-३० में हुआ है) तेज होता है, तो वह असत् विषयोंसे अरुचि करा देता है। मनमें दूसरोंकी सेवा करनेकी दूसरोंको सुख पहुँचानेकी धुन लग जाय, तो अपने सुख-आरामका त्याग करनेकी शक्ति आ जातो है। दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव जितना तेज होगा, उतनी ही अपने सुखकी इच्छाका त्याग होगा। जैसे शिष्यकी गुरुके लिये, पुत्रकी माता-पिताके लिये, नौकरकी मालिकके लिये सुख पहुँचानेकी इच्छा हो जाती है, तो उनकी अपने सुख-आरामकी इच्छा स्वतः सुगमतासे मिट जाती है। ऐसे ही कर्मयोगीका संसारमात्रकी सेवा करनेका भाव हो जाता है, तो उसकी अपने सुखभोगकी इच्छा स्वतः मिट जाती है।

विवेक-विचारके द्वारा अपनी भोगेच्छाको मिटानेमें थोड़ी कठिनता पड़ती है । कारण कि अगर विवेक-विचार अत्यन्त दृढ़ न हो, तो वह तभीतक काम देता है, जबतक भोग सामने नहीं आते । जब भोग सामने आते हैं, तो साधक प्रायः उनको देखकर विचलित हो जाता है । परन्तु जिसमें सेवाभाव होता है, उसके सामने बढ़िया-से-बढ़िया भोग आनेपर भी वह उस भोगको दूसरोकी सेवामें लगा देता है । अतः उसकी अपने सुख-आरामकी इच्छा सुगमतासे मिट जाती है । इसलिये भगवान् ने साख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ (५ । २), सुगम (५ । ३) और जल्दी सिद्धि देनेवाला (५ । ६) बताया है ।

‘तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च’—मनुष्यने जितने भोगोको सुन लिया है, भोग लिया है, अच्छी तरहसे अनुभव कर लिया है, वे सब भोग यहाँ ‘श्रुतस्य’ पदके अन्तर्गत हैं । स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक आदिके जितने भोग सुने जा सकते हैं, वे सब भोग यहाँ ‘श्रोतव्यस्य’* पदके अन्तर्गत हैं । जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल-को तर जायगी, तब इन ‘श्रुत’—ऐहलौकिक और ‘श्रोतव्य’—पारलौकिक भोगोसे, विषयोसे तेरेको वैराग्य हो जायगा । तात्पर्य है कि जब बुद्धि मोहकलिलको तर जाती है, तो बुद्धिमें तेजीका विवेक जाग्रत् हो जाता है कि संसार प्रतिभ्रम बढल रहा है और मैं वही रहता हूँ; अतः इस संसारसे मेरेको शान्ति कैसे मिल सकती

* यहाँ ‘श्रुतस्य’ और ‘श्रोतव्यस्य’ पद शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंके उपलक्षण हैं ।

है : मेरा अभाव कैसे मिट सकता है : तब 'श्रुत' और 'श्रोतव्य' जितने विषय हैं, उन सबसे स्वतः वैराग्य हो जाता है ।

यहाँ भगवान्‌को 'श्रुत' के स्थानपर भुक्त और 'श्रोतव्य' के स्थानपर भोक्तव्य कहना चाहिये था । परन्तु ऐसा न कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें जो परोक्ष-अपरोक्ष विषयोंका आकर्षण होता है, वह सुननेसे ही होता है । अतः इनमें सुनना ही मुख्य है । संसारसे, विषयोंसे छूटनेके लिये जहाँ ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गका वर्णन किया गया है, वहाँ भी 'श्रवण' को मुख्य बताया गया है तात्पर्य है कि संसारमें और परमात्मामें लगनेमें सुनना ही मुख्य है ।

यहाँ 'यदा' और 'तदा' कहनेका तात्पर्य कि उन 'श्रुत' और 'श्रोतव्य' विषयोंसे इतने वर्षोंमें, इतने महीनोंमें और इतने दिनोंमें वैराग्य होगा—ऐसा कोई नियम नहीं है, प्रत्युत जिस क्षण बुद्धि मोहकलिलको तर जायगी, उसी क्षण 'श्रुत' और 'श्रोतव्य' विषयोंसे, भोगोंसे वैराग्य हो जायगा । इसमें कोई देरीका काम नहीं है ।

श्लोक—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अर्थ—

जिस कालमें शास्त्रीय मतभेदोंसे विचलित हुई तेरी बुद्धि निश्चल हो जायगी और परमात्मामें अचल हो जायगी, उस कालमें तू योगको प्राप्त हो जायगा ।

व्याख्या—

[लौकिक मोहरूपी दलदलको तरनेपर भी नाना प्रकारके शास्त्रीय मतभेदोंको लेकर जो मोह होता है, उसको तरनेके लिये भगवान् ने इस श्लोकमें प्रेरणा की है ।]

‘श्रुतिविप्रतिपत्ता योगमवाप्स्यसि’—अर्जुनके मनमें यह श्रुतिविप्रतिपत्ति है कि अपने गुरुजनोका, अपने कुटुम्बका नाश करना भी उचित नहीं है और अपने क्षात्रधर्म (युद्ध करना) का त्याग करना भी उचित नहीं है । एक तरफ तो कुटुम्बकी रक्षा हो और एक तरफ क्षात्रधर्मका पालन हो—इसमें अगर कुटुम्बकी रक्षा करें तो युद्ध नहीं होगा और युद्ध करें तो कुटुम्बको रक्षा नहीं होगी—इन दोनों बातोंमें अर्जुनकी श्रुतिविप्रतिपत्ति है, जिससे उनकी बुद्धि विचलित हो रही है । * अतः भगवान् शास्त्रीय मतभेदोंमें बुद्धिको निश्चल और परमात्मप्राप्तिके विषयमें बुद्धिको अचल करनेकी प्रेरणा करते हैं ।

पहले तो सावकमें इस बातको लेकर सन्देह होता है कि सांसारिक व्यवहारको ठीक किया जाय या परमात्माकी प्राप्ति की जाय । फिर उसका

* जाल दो प्रकारका है—संसारी और शास्त्रीय । संसारके मोहरूपी दलदलमें फँस जाना संसारी जालमें फँसना है और शास्त्रोंके, सम्प्रदायोंके द्वैत-अद्वैत आदि अनेक मत-मतान्तरोंमें उलझ जाना शास्त्रीय जालमें फँसना है । संसारी जाल तो उलझे हुए छटाँक सूतके समान है और शास्त्रीय जाल उलझे हुए सौ मन सूतके समान है । अतः भगवान् यहाँ यह बताते हैं कि संसारी और शास्त्रीय—इन दोनों जालोंमें बुद्धि निश्चल (एक निश्चयवाली) होनी चाहिये; और परमात्मामें बुद्धि अचल होनी चाहिये कि हमें तो परमात्माकी ही प्राप्ति करनी है, चाहे जो हो जाय ।

ऐसा निर्णय होता है कि मुझे तो केवल संसारकी सेवा करनी है और संसारसे लेना कुछ नहीं है। ऐसा निर्णय होते ही साधककी भोगोंसे उपरति होने लगती है, वैराग्य होने लगता है। ऐसा होनेके बाद जब साधक परमात्माकी तरफ चलाता है, तो उसके सामने सिद्धान्त और साधन-विषयक तरह-तरहके शास्त्रीय मतभेद आते हैं। इससे 'मेरेको' कौन-सा सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिये और किस साधन-पद्धतिसे चलना चाहिये—इसका निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है। परन्तु जब साधक सत्सङ्गके द्वारा अपनी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताका निर्णय कर लेता है अथवा निर्णय न हो सकनेकी दशामें भगवान्‌के शरण होकर उनको पुकारता है, तो भगवत्कृपासे उसकी बुद्धि निश्चल हो जाती है। दूसरी बात, सम्पूर्ण शास्त्र, सम्प्रदाय आदिमें जीव, संसार और परमात्मा—इन तीनोंका ही अलग-अलग रूपसे वर्णन किया गया है। इसमें विचारपूर्वक देखा जाय तो जीवका स्वरूप चाहे जैसा हो, पर जीव मैं हूँ—इसमें सब एकमत हैं; संसारका स्वरूप चाहे जैसा हो, पर संसारको छोड़ना है—इसमें सब एकमत हैं; और परमात्माका स्वरूप चाहे जैसा हो, पर उसको प्राप्त करना—इसमें सब एकमत हैं। ऐसा निर्णय कर लेनेपर साधककी बुद्धि निश्चल हो जाती है। मेरेको केवल परमात्माको ही प्राप्त करना है—ऐसा दृढ़ निश्चय होनेसे बुद्धि अचल हो जाती है। तब साधक सुगमतापूर्वक योग—परमात्माके साथ नित्ययोग को प्राप्त हो जाता है।

शास्त्रीय निर्गम करनेमें क्षयवा अपने कल्याणके निश्चयमें जितनी कमी रहती है उसनी ही देरी लगती है । परन्तु इन दोनोंमें जब बुद्धि निश्चय और अचल हो जाती है, तो परमात्माके साथ नित्ययोगका अनुभव हो जाता है ।

यहाँ 'तद् योगमवाप्स्यसि' पदोंसे जो योगकी प्राप्ति बताया है, वह योग ऐसा नहीं है कि पहले परमात्मासे वियोग था, उस वियोगको मिटा दिया तो योग हो गया, प्रसृत असत् पदार्थोंके साथ भूलसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा वियोग हो जानेका नाम 'योग' है अर्थात् मनुष्यकी सदासे जो वास्तविक स्थिति (परमात्मासे नित्ययोग) है, उस स्थितिमें स्थित होना योग है । वह वास्तविक स्थिति ऐसी विच्छेद है कि उससे कभी वियोग होता ही नहीं होना सम्भव ही नहीं । उसमें संयोग, वियोग, योग आदि कोई भी शब्द लागू नहीं होता । केवल असत्से माने हुए सम्बन्धके त्यागको ही यहाँ 'योग' संज्ञा दे दी है । वास्तवमें यह योग नित्ययोगका वाचक है । इस नित्ययोगकी अनुभूति कर्मोंके (सेवाके) द्वारा की जाय तो 'कर्मयोग', विवेक-विचारके द्वारा की जाय तो 'ज्ञानयोग', प्रेमके द्वारा की जाय तो 'भक्तियोग', संसारके लय-चिन्तनके द्वारा की जाय तो 'लययोग', प्राणायामके द्वारा की जाय तो 'हठयोग' और यम-नियमादि आठ अङ्गोंके द्वारा की जाय तो 'अष्टाङ्गयोग' कहलाता है ।

सम्बन्ध—

मोहकलिल और श्रुतिविप्रतिपत्ति दूर होनेपर योगको प्राप्त हुए स्थिर बुद्धिवाले पुरुषके विषयमें अर्जुन प्रश्न करते हैं ।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥५४॥

अर्थ—

अर्जुन बोले—हे केशव ! परमात्मामें स्थित स्थिर बुद्धिवाले पुरुषके क्या लक्षण होते हैं ? वह स्थिर बुद्धिवाला पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ?

व्याख्या—

[यहाँ अर्जुनने स्थितप्रज्ञके विषयमें जो प्रश्न किये हैं, इन प्रश्नोंके पहले अर्जुनके मनमें कर्म और समबुद्धि (२।४७-५०) को लेकर शङ्का पैदा हुई थी । परन्तु भगवान् ने वाचनवै-तिरपनवै श्लोकोंमें कहा कि जब तेरी बुद्धि मोहकलिल और श्रुतिविप्रतिपत्तिको तर जायगी, तो तू योगको प्राप्त हो जायगा—यह सुनकर अर्जुनके मनमें शङ्का हुई कि जब मैं योगको प्राप्त हो जाऊँगा, स्थितप्रज्ञ हो जाऊँगा, तो मेरे क्या लक्षण होंगे ? अतः अर्जुनने इस अपनी व्यक्तिगत शङ्काको पहले पूछ लिया, और दूसरी, कर्म तथा समबुद्धिको लेकर अर्थात् सिद्धान्तको लेकर जो शङ्का थी, उसको अर्जुनने स्थितप्रज्ञके लक्षणोंका वर्णन होनेके बाद (३१। १२में) पूछ लिया । अगर अर्जुन सिद्धान्तका प्रश्न यहाँ चौवनवै श्लोकमें ही कर लेते; तो स्थितप्रज्ञके विषयमें प्रश्न करनेका अवसर बहुत दूर पड़ जाता ।]

‘समाधिस्थस्य’*—जो पुरुष परमात्माको प्राप्त हो चुका है, उसके लिये यहाँ ‘समाधिस्थ’ पद आया है ।

‘स्थितप्रज्ञस्य’—यह पद साधक और सिद्ध दोनोंका वाचक है । जिसका विचार दृढ़ है, जो साधनसे कभी विचलित नहीं होता, ऐसा साधक भी स्थितप्रज्ञ (स्थिर बुद्धिवाला) है और परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेसे जिसकी बुद्धि स्थिर हो चुकी है, ऐसा सिद्ध भी स्थितप्रज्ञ है । अतः यहाँ ‘स्थितप्रज्ञ’ शब्दसे साधक और सिद्ध दोनों लिये गये हैं । पहले इकतालीसवें श्लोकसे तिरपनवें श्लोकतक साधकोंका वर्णन हुआ है, अतः आगेके श्लोकोंमें सिद्धके लक्षणोंमें साधकोंका भी वर्णन हुआ है ।

यहाँ शङ्का होती है कि अर्जुनने तो ‘समाधिस्थस्य’ पदसे सिद्ध स्थितप्रज्ञकी बात ही पूछी थी, पर भगवान्ने स्थितप्रज्ञके लक्षणोंमें साधकोंकी बातें क्यों कहीं ? इसका समाधान है कि ज्ञानयोगी साधककी तो प्रायः साधन-अवस्थामें ही कर्मोंसे उपरति हो जाती है । सिद्ध-अवस्थामें वह कर्मोंसे विशेष उपराम हो जाता है । भक्तियोगी साधककी भी साधन-अवस्थामें जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि भगवत्सम्बन्धी कर्म करनेकी रुचि होती है और इनकी बहुलता भी होती है । सिद्ध-अवस्थामें तो भगवत्सम्बन्धी कर्म विशेषतासे होते हैं । इस तरह ज्ञानयोगी और भक्तियोगी—

* यहाँ ‘समाधि’ पद परमात्माका वाचक है । इसीको पहले चौवालीसवें श्लोकमें ‘समाधौ न विधीयते’ पदोंसे कहा है ।

दोनोंकी साधन और सिद्ध-अवस्थामें अन्तर आ जाता है; परन्तु कर्मयोगीकी साधन और सिद्ध-अवस्थामें अन्तर नहीं आता । उसकी दोनो अवस्थाओंमें कर्म करनेका प्रवाह ज्यों-का-त्यों चलता रहता है । कारण कि साधन-अवस्थामें उसका कर्म करनेका प्रवाह रहा है और उसके योगपर आरुढ़ होनेमें भी कर्म ही खास कारण रहे हैं । अतः भगवान्ने सिद्धके लक्षणोंमें साधक जिस तरह सिद्ध हो सके, उसके साधन भी बता दिये हैं और जो सिद्ध हो गये हैं, उनके लक्षण भी बता दिये हैं ।

‘का भाषा’*—परमात्मामें स्थित स्थिर बुद्धिवाले पुरुषको किस वाणीसे कहा जाता है अर्थात् उसके क्या लक्षण होते हैं ? (इसका उत्तर भगवान्ने आगेके श्लोकमें दिया है ।)

‘स्थितधीः किं प्रभाषेत’—वह स्थिर बुद्धिवाला पुरुष कैसे चोळता है ? (इसका उत्तर भगवान्ने छप्पनवें-सत्तावनवें श्लोकोंमें दिया है ।)

‘किमासीत’—वह कैसे बैठता है अर्थात् संसारसे किस तरह उपराम होना है ? (इसका उत्तर भगवान्ने अठ्ठावनवेंसे तिरसठवें श्लोकतक दिया है ।)

‘व्रजेत किम्’—वह कैसे चलता है अर्थात् व्यवहार कैसे करता है ? (इसका उत्तर भगवान्ने चौसठवेंसे इकहत्तरवें श्लोक तक दिया है ।)

सम्बन्ध—

अब भगवान् आगेके श्लोकमें अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर देते हैं ।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

अर्थ—

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन ! जिस कालमें साधक मनोगत सम्पूर्ण कामनाओका भलीभाँति त्याग कर देता है और अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।

व्याख्या—

[गीताकी यह एक शैली है कि जो साधक जिस साधन (कर्मयोग, भक्तियोग आदि) के द्वारा सिद्ध होता है, उसी साधनसे उसकी पूर्णताका वर्णन किया जाता है । जैसे, भक्तियोगमें साधक भगवान्के सिवाय और कुछ है ही नहीं—ऐसे अनन्ययोगसे उपासना करता है (१२ । ६); अतः सिद्धावस्थामें वह सम्पूर्ण प्राणियोमें द्वेषभावसे रहित हो जाता है (१२ । १३) । ज्ञानयोगमें साधक स्वयंको गुणोंसे सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त देखता है (१४ । १९); अतः सिद्धावस्थामें वह सम्पूर्ण गुणोंसे सर्वथा अतीत हो जाता है (१४ । २२—२५) । ऐसे ही कर्मयोगमें कामनाके त्यागकी बात मुख्य कही गयी है, अतः सिद्धावस्थामें वह सम्पूर्ण कामनाओका त्याग कर देता है—यह बात इस श्लोकमें बताते हैं ।]

‘प्रजाहानि यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्’—साधक जिस कालमें मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर देता है— इसका तात्पर्य यह हुआ कि कामना न तो स्वयंमें है और न मनमें ही है। कामना तो आने-जानेवाली है और स्वयं निरन्तर रहनेवाला है; अतः स्वयंमें कामना कैसे हो सकती है ? मन एक कारण है और उसमें भी कामना निरन्तर नहीं रहती, प्रत्युत उसमें आती है—‘मनोगतान्’; अतः मनमें भी कामना कैसे हो सकती है ? परन्तु शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे तादात्म्य होनेके कारण पुरुष मनमें आनेवाली कामनाओंको अपनेमें मान लेता है।

‘जहाति’ क्रियाके साथ ‘प्र’ उपसर्ग देनेका तात्पर्य है कि साधक कामनाओंका सर्वथा त्याग कर देता है, किसी भी कामनाका कोई भी अंश किञ्चिन्मात्र भी नहीं रहता।

अग्ने स्वरूपका कभी त्याग नहीं होता और जिससे अपना कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, उसका भी त्याग नहीं होता। त्याग उसीका होता है, जो अपनी नहीं है, पर उसको अपनी मान लिया है। ऐसे ही कामना अपनेमें नहीं है, पर उसको अपनेमें मान लिया है। इस मान्यताका त्याग करनेको ही यहाँ ‘प्रजहाति’ पदसे कहा गया है।

यहाँ ‘कामान्’ शब्दमें बहुवचन होनेसे ‘सर्वान्’ पद उसीके पेटमें आ जाता है, फिर भी ‘सर्वान्’ पद देनेका तात्पर्य है कि कोई भी कामना न रहे और किसी भी कामनाका कोई भी अंश बाकी न रहे।

‘आत्मन्येवात्मना तुष्टः’—जिस कालमें सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर देता है और अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है अर्थात् अपने-आपमें सहज स्वाभाविक सन्तोष होता है ।

सन्तोष दो तरहका होता है—एक सन्तोष गुण है और एक सन्तोष स्वरूप है । अन्तःकरणमें कोई भी किसी प्रकारकी इच्छा न हो—यह सन्तोष गुण है और स्वयंमें असन्तोषका अत्यन्तभाव है—यह सन्तोष स्वरूप है । यह स्वरूपभूत सन्तोष स्वतः सदा रहता है (इसके लिये कोई अभ्यास या विचार नहीं करना पड़ता । स्वरूपभूत सन्तोषमें प्रज्ञा (बुद्धि) स्वतः स्थिर रहती है ।

‘स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते’—स्वयं जब बहुशाखाओवाली अनन्त कामनाओंको अपनेमें मानता था, उस समय भी वास्तवमें कामनाएँ अपनेमें नहीं थीं और स्वयं स्थितप्रज्ञ ही था । परन्तु उस समय अपनेमें कामनाएँ माननेके कारण बुद्धि स्थिर न होनेसे वह स्थितप्रज्ञ नहीं कहा जाता था, अर्थात् उसको अपनी स्थित-प्रज्ञताका अनुभव नहीं होती था । अब उसने अपनेमेंसे सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर दिया अर्थात् उनकी मान्यताको हटा दिया तो वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है अर्थात् उसको अपनी स्थितप्रज्ञताका अनुभव हो जाता है ।

साधक तो बुद्धिको स्थिर बनाता है । पर कामनाओंका सर्वथा त्याग होनेपर बुद्धिको स्थिर बनाना नहीं पड़ता, वह स्वतः-स्वाभाविक स्थिर हो जाती है ।

कर्मयोगमें साधकका कर्मोंसे ज्यादा सम्बन्ध रहता है । उसके लिये योगमें आरुढ़ होनेमें भी कर्म कारण हैं—
 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' (गीता ६ । ३) ।
 इसलिये कर्मयोगीका कर्मोंके साथ सम्बन्ध साधक-अवस्थामें भी रहता है और सिद्धावस्थामें भी । सिद्धावस्थामें कर्मयोगीके द्वारा मर्यादाके अनुसार कर्म होते रहते हैं, जो दूसरोंके लिये आदर्श होते हैं (गीता ३ । २१) । इसी बातको भगवान् ने चौथे अध्यायमें कहा है कि कर्मयोगी कर्म करते हुए निर्लिप्त रहता है और निर्लिप्त रहते हुए ही कर्म करता है—'कर्मण्यकर्म यः पश्ये-
 दकर्मणि च कर्म यः' (४ । १८) ।

भगवान् ने तिरपनवें श्लोकमें योगकी प्राप्तिमें बुद्धिकी दो बात कही थी—संसारसे हटनेमें तो बुद्धि निश्चल हो और परमात्मामें लगनेमें बुद्धि अचल हो अर्थात् निश्चल कहकर संसारका त्याग बताया और अचल कहकर परमात्मामें स्थिति बनायी । उन्हीं दो बातोंको लेकर यहाँ 'यदा' और 'तदा' परसे कश गया है कि जब साधक कामनाओंसे सर्वथा रहित हो जाता है और अपने स्वरूपमें ही सन्तुष्ट रहता है; तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है । तात्पर्य है कि जबतक कामनाका अंश रहता है, तबतक वह साधक कहलाता है और जब कामनाओंका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वह सिद्ध कहलाता है । इन्हीं दो बातोंका वर्णन भगवान् ने इस अध्यायकी समाप्ति तक किया है; जैसे—यहाँ 'प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्' पदोंसे संसारका त्याग बताया और

‘आत्मन्येवात्मना तुष्टः’—जिस कालमें सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर देता है और अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है अर्थात् अपने-आपमें सहज स्वाभाविक सन्तोष होता है ।

सन्तोष दो तरहका होता है—एक सन्तोष गुण है और एक सन्तोष स्वरूप है । अन्तःकरणमें कोई भी किसी प्रकारकी इच्छा न हो—यह सन्तोष गुण है और स्वयंमें असन्तोषका अत्यन्तभाव है—यह सन्तोष स्वरूप है । यह स्वरूपभूत सन्तोष स्वतः सदा रहता है (इसके लिये कोई अभ्यास या विचार नहीं करना पड़ता । स्वरूपभूत सन्तोषमें प्रज्ञा (बुद्धि) स्वतः स्थिर रहती है ।

‘स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते’—स्वयं जब बहुशाखाओंवाली अनन्त कामनाओंको अग्नेमें मानता था, उस समय भी वास्तवमें कामनाएँ अग्नेमें नहीं थीं और स्वयं स्थितप्रज्ञ ही था । परन्तु उस समय अपनेमें कामनाएँ माननेके कारण बुद्धि स्थिर न होनेसे वह स्थितप्रज्ञ नहीं कहा जाता था, अर्थात् उसको अपनी स्थित-प्रज्ञताका अनुभव नहीं होती था । अब उसने अपनेमेंसे सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर दिया अर्थात् उनकी मान्यताको हटा दिया तो वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है अर्थात् उसको अपनी स्थितप्रज्ञताका अनुभव हो जाता है ।

सावक तो बुद्धिको स्थिर बनाता है । पर कामनाओंका सर्वथा त्याग होनेपर बुद्धिको स्थिर बनाना नहीं पड़ता, वह स्वतः-स्वाभाविक स्थिर हो जाती है ।

श्लोक—

दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

अर्थ—

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता और सुखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें स्पृहा नहीं होती तथा जो राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, वह मननशील पुरुष स्थिरबुद्धि कहा जाता है ।

व्याख्या—

['अर्जुनने तो स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है —ऐसा क्रियाकी प्रधानताको लेकर प्रश्न किया था, पर भगवान् भावकी प्रधानताको लेकर उत्तर देते हैं; क्योंकि क्रियाओंमें भाव ही मुख्य है । क्रियामात्र भावपूर्वक ही होती है । भाव बदलनेसे क्रिया बदल जाती है अर्थात् बाहरसे क्रिया वैसी ही दाखनेपर भी वास्तवमें क्रिया वैसी नहीं रहती । उसी भावकी बात भगवान् यहाँ कह रहे हैं* ।]

* गीतामें अर्जुनने जहाँ-कहीं भी क्रियाकी प्रधानताको लेकर प्रश्न किया है, उसका उत्तर भगवान्ने भाव और बोधकी प्रधानताको लेकर ही दिया है । कारण कि क्रियाओंमें भाव और बोध ही मुख्य हैं । भाव और बोधके अनुसार ही क्रियाएँ होती हैं । जैसे, अर्जुनने चौदहवें अध्यायमें पूछा कि गुणातीत पुरुषके आचरण कैसे होते हैं ? परन्तु भगवान्ने भावकी मुख्यताको लेकर उत्तर दिया कि उसके आचरण समतापूर्वक होते हैं ।

फिर 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' पदोंसे परमात्मामें स्थिति बतायी । छप्पनवें श्लोकके पहले भागमें (तीन चरणोंमें) संसारका त्याग और 'स्थितधीर्मुनिः' पदसे परमात्मामें स्थिति बतायी । सत्तावनवें और अट्ठावनवें श्लोकमें पहले संसारका त्याग बताया और फिर 'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' पदोंसे परमात्मामें स्थिति बनायी । उनसठवें श्लोकके पहले भागमें संसारका त्याग और 'परं दृष्ट्वा' पदोंसे परमात्मामें स्थिति बतायी । साठवें श्लोकसे इकसठवें श्लोकतक पहले संसारका त्याग बताया और फिर 'युक्त आसीत् मत्परः' आदि पदोंसे परमात्मामें स्थिति बतायी । बासठवेंसे पैंसठवें श्लोकतक पहले संसारका त्याग बताया और फिर 'बुद्धिः पर्यवतिष्ठते' पदोंसे परमात्मामें स्थिति बतायी । छालठवेंसे अड़सठवें श्लोकतक पहले संसारका त्याग बताया और फिर 'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' पदोंसे परमात्मामें स्थिति बताया । उनहत्तरवें श्लोकमें 'या निशा सर्व-भूतानाम्' तथा 'यस्यां जाग्रति भूतानि' पदोंसे संसारका त्याग बताया और 'तस्यां जागर्ति संयमी' तथा 'सा निशा पश्यतो मुनेः' पदोंसे परमात्मामें स्थिति बतायी । सत्तरवें और इकहत्तरवें श्लोकमें पहले संसारका त्याग बताया और फिर 'स शान्तिमधिगच्छति' पदोंसे परमात्मामें स्थिति बनायी । बहत्तरवें श्लोकमें 'नैनां प्राप्य विमुह्यति' पदोंसे संसारका त्याग बताया और 'ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति' आदि पदोंसे परमात्मामें स्थिति बनायो ।

सम्बन्ध—

अब आगेके दो श्लोकोंमें 'स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है ?'—
इस दूसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं ।

होनेवाली अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें सम, निर्विकार रहनेकी बात बताते हैं ।]

‘यः सर्वत्रानभिस्नेहः’—जो सब जगह स्नेहरहित है अर्थात् जिसकी अपने कइलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, तथा स्त्री, पुत्र, घर, धन आदि किसीमें भी आसक्ति नहीं रही है, लगाव नहीं रहा है ।

वस्तु आदिके बने रहनेसे मै बना रहा और उनके बिगड़ जानेसे मै बिगड़ गया, धनके आनेसे मै बड़ा हो गया और धनके चले जानेसे मै मारा गया—यह जो वस्तु आदिमें एकात्मताकी तरह स्नेह है, उसका नाम ‘अभिस्नेह’ है । स्थितप्रज्ञ कर्मयोगीका किसी भी वस्तु आदिमें यह अभिस्नेह बिल्कुल नहीं रहता । बाहरसे वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिका संयोग रहते हुए भी वह भीतरसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है ।

‘तत्तत्प्राप्य शुभाशुभं नाभिनन्दति न द्वेष्टि’—जब उस पुरुषके सामने प्रारब्धवशात् शुभ-अशुभ, शोभनीय-अशोभनीय, अच्छी-मन्दी, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होती है, तो वह अनुकूल परिस्थितिको लेकर अभिनन्दित नहीं होता और प्रतिकूल परिस्थितिको लेकर द्वेष नहीं करता ।

अनुकूल परिस्थितिको लेकर मनमें जो खुशी आती है और वाणीसे भी खुशी प्रकट की जाती है तथा बाहरसे भी उत्सव मनाया जाता है—यह उस परिस्थितिका अभिनन्दन करना है । ऐसे ही प्रतिकूल परिस्थितिको लेकर मनमें जो दुःख होता है, खिन्नता होती है कि

‘स्थितधीर्मुनिरुच्यते’—ऐसे मननशील कर्मयोगीकी बुद्धि स्थिर, अटल हो जाती है । ‘मुनि’ शब्द वाणीपर लागू होता है, इसलिये भगवान् ने ‘किं प्रभाषेत’ के उत्तरमें ‘मुनि’ शब्द कह दिया है । परन्तु वास्तवमें ‘मुनि’ शब्द केवल वाणीपर ही अवलम्बित नहीं है । इसीलिये भगवान् ने सत्रहवें अध्यायमें ‘मौन’ शब्दका प्रयोग मानसिक तपमें किया है, वाणीके तपमें नहीं (१७ । १६) ।

कर्मयोगका प्रकरण होनेसे यहाँ मननशील कर्मयोगीको ‘मुनि’ कहा गया गया है । मननशीलताका तात्पर्य है—सावधानीका मनन, जिससे कि मनमें कोईकामना-आसक्ति न आ जाय । निरन्तर अनासक्त रहना ही सिद्ध कर्मयोगीकी सावधानी है; क्योंकि पहले साधक-अवस्थामें उसकी ऐसी सावधानी रही है (गीता ३ । १९) और इसीमें वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हुआ है ।

श्लोक—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

अर्थ—

सब जगह आसक्तिरहित हुआ जो पुरुष उस-उस शुभ-अशुभ-को प्राप्त करके न तो अभिनन्दित होता है और न द्वेष करता है, उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठित है ।

व्याख्या—

[पूर्वश्लोकमें तो भगवान् ने कर्णव्य-कर्म करते हुए निर्विकार]
अब इस श्लोकमें कर्मोंके अनुसार प्राप्त

‘भय’ होता है । अगर वह व्यक्ति निर्वल होता है, तो मनमें ‘क्रोध’ आता है । परन्तु जिसके भीतर दूसरोंको सुख पहुँचाने-का, उनका हित करनेका, उनकी सेवा करनेका भाव जाग्रत हो जाता है, उसका गगनस्वाभाविक ही मिट जाता है । रागके मिटनेसे भय और क्रोध भी नहीं रहते । अतः वह राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो जाता है ।

जबतक आंशिकरूपसे उद्वेग, स्पृहा, राग, भय और क्रोध रहते हैं, तबतक वह साधक होता है । इनसे सर्वथा रहित होनेपर वह सिद्ध हो जाता है ।

[वासना, कामना आदि सभी एक रागके ही स्वरूप हैं । केवल वासनाकी तारतम्यता होनेसे उनके अलग-अलग नाम होते हैं; जैसे—अन्तःकरणमें जो छिपा हुआ राग रहता है, उसका नाम ‘वासना’ है । उस वासनाका ही दूसरा नाम ‘आसक्ति’ और ‘प्रियता’ है । मेरेको वस्तु मिल जाय—ऐसी जो इच्छा होती है, उसका नाम ‘कामना’ है । कामना पूरी होनेकी जो सम्भावना है, उसका नाम ‘आशा’ है । कामना पूरी होनेपर भी पदार्थोंके बढ़नेकी तथा पदार्थोंके और मिलनेकी जो इच्छा होती है, उसका नाम ‘लोभ’ है । लोभकी मात्रा अधिक बढ़ जानेका नाम ‘तृष्णा’ है । तात्पर्य है कि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंमें जो खिचाव है, श्रेष्ठ और महत्त्वबुद्धि है, उसीको वासना, कामना आदि नामोंसे कहते हैं ।]

‘दुःस्वेष्वनुद्विग्नमनाः’—दुःखोकी सम्भावना और उनकी प्राप्ति होनेपर भी जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता अर्थात् कर्तव्य-कर्म करते समय कर्म करनेमें बाधा लग जाना, निन्दा-अपमान होना, कर्मका फल प्रतिकूल होना आदि-आदि प्रतिकूलताएँ आनेपर भी उसके मनमें उद्वेग नहीं होता ।

कर्मयोगीके मनमें उद्वेग, हलचल न होनेका कारण यह है कि उसका मुख्य कर्तव्य होता है—दूमरोंके हितके लिये कर्म करना, कर्मोंको सांगोपाग करना, कर्मोंके फलमें कहीं आसक्ति, ममता, कामना न हो जाय—इस विषयमें सावधान रहना । ऐसा करनेसे उसके मनमें एक प्रसन्नता रहती है । उस प्रसन्नताके कारण कितनी ही प्रतिकूलता आनेपर भी उसके मनमें उद्वेग नहीं होता ।

‘सुस्वेषु विगतस्पृहः’—सुखोकी सम्भावना और उनकी प्राप्ति होनेपर भी जिसके भीतर स्पृहा नहीं होती अर्थात् वर्तमानमें कर्मोंका साङ्गोपाङ्ग हो जाना, तात्कालिक आदर और प्रशंसा होना, अनुकूल फल मिल जाना आदि-आदि अनुकूलताएँ आनेपर भी उसके मनमें ‘यह परिस्थिति ऐसी ही बनी रहे; यह परिस्थिति सदा मिलती रहे’—ऐसी स्पृहा नहीं होती । उसके अन्तःकरणमें अनुकूलताका कुछ भी असर नहीं होता ।

‘वीतरागभयक्रोधः’—संसारके पदार्थोंका मनपर जो रंग चढ़ जाता है, उसको ‘राग’ कहते हैं । पदार्थमें राग होनेपर अगर कोई सबल व्यक्ति उन पदार्थोंका नाश करता है, उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कराता है, उनकी प्राप्तिमें विघ्न डालता है, तो मनमें

होनेवाली अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें सम, निर्विकार रहनेकी बात बताते हैं ।]

‘यः सर्वत्रानभिस्नेहः’—जो सब जगह स्नेहरहित है अर्थात् जिसकी अपने कइलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, तथा स्त्री, पुत्र, घर, धन आदि किसीमें भी आसक्ति नहीं रही है, लगाव नहीं रहा है ।

वस्तु आदिके बने रहनेसे मैं बना रहा और उनके बिगड़ जानेसे मैं बिगड़ गया, धनके आनेसे मैं बड़ा हो गया और धनके चले जानेसे मैं मारा गया—यह जो वस्तु आदिमें एकात्मताकी तरह स्नेह है, उसका नाम ‘अभिस्नेह’ है । स्थितप्रज्ञ कर्मयोगीका किसी भी वस्तु आदिमें यह अभिस्नेह बिल्कुल नहीं रहता । बाहरसे वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिका संयोग रहते हुए भी वह भीतरसे सर्वथा निर्बिभक्त रहता है ।

‘तत्तत्प्राप्य शुभाशुभं नाभिनन्दति न द्वेष्टि’—जब उस पुरुषके सामने प्रारब्धवशात् शुभ-अशुभ, शोभनीय-अशोभनीय, अच्छी-मन्दी, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होती है, तो वह अनुकूल परिस्थितिको लेकर अभिनन्दित नहीं होता और प्रतिकूल परिस्थितिको लेकर द्वेष नहीं करता ।

अनुकूल परिस्थितिको लेकर मनमें जो खुशी आती है और वाणीसे भी खुशी प्रकट की जाती है तथा बाहरसे भी उत्सव मनाया जाता है—यह उस परिस्थितिका अभिनन्दन करना है । ऐसे ही प्रतिकूल परिस्थितिको लेकर मनमें जो दुःख होता है, खिन्नता होती है कि

‘स्थितधीर्मुनिरुच्यते’—ऐसे मननशील कर्मयोगीकी बुद्धि स्थिर, अटल हो जाती है । ‘मुनि’ शब्द वाणीपर लागू होता है, इसलिये भगवान् ने ‘किं प्रभाषेत’ के उत्तरमें ‘मुनि’ शब्द कह दिया है । परन्तु वास्तवमें ‘मुनि’ शब्द केवल वाणीपर ही अवलम्बित नहीं है । इसीलिये भगवान् ने सत्रहवें अध्यायमें ‘मौन’ शब्दका प्रयोग मानसिक तपमें किया है, वाणीके तपमें नहीं (१७ । १६) ।

कर्मयोगका प्रकरण होनेसे यहाँ मननशील कर्मयोगीको ‘मुनि’ कहा गया गया है । मननशीलताका तात्पर्य है—सावधानीका मनन, जिससे कि मनमें कोईकामना-आसक्ति न आ जाय । निरन्तर अनासक्त रहना ही सिद्ध कर्मयोगीकी सावधानी है; क्योंकि पहले साधक-अवस्थामें उसकी ऐसी सावधानी रही है (गीता ३ । १९) और इसीसे वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हुआ है ।

श्लोक—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

अर्थ—

सब जगह आसक्तिरहित हुआ जो पुरुष उस-उस शुभ-अशुभ-को प्राप्त करके न तो अभिनन्दित होता है और न द्वेष करता है, उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठित है ।

व्याख्या—

[पूर्वश्लोकमें तो भगवान् ने कर्तव्य-कर्म करते हुए निर्विकार रहनेकी बात बतायी । अब इस श्लोकमें कर्मोंके अनुसार प्राप्त

है, उसमें कभी किञ्चिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता; और प्रकृति तथा प्रकृतिका कार्य शरीरादि स्वाभाविक ही बदलते रहते हैं। तो फर्क कहाँ पड़ता है ? शरीरसे तादात्म्य होनेके कारण ही बुद्धिमें फर्क पड़ता है। जब यह तादात्म्य मिट जाता है, तो बुद्धिमें जो फर्क पड़ता था, वह मिट जाता है और बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है।

दूसरा भाव यह है कि किसीकी बुद्धि कितनी ही तेज क्यों न हो और वह अपनी बुद्धिसे परमात्माके विषयमें कितना ही विचार क्यों न करता हो, पर वह परमात्माको बुद्धिके अन्तर्गत नहीं ला सकता। कारण कि बुद्धि सीमित होती है और परमात्मा असीम-अनन्त हैं। परन्तु उस असीम परमात्मामें, जब बुद्धि लीन हो जाती है तो उस सीमित बुद्धिमें परमात्माके सिवाय दूसरी कोई सत्ता ही नहीं रहती—यही बुद्धिका परमात्मामें प्रतिष्ठित होना है।

कर्मयोगी क्रियाशील होता है। अतः भगवान् ने छुपनवें श्लोकमें क्रियाकी सिद्धि-असिद्धिमें स्पृहा और उद्वेग-रहित होनेकी बात कही और इस श्लोकमें, प्रारब्धके अनुसार अपने-आप अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर अभिनन्दन और द्वेषसे रहित होनेकी बात कहते हैं।

सम्बन्ध—

अब भगवान् आगेके श्लोकमें “स्थितप्रज्ञ कैसे बैठता है ?”—इस तीसरे प्रश्नका उत्तर आरम्भ करते हैं।

यह कैसे और क्यों हो गया ! यह नहीं होता तो अच्छा था; अब यह जल्दी मिट जाय तो ठीक है—ऐसा मनमें भाव होना उस परिस्थितिसे द्वेष करना है । सर्वत्र स्नेहरहित, निर्लिप्त हुआ पुरुष अनुकूलताको लेकर अभिनन्दन नहीं करता और प्रतिकूलताको लेकर द्वेष नहीं करता । तात्पर्य है कि उसको अनुकूल-प्रतिकूल, अच्छे-मन्दे अवसर प्राप्त होने रहने हैं, पर उसके भीतर सदा निर्लिप्तता बनी रहनी है ।

‘तन् तत्’ कहनेका तात्पर्य है कि जिन-जिन अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, वटना, परिस्थिति आदिसे विकार होनेकी सम्भावना रहती है और साधारण लोगोंमें विकार होते हैं, उन-उन अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु आदिके कहीं भी, कभी भी ओर कैसी भी प्राप्त होनेपर उसको अभिनन्दन और द्वेष नहीं होता ।

‘तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता’—उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है, एकरस और एकरूप है । सावक-अवस्थामें उसकी जो व्यवसायात्मिका बुद्धि थी, वह अब परमान्धामें अचल-अटल हो गयी है । उसकी बुद्धिमें यह विवेक पूर्णरूपसे जाग्रत् हो गया है कि संसारमें अच्छे-मन्देके साथ वास्तवमें मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है । कारण कि ये अच्छे-मन्दे अवसर तो बदलनेवाले हैं और मेरा स्वरूप न बदलनेवाला है; अतः बदलनेवालेके साथ न बदलनेवालाका सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

वास्तवमें देखा जाय तो, फर्क न तो स्वरूपमें पड़ता है और न शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिमें । कारण कि अपना जो स्वरूप

‘यदा’ पदके पेटमें ही ‘तदा’ पद आ जाता है, तथापि यहाँ ‘तदा’ पदका प्रयोग न करनेका एक गहरा तात्पर्य है कि इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंसे सर्वथा हट जानेसे स्वतःसिद्ध तत्त्वका जो अनुभव होता है, वह कालके अधीन, कालकी सीमामें नहीं है। कारण कि वह अनुभव किसी क्रिया अथवा त्यागका फल नहीं है। वह अनुभव उत्पन्न होनेवाली वस्तु नहीं है। अतः यहाँ कालवाचक ‘तदा’ पद देनेकी जरूरत नहीं है। इसकी जरूरत तो वहाँ होती है, जहाँ कोई वस्तु किसी वस्तुके अधीन होती है। जैसे. आकाशमें सूर्य रहनेपर भी आँख बन्द कर लेनेसे सूर्य नहीं दीखता और पलक खोलते ही सूर्य दीख जाता है, तो यहाँ सूर्य और पलकमें कार्य-कारणका सम्बन्ध नहीं है अर्थात् पलकके खुलनेसे सूर्य पैदा नहीं हुआ है। सूर्य तो पहलेसे ज्यो-का-न्यो ही है। पलक बंद करनेसे पहले भी सूर्य वंसा ही है और पलक बंद करनेपर भी सूर्य वैसा ही है। केवल पलक बन्द करनेसे हमें उसका अनुभव नहीं हुआ था। ऐसे ही यहाँ इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेसे स्वतःसिद्ध परमात्मतत्त्वका जो अनुभव हुआ है, वह अनुभव मनसहित इन्द्रियोंका विषय नहीं है। तात्पर्य है कि स्वतःसिद्ध तत्त्व भोगों-(विषयों-) के साथ सम्बन्ध रखते हुए और भोगोंको भोगते हुए भी वैसा ही है। परन्तु भोगोंके साथ सम्बन्धरूप परदा रहनेसे उसका अनुभव नहीं होता और यह परदा हटते ही उसका अनुभव हो जाता है।

श्लोक—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

अर्थ—

जिस तरह कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे समेट लेता है, ऐसे ही जिस कालमें यह कर्मयोगी इन्द्रियोंके विषयोसे इन्द्रियोको सब प्रकारसे समेट लेता (हटा लेता) है, तो उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है ।

व्याख्या—

‘यदा संहरते’.....‘प्रज्ञा प्रतिष्ठिता’—यहाँ कछुआ दृष्टान्त देनेका तात्पर्य है कि जैसे कछुआ चढता है तो उसके छः अङ्ग दीखते हैं—चार पैर, एक पूँछ और एक [मस्तक । परन्तु जब वह अपने अङ्गोंको छिपा लेता है, तो केवल उसकी पीठ ही दिखायी देती है । ऐसे ही स्थितप्रज्ञ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन—इन छहोंको अपने-अपने विषयसे हटा लेता है । अगर उसका इन्द्रियो आदिके साथ किञ्चिन्मात्र भी मानसिक सम्बन्ध बना रहता है, तो वह स्थितप्रज्ञ नहीं होता ।

यहाँ ‘संहरते’ क्रिया देनेका मतलब यह हुआ कि वह स्थितप्रज्ञ विषयोसे इन्द्रियोंका उपसंहार कर लेता है अर्थात् वह मनसे भी विषयोंका चिन्तन नहीं करता ।

इस श्लोकमें ‘यश’ पद तो दिया है, पर ‘तदा’ पद नहीं दिया है । यद्यपि ‘यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः’के अनुसार जहाँ ‘यदा’ आता है, वहाँ ‘तदा’ का अध्याहार कर लिया जाता है अर्थात्

जायगी, तो मैं पदार्थोंका सेवन करूँगा । इस तरह उसके भीतर रसबुद्धि रहती है । ऐसे ही इन्द्रियोको विषयोंसे हटानेपर विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर साधकके भीतर विषयोंमें जो रसबुद्धि, सुखबुद्धि है, वह जल्दी निवृत्त नहीं होती ।

जिनका स्वाभाविक ही विषयोंमें राग नहीं है और जो तीव्र वैराग्यवान् हैं, उन साधकोंकी रसबुद्धि साधनावस्थामें ही निवृत्त हो जाती है । परन्तु जो तीव्र वैराग्यके बिना ही विचार-पूर्वक साधनमें लगे हुए हैं, उन्हीं साधकोंके लिये यह कहा गया है कि विषयोंका त्याग कर देनेपर भी उनकी रसबुद्धि निवृत्त नहीं होती ।

‘रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निर्वर्तते’—इस स्थितप्रज्ञकी रसबुद्धि परमात्माका अनुभव हो जानेपर निवृत्त हो जाती है । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि रसबुद्धि निवृत्त होनेसे वह स्थितप्रज्ञ हो जाता है, प्रत्युत यह तात्पर्य है कि स्थितप्रज्ञ होनेसे रसबुद्धि नहीं रहती ।

‘रसोऽप्यस्य’ पदसे यह तात्पर्य निकलता है कि रसबुद्धि साधककी अहंतामें अर्थात् ‘मै’पनमें रहती है । यही रसबुद्धि स्थूलरूपसे रागका रूप धारण कर लेती है । अतः साधकको चाहिये कि वह अपनी अहंतासे ही रसको निकाल दे कि ‘मैं तो निष्काम हूँ; राग करना, कामना करना मेरा काम नहीं है ।’ इस प्रकार निष्कामभाव आ जानेसे अथवा निष्काम होनेका उद्देश्य होनेसे रसबुद्धि नहीं रहती और परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेसे तो रसकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है ।

सम्बन्ध—

केवल इन्द्रियोंका विषयोंसे हट जाना ही स्थितप्रज्ञका लक्षण नहीं है—इसको बतानेके लिये आगेका श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

अर्थ—

निराहारी (इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेवाले) मनुष्यके भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रस निवृत्त नहीं होता । परन्तु इस स्थितप्रज्ञ पुरुषका तो रस भी परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेसे निवृत्त हो जाता है ।

व्याख्या—

‘विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः रसवर्जम्’—मनुष्य निराहार दो तरहसे होता है—(१) अपनी इच्छासे भोजनका त्याग कर देना अथवा बीमारी आनेसे भोजनका त्याग हो जाना और (२) सम्पूर्ण विषयोंका त्याग करके एकान्तमें बैठना अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा लेना ।

यहाँ इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेवाले साधकके लिये ही ‘निराहारस्य’ पद आया है ।

रोगीके मनमें यह रहता है कि क्या करूँ, शरीरमें पदार्थोंका सेवन करनेकी सामर्थ्य नहीं है, इसमें मेरी परवशता है । परन्तु जब मैं ठीक हो जाऊँगा, शरीरमें शक्ति आ

सार-असारको जानता है और कौन-कौनसे कर्म करनेसे उनका क्या-क्या परिणाम होता है—इसको भी जाननेवाला है, ऐसे विद्वान् पुरुषके लिये यहाँ 'यततो ह्यपि पुरुषस्य विपश्चितः' पद आये हैं। प्रयत्न करनेवाले ऐसे विद्वान् पुरुषकी भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ उसके मनको बलपूर्वक हर लेती हैं, विषयोंकी तरफ खींच लेती हैं अर्थात् वह पुरुष विषयोंकी तरफ खिंच जाता है, आकृष्ट हो जाता है। इसका कारण यह है कि जबतक बुद्धि सर्वथा परमात्मतत्त्वमें प्रतिष्ठित (स्थित) नहीं होती, बुद्धिमें संसारकी यत्किञ्चित् सत्ता रहती है, विषयेन्द्रिय-सम्बन्धसे सुख होता है, भोगे हुए भोगोंके संस्कार रहते हैं, तबतक साधन-परायण बुद्धिमान् विवेकी पुरुषकी भी इन्द्रियाँ सर्वथा वशमें नहीं होतीं। इन्द्रियोंके विषय सामने आनेपर भोगे हुए भोगोंके संस्कारोंके कारण इन्द्रियाँ मन-बुद्धिको जबर्दस्ती विषयोंकी तरफ खींच ले जाती हैं। ऐसे अनेक ऋषियोंके उदाहरण भी आते हैं, जो विषयोंके सामने आनेपर विचलित हो गये। अतः साधकको अपनी इन्द्रियोंपर कभी भी 'मेरी इन्द्रियाँ वशमें हैं'—ऐसा विश्वास नहीं करना चाहिये* और कभी भी यह अभिमान नहीं करना चाहिये कि 'मैं जितेन्द्रिय हो गया हूँ।'।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें यह बताया कि यत्न करते हुए विद्वान्की भी इन्द्रियाँ उसके मनको हर लेती हैं, जिससे उसकी बुद्धि परमात्मामें

* मात्रा स्वप्ता दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।

बल्वानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

सम्बन्ध—

रसकी निवृत्ति न हो तो क्या आपत्ति है ? इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

अर्थ—

क्योंकि हे कुन्तीनन्दन ! (रसबुद्धि रहनेसे) यत्न करते हुए विद्वान् पुरुषकी भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ उसके मनको बलपूर्वक हर लेती हैं ।

व्याख्या—

‘यततो ह्यपि.....प्रसभं मनः’*—जो स्वयं यत्न करता है; साधन करता है; हरेक कामको विवेकपूर्वक करता है; आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करता है; दूसरोंका हित हो, दूसरोंको सुख पहुँचे, दूसरोंका कल्याण हो—ऐसा भाव रखता है और वैसी क्रिया भी करता है; जो स्वयं कर्तव्य-अकर्तव्य

* यहाँ भगवान् ने इन्द्रियोंको ‘प्रमाथीनि’ कहा है और छठे अध्यायके चौतीसवें श्लोकमें अर्जुनने मनको ‘प्रमाथि’ कहा है । अतः इन्द्रियाँ और मन दोनों ही प्रमथनशील हैं । ऐसे ही यहाँ बताया कि इन्द्रियाँ मनको हर लेती हैं और आगे इसी अध्यायके सड़सठवें श्लोकमें बताया है कि मन बुद्धिको हर लेता है अर्थात् यहाँ तो इन्द्रियोंकी प्रबलता बतायी और वहाँ मनकी प्रबलता बतायी । तात्पर्य यह निकला कि साधकको इन दोनोंका ही संयमन करना चाहिये, तभी वह संयमी बन सकता है ।

यहाँ 'मत्परः' कहनेका मतलब है कि मानवशरीरका मिटना, साधनमें रुचि होना, साधनमें लगना, साधन सिद्ध होना—ये सभी भगवान्की कृपापर ही निर्भर हैं । परन्तु अभिमानके कारण मनुष्यका इस तरफ ध्यान कम जाता है । कर्मयोगीमें तो करनेकी ही प्रधानता रहती है और उसमें वह अपना ही पुरुषार्थ मानता रहता है । अतः भगवान् विशेष कृपा करके कर्मयोगी साधकके लिये भी अपने परायण होनेकी बात कह रहे हैं* ।

भगवान्के परायण होनेका तात्पर्य है कि केवल भगवान्में ही महत्त्वबुद्धि हो कि भगवान् ही मेरे हैं और मैं भगवान्का हूँ, संसार मेरा नहीं है और मैं संसारका नहीं हूँ । कारण कि भगवान् ही हरदम मेरे साथ रहते हैं, संसार मेरे साथ रहता ही नहीं । इस प्रकार साधकका 'मैं'-पन केवल भगवान्में ही लगा रहे ।

* यद्यपि यहाँ कर्मयोगका प्रकरण है, तथापि भगवान्ने यहाँ अपने परायण होनेकी बात कह दी । इतना ही नहीं, जहाँ ज्ञानके साधनोंका वर्णन है, वहाँ भगवान्ने अपनी अव्यभिचारिणी भक्तिको भी साधन बताया (१३ । १०), ज्ञानके प्रकरणमें 'मद्भक्तः' कहा (१३ । १८) और अपनी अव्यभिचारिणी भक्तिको गुणातीत होनेका उपाय बताया (१४ । २६) । इस प्रकार भगवान्ने ज्ञानमें भक्तिका मिश्रण बताया । ऐसे ही तीसरे अध्यायके तीसवें, पाँचवें अध्यायके दसवें और अठारहवें अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें भगवान्ने कर्ममें भक्तिका मिश्रण बताया । यद्यपि ये सभी श्लोक भक्तिके माने गये हैं तथापि इनको भक्तिमिभित ज्ञानयोग और भक्तिमिश्रित कर्मयोग भी कह देते हैं । भक्ति ज्ञानके साथ भी मिश्रित हो जाती है और कर्मके साथ भी मिश्रित हो जाती है और स्वयं स्वतन्त्र भी रह जाती है । कर्म और ज्ञानके साथ मिश्रित होकर भक्ति इन दोनों निष्ठाओंको श्रेष्ठ बना देती है ।

प्रतिष्ठित नहीं होती । अतः इन्द्रियोंको वशमें कैसे किया जाय—
इसका उपाय आगेके श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

अर्थ—

कर्मयोगी साधक उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण होकर बैठे; क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है ।

व्याख्या—

‘तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः’—जो बल-पूर्वक मनका हरण करनेवाली इन्द्रियाँ हैं, उन सबको वशमें करके अर्थात् सजगतापूर्वक उनको कभी भी विषयोंमें विचलित न होने देकर स्वयं मेरे परायण हो जाय । तात्पर्य यह हुआ कि जब साधक इन्द्रियोंको वशमें करता है, तो उसमें अपने बलका अभिमान रहता है कि मैंने इन्द्रियोंको अपने वशमें किया है । यह अभिमान साधकको उन्नत नहीं होने देता और साधकको भगवान्से विमुख करा देता है । अतः साधक इन्द्रियोंका संयमन करनेमें कभी अपने बलका अभिमान न करे, उसमें अपने उद्योगके कारण न माने, प्रत्युत केवल भगवत्कृपाको ही कारण माने कि मेरेको इन्द्रियोंके संयमनमें जो सफलता मिली है, वह केवल भगवान्की कृपासे ही मिली है । इस प्रकार केवल भगवान्के परायण होनेसे उसका साधन सिद्ध हो जाता है ।

श्लोक—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

अर्थ—

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति पैदा हो जाती है । आसक्तिसे कामना पैदा होती है । कामनासे क्रोध पैदा होता है । क्रोध होनेपर सम्मोह (मूढ़भाव) हो जाता है । सम्मोहसे स्मृति भ्रष्ट हो जाती है । स्मृति भ्रष्ट होनेपर बुद्धिका नाश हो जाता है । बुद्धिका नाश होनेपर मनुष्यका पतन हो जाता है ।

व्याख्या—

‘ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते’—भगवान्के परायण न होनेसे, भगवान्का चिन्तन न होनेसे विषयोंका ही चिन्तन होता है । कारण कि जीवके एक तरफ परमात्मा है और एक तरफ संसार है । जब वह परमात्माका आश्रय छोड़ देता है तो वह संसारका आश्रय लेकर संसारका ही चिन्तन करता है; क्योंकि संसारके सिवाय चिन्तनका कोई दूसरा विषय रहता ही नहीं । इस तरह चिन्तन करते-करते मनुष्यकी उन विषयोंमें आसक्ति, राग, प्रियता पैदा हो जाती है । आसक्ति पैदा होनेसे मनुष्य उन विषयोंका सेवन करता है । विषयोंका सेवन चाहे मानसिक हो; चाहे शारीरिक हो, उससे जो सुख होता है, उससे विषयोंमें प्रियता पैदा होती है । प्रियतासे उस विषयका बार-बार चिन्तन होने लगता है । अब

कर्मयोगका प्रकरण होनेसे यहाँ भगवान्‌को कर्मयोगके अनुसार उपाय बताना चाहिये था । परन्तु गीताका अध्ययन करनेसे ऐसा मालूम होता है कि साधनकी सफलतामें केवल भगवत्परायणता ही कारण है । अतः गीतामें भगवत्परायणताकी बहुत महिमा गायी गयी है; जैसे—जितने भी योगी हैं, उन सब योगियोंमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक, मेरे परायण होकर मेरा भजन करनेवाला श्रेष्ठ है (६।४७) आदि-आदि । गीताका उपक्रम और उपसंहार भी शरणागतिमें ही हुआ है ।

‘वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता’—पहले उनसठवें श्लोकमें भगवान्‌ने यह कहा कि इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर भी स्थितप्रज्ञता नहीं होती और इस श्लोकमें कहते हैं कि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, वह स्थितप्रज्ञ है । इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ (२।५९) में इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर भी भीतरमें रसबुद्धि पड़ी है; अतः इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं । परन्तु यहाँ स्थितप्रज्ञ पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें हैं और उसकी रसबुद्धि निवृत्त हो गयी है । इसलिये यह नियम नहीं है कि इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर वह स्थितप्रज्ञ ही हो जायगा; क्योंकि उसमें रसबुद्धि रह सकती है । परन्तु यह नियम है स्थितप्रज्ञ होनेसे इन्द्रियाँ वशमें हो ही जायँगी ।

सम्बन्ध—

भगवान्‌के परायण होनेसे तो इन्द्रियाँ वशमें होकर रसबुद्धि निवृत्त हो ही जायगी, पर भगवान्‌के परायण न होनेसे क्या होता है—इसपर आगेके दो श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

अर्थ—

विषयोका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति पैदा हो जाती है । आसक्तिसे कामना पैदा होती है । कामनासे क्रोध पैदा होता है । क्रोध होनेपर सम्मोह (मूढ़भाव) हो जाता है । सम्मोहसे स्मृति भ्रष्ट हो जाती है । स्मृति भ्रष्ट होनेपर बुद्धिका नाश हो जाता है । बुद्धिका नाश होनेपर मनुष्यका पतन हो जाता है ।

व्याख्या—

‘ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते’—भगवान्के परायण न होनेसे, भगवान्का चिन्तन न होनेसे विषयोंका ही चिन्तन होता है । कारण कि जीवके एक तरफ परमात्मा है और एक तरफ संसार है । जब वह परमात्माका आश्रय छोड़ देता है तो वह संसारका आश्रय लेकर संसारका ही चिन्तन करता है; क्योंकि संसारके सिवाय चिन्तनका कोई दूसरा विषय रहता ही नहीं । इस तरह चिन्तन करते-करते मनुष्यकी उन विषयोंमें आसक्ति, राग, प्रियता पैदा हो जाती है । आसक्ति पैदा होनेसे मनुष्य उन विषयोंका सेवन करता है । विषयोंका सेवन चाहे मानसिक हो; चाहे शारीरिक हो, उससे जो सुख होता है, उससे विषयोंमें प्रियता पैदा होती है । प्रियतासे उस विषयका बार-बार चिन्तन होने लगता है । अब

उस विषयका सेवन करे, चाहे न करे, पर विषयोंमें राग पैदा हो ही जाता है—यह नियम है ।

‘सङ्गात्संजायते कामः’—विषयोंमें राग पैदा होनेपर उन विषयोंको (भोगोंको) प्राप्त करनेकी कामना पैदा हो जाती है कि वे भोग, वस्तुएँ मेरेको मिलें ।

‘कामात्क्रोधोऽभिजायते’—कामनाके अनुकूल पदार्थोंके मिलते रहनेसे ‘लोभ’ पैदा हो जाता है और कामनापूर्तिकी सम्भावना हो रही है और उसमें कोई बाधा देता है, तो उसपर ‘क्रोध’ आ जाता है । अगर बाधा देनेवाला हमारेसे सबल होता है, तो उससे ‘भय’ होता है ।

कामना एक ऐसी चीज है, जिसमें बाधा पड़नेपर क्रोध पैदा हो ही जाता है । वर्ण, आश्रम, गुण, योग्यता आदिको लेकर अपनेमें जो अच्छाईका अभिमान रहता है, उस अभिमानमें भी अपने आदर, सम्मान आदिकी कामना रहती है; उस कामनामें किसी व्यक्तिके द्वारा बाधा पड़नेपर भी क्रोध पैदा हो जाता है ।

‘कामना’ रजोगुणी वृत्ति है, ‘सम्मोह’ तमोगुणी वृत्ति है और ‘क्रोध’ रजोगुण तथा तमोगुणके बीचकी वृत्ति है ।

कहीं भी किसी भी बातको लेकर क्रोध आता है, तो उसके मूलमें कहीं-न-कहीं राग अवश्य होता है । जैसे, नीति-न्यायसे विरुद्ध काम करनेवालेको देखकर क्रोध आता है, तो नीतिमें राग है । अपमान-तिरस्कार करनेवालेपर क्रोध आता है, तो मान-सत्कारमें राग है । निन्दा करनेवालेपर क्रोध आता है, तो प्रशंसा में राग है ।

दोषारोपण करनेवालेपर क्रोध आता है, तो निर्दोषताके अभिमानमें राग है; आदि-आदि ।

‘क्रोधाद्भवति सम्मोहः’—क्रोधसे सम्मोह होता है अर्थात् मूढ़ता छा जाती है । वास्तवमें देखा जाय तो काम, क्रोध, लोभ और ममता—इन चारोंसे ही सम्मोह होता है; जैसे—

(१) कामसे जो सम्मोह होता है, उसमें विवेकशक्ति ढक जानेसे मनुष्य कामके वशीभूत होकर न करनेलायक कार्य भी कर बैठता है ।

(२) क्रोधसे जो सम्मोह होता है, उसमें मनुष्य अपने मित्रों तथा पूज्यजनोको भी उल्टी-सीधी बातें कह बैठता है और न करनेलायक बर्ताव भी कर बैठता है ।

(३) लोभसे जो सम्मोह होता है; उसमें मनुष्यको सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म आदिका विचार नहीं रहता और वह कपट करके लोगोंको ठग लेता है ।

(४) ममतासे जो सम्मोह होता है; उसमें समभाव नहीं रहता, प्रयुत पक्षपात पैदा हो जाता है ।

जब काम, क्रोध, लोभ और ममता—इन चारोंसे ही सम्मोह होता है, तो भगवान् ने यहाँ केवल क्रोधका ही नाम क्यों लिया ? इसमें गहराईसे देखा जाय तो काम, लोभ और ममता—इनमें तो अपने सुखभोग और स्वार्थकी वृत्ति जाग्रत् रहती है, पर क्रोधमें दूसरोका अनिष्ट करनेकी वृत्ति जाग्रत् रहती है । अतः क्रोधसे जो सम्मोह होता है, वह काम, लोभ और ममतासे पैदा हुए सम्मोहसे

भी भयंकर होता है । इस दृष्टिसे भगवान् ने यहाँ केवल क्रोधसे ही सम्मोह बताया है ।

‘संमोहात्स्मृतिविभ्रमः’—मूढ़ता छा जानेसे स्मृति नष्ट हो जाती है अर्थात् शास्त्रोंसे, सद्बिचारोंसे जो निश्चय किया था कि अपनेको ऐसा काम करना है, ऐसा साधन करना है, अपना उद्धार करना है, उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है, उसकी याद नहीं रहती ।

‘स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशः’—स्मृति नष्ट होनेपर बुद्धिमें प्रकट होनेवाला विवेक लुप्त हो जाता है अर्थात् मनुष्यमें नया विचार करनेकी शक्ति नहीं रहती ।

‘बुद्धिनाशात्प्रणश्यति’—विवेक लुप्त हो जानेसे मनुष्य अपनी स्थितिसे गिर जाता है । अतः इस पतनसे बचनेके लिये सभी साधकोंको भगवान् के परायण होनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है ।

यहाँ विषयोंका ध्यान करनेमात्रसे राग, रागसे काम, कामसे क्रोध, क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिनाश, स्मृतिनाशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे पतन—यह जो क्रम बताया है, इसका विवेचन करनेमें तो देरी लगती है, पर इन सभी वृत्तियोंके पैदा होनेमें और उससे मनुष्यका पतन होनेमें देरी नहीं लगती । बिजलीके करेंटकी तरह ये सभी वृत्तियाँ तत्काल पैदा होकर मनुष्यका पतन करा देती हैं ।

सम्बन्ध—

अब भगवान् आगेके श्लोकमें ‘स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है ?’—इस चौथे प्रश्नका उत्तर देते हैं ।

श्लोक—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अर्थ—

वशीभूत अन्तःकरणवाला कर्मयोगी साधक राग-द्वेषसे रहित अपने वशीभूत की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त हो जाता है । प्रसन्नता प्राप्त होनेपर साधकके सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है और ऐसे प्रसन्नचित्तवाले साधककी बुद्धि निःसन्देह बहुत जल्दी परमात्मामें स्थिर हो जाती है ।

व्याख्या—

‘तु’—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्ने कहा कि आसक्ति रहते हुए विषयोंका चिन्तन करनेमात्रसे पतन हो जाता है और यहाँ कहते हैं कि आसक्ति न रहनेपर विषयोंका सेवन करनेसे उत्थान हो जाता है । वहाँ तो बुद्धिका नाश बताया और यहाँ बुद्धिका परमात्मामें स्थित होना बताया । इस प्रकार पहले कहे गये विषयसे आगेके विषयका अन्तर बतानेके लिये यहाँ ‘तु’ पद आया है ।

‘विधेयात्मा’—साधकका अन्तःकरण अपने वशमें रहना चाहिये, अन्तःकरणको वशीभूत किये बिना कर्मयोगकी सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत कर्म करते हुए विषयोंमें राग होनेकी और पतन

होनेकी सम्भावना रहती है । वास्तवमें देखा जाय तो अन्तःकरणको अपने वशमें रखना हरेक साधकके लिये आवश्यक है । कर्मयोगीके लिये तो इसकी विशेष आवश्यकता है ।

‘आत्मवश्यैः रागद्वेषवियुक्तैः इन्द्रियैः’—जैसे, ‘विधेयात्मा’ पद अन्तःकरणको वशमें करनेके अर्थमें आया है, ऐसे ही ‘आत्मवश्यैः’ पद इन्द्रियोको वशमें करनेके अर्थमें आया है । तात्पर्य है कि व्यवहार करते समय इन्द्रियाँ अपने वशीभूत होनी चाहिये और इन्द्रियाँ वशीभूत होनेके लिये इन्द्रियोंका राग-द्वेषरहित होना जरूरी है । अतः इन्द्रियोंसे किसी विषयका ग्रहण रागपूर्वक न हो और किसी विषयका त्याग द्वेषपूर्वक न हो । कारण कि विषयोंके ग्रहण और त्यागका इतना महत्त्व नहीं है, जितना महत्त्व इन्द्रियोंमें राग और द्वेष न होने देनेका है । इसीलिये तीसरे अध्यायके चौतीसवें श्लोकमें भगवान्ने साधकके लिये सावधानी बतायी है कि ‘प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष रहते हैं । साधक इनके वशीभूत न हो; क्योंकि ये दोनों ही साधकके शत्रु हैं’ । पाँचवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि ‘जो साधक राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे मुक्त हो जाता है, वह सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है ।’

‘विषयान् चरन्’—जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है और जिसकी इन्द्रियाँ राग-द्वेषसे रहित तथा अपने वशमें की हुई हैं, ऐसा साधक इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन अर्थात् सब प्रकारका व्यवहार तो करता है, पर विषयोंका भोग नहीं करता । भोगबुद्धिसे

‘किया हुआ विषय-सेवन ही पतनका कारण है । इस भोगबुद्धिका निषेध करनेके लिये ही यहाँ ‘विधेयात्मा’, ‘आत्मवश्यैः’ आदि पद आये हैं ।

‘प्रसादमधिगच्छति’—ऐसा साधक अन्तःकरणकी प्रसन्नता—स्वच्छताको प्राप्त होता है । राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन करनेसे जो प्रसन्नता होती है, अगर उसका सङ्ग न किया जाय, भोग न किया जाय, तो वह प्रसन्नता परमात्माकी प्राप्ति करा देती है ।

‘प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते’—चित्तकी प्रसन्नता (स्वच्छता) प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण दुःखोंकी हानि हो जाती है, नाश हो जाता है अर्थात् कोई भी दुःख नहीं रहता । कारण कि राग होनेसे ही चित्तमें खिन्नता होती है । खिन्नता होते ही कामना पैदा हो जाती है और कामनासे ही सब दुःख पैदा होते हैं । परन्तु जब राग मिट जाता है, तो चित्तमें प्रसन्नता होती है । उस प्रसन्नतासे सम्पूर्ण दुःख मिट जाते हैं ।

जितने भी दुःख होते हैं, वे सब-के-सब प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर-संसारके सम्बन्धसे ही होते हैं और शरीर-संसारसे सम्बन्ध होता है सुखकी लिप्सासे । सुखकी लिप्सा होती है खिन्नतासे । परन्तु जब प्रसन्नता होती है, तो खिन्नता मिट जाती है । खिन्नता मिटनेपर सुखकी लिप्सा नहीं रहती । सुखकी लिप्सा न रहनेसे शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध नहीं रहता और सम्बन्ध न रहनेसे सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है—‘सर्वदुःखानां

हानिः' । तात्पर्य है कि प्रसन्नतासे दो बातें होती हैं—संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्मामें बुद्धिकी स्थिरता । यही बात भगवान् ने पहले तिरपनवें श्लोकमें 'निश्चला' और 'अचला' पदोंसे कही है कि उसकी बुद्धि संसारमें निश्चल और परमात्मामें अचल हो जाती है ।

यहाँ 'सर्वदुःखानां हानिः' का तात्पर्य यह नहीं है कि उसके सामने दुःखदायी परिस्थिति आयेगी ही नहीं, प्रत्युत उसका तात्पर्य यह है कि कर्मोंके अनुसार उसके सामने दुःखदायी घटना, परिस्थिति आ सकती है; परन्तु उसके अन्तःकरणमें दुःख, सन्ताप, हळचल आदि विकृति नहीं हो सकती ।

'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते'—प्रसन्न (खुश) चित्तवालेकी बुद्धि बहुत जल्दी परमात्मामें स्थिर हो जाती है अर्थात् साधक स्वयं परमात्मामें स्थिर हो जाता है, उसकी बुद्धिमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं रहता ।

मार्मिक बात

भगवद्विषयक प्रसन्नता हो, चाहे व्याकुलता हो—इन दोनोंमेंसे कोई एक भी अधिक बढ़ जाती है, तो वह शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करा देती है । जैसे, भगवान् के पास जाती हुई गोपियोंको माता-पिता, भाई, पति आदिने रोक दिया, मकानमें बंद कर दिया, तो उन गोपियोंमें भगवान् से मिलनेकी जो व्याकुलता हुई, उससे उनके पाप नष्ट हो गये और भगवान् का चिन्तन करनेसे जो प्रसन्नता हुई; उससे उनके पुण्य नष्ट हो गये ।

इस प्रकार पाप-पुण्यसे रहित होकर वे शरीरको वहीं छोड़कर सबसे पहले भगवान्‌से जा मिलें* । परन्तु सांसारिक विषयोंको लेकर जो प्रसन्नता और खिन्नता होती है, उन दोनोंमें ही भोगोंके संस्कार दृढ़ होते हैं अर्थात् संसारका बन्धन दृढ़ होता है । इसके उदाहरण संसारमात्रके सामान्य प्राणी हैं, जो प्रसन्नता और खिन्नताको लेकर संसारमें फँसे हुए हैं ।

प्रसन्नता और व्याकुलता-(खिन्नता-) में अन्तःकरण द्रवित हो जाता है । जैसे द्रवित मोममें रंग डालनेसे वह स्थायी हो जाता है, ऐसे ही अन्तःकरण द्रवित होनेपर उसमें भगवत्सम्बन्धी अथवा सांसारिक—जो भी भाव होते हैं, वे स्थायी हो जाते हैं । स्थायी होनेपर वे भाव उत्थान अथवा पतन करनेवाले होते हैं । अतः साधकके लिये उचित है कि संसारकी प्रिय-से-प्रिय वस्तु मिलनेपर भी प्रसन्न न हो और अप्रिय-से-अप्रिय वस्तु मिलनेपर भी उससे उद्विग्न न हो ।

सम्बन्ध—

पीछेके दो श्लोकोंमें जो बात कही है, उसीको आगेके दो श्लोकोंमें व्यतिरेक रीतिसे पुष्ट करते हैं ।

* अन्तर्गृह्यताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।

कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मौलितलोचनाः ॥

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।

ध्यानप्राप्तान्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥

(श्रीमद्भा० १० । २९ । ९-१०)

श्लोक—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—

जिसके मन-इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, ऐसे मनुष्यकी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती । व्यवसायात्मिका बुद्धि न होनेसे उसकी कर्तव्य-परायणताकी भावना नहीं होती । ऐसी भावना न होनेसे उसको शान्ति नहीं मिलती । फिर शान्तिरहित पुरुषको सुख कैसे मिल सकता है ?

व्याख्या—

[यहाँ कर्मयोगका विषय है । कर्मयोगमें मन और इन्द्रियोंका संयम करना मुख्य होता है । विवेकपूर्वक संयम किये बिना कामना नष्ट नहीं होती । कामनाके नष्ट हुए बिना बुद्धिकी स्थिरता नहीं होती । अतः कर्मयोगी साधकको पहले मन और इन्द्रियोंका संयम करना चाहिये । परन्तु जिसका मन और इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, उसकी बात इस श्लोकमें कहते हैं ।]

‘नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य’—जिसका मन और इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, ऐसे अयुक्त (असंयमी) पुरुषकी ‘मेरेको केवल परमात्म-प्राप्ति ही करनी है’—ऐसी एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती* ।

* अहंता (‘मैं’-पन) का परिवर्तन हुए बिना इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं और इन्द्रियोंको वशमें किये बिना एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती । अगर अहंताका परिवर्तन हो जाय कि ‘मैं’ साधक हूँ और साधन करना ही मेरा काम है तो मन-इन्द्रियाँ अपने-आप वशमें हो जाती है, उनको वशमें करना नहीं पड़ता ।

कारण कि मन और इन्द्रियाँ संयमित न होनेसे वह उत्पत्ति-विनाशशील सांसारिक भोगों और संप्रहमें ही बगा रहता है। वह कभी माने चाहता है, कभी सुख-आराम चाहता है, कभी धन चाहता है, कभी भोग चाहता है—इस प्रकार उसके भीतर अनेक तरहकी चाहना होती रहती है। इसलिये उसकी बुद्धि एक निश्चयवाली नहीं होती।

‘न चायुक्तस्य भावना’—जिसकी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती, उसकी ‘मेरेको तो केवल अपने कर्तव्यका पाळन करना है और फलकी इच्छा, कामना, आसक्ति आदिका त्याग करना है’—ऐसी भावना नहीं होती। ऐसी भावना न होनेमें कारण है—अपना ध्येय स्थिर न होना।

‘न चाभावयतः शान्तिः’—जो अपने कर्तव्यके परायण नहीं रहता, उसको शान्ति नहीं मिल सकती। जैसे साधु, शिक्षक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि अपने-अपने कर्तव्यमें तत्पर नहीं रहते तो उनको शान्ति नहीं मिलती। कारण कि अपने कर्तव्यके पाळनमें दृढ़ता न रहनेसे ही अशान्ति पैदा होती है।

‘अशान्तस्य कुतः सुखम्’—जो अशान्त है, वह सुखी कैसे हो सकता है ? कारण कि उसके हृदयमें हरदम हलचल होती रहती है। बाहरसे उसको कितने ही अनुकूल भोग आदि मिल जायँ, तो भी उसके हृदयकी हलचल नहीं मिट सकती अर्थात् वह सुखी नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—

अयुक्त पुरुषकी बुद्धि एक निश्चयवाली क्यों नहीं होती—
इसका कारण आगेके श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमित्राभसि ॥ ६७ ॥

अर्थ—

क्योंकि अपने-अपने विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे एक ही इन्द्रिय जिस मनको अपना अनुगामी बना लेती है, वह अकेला मन जलमें नौकाको वायुको तरह बुद्धिको हर लेता है ।

व्याख्या—

[मनुष्यको यह जन्म केवल परमात्मगतिके लिये ही मिला है । अतः मेरेको तो केवल परमात्मप्राप्ति ही करनी है, चाहे जो हो जाय—ऐसा अपना ध्येय दृढ़ होना चाहिये । ध्येय दृढ़ होनेसे साधककी अहंतामेंसे भोगोंका महत्त्व हट जाता है । महत्त्व हट जानेसे व्यवसायात्मिका बुद्धि दृढ़ हो जाती है । परन्तु जबतक व्यवसायात्मिका बुद्धि दृढ़ नहीं होती, तबतक उसकी क्या दशा होती है— इसका वर्णन यहाँ कर रहे हैं ।]

‘इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते’*—जब साधक कार्यक्षेत्रमें सब तरहका व्यवहार करता है, तो इन्द्रियोंके सामने अपने-

* इस श्लोकके पूर्वार्धमें कर्मकर्तृ-प्रयोग करनेके पहले कर्तृवाच्य था अर्थात् ‘चरताम् इन्द्रियाणाम् इन्द्रियम् यत् मनः अनुविदधाति’ ऐसा वाक्य था । इस वाक्यमें इन्द्रिय कर्ता थी और मन कर्म था । परन्तु जब वाक्यको

अपने विषय आ ही जाते हैं । उनमेंसे जिस इन्द्रियका अपने विषय-में राग हो जाता है, वह इन्द्रिय मनको अपना अनुगामी बना लेती है, मनको अपने साथ कर लेती है । अतः मन उस विषयका सुखभोग करने लग जाता है अर्थात् मनमें सुखबुद्धि, भोगबुद्धि पैदा हो जाती है, मनमें उस विषयका रंग चढ़ जाता है, उसका महत्त्व बैठ जाता है । जैसे, भोजन करते समय किसी पदार्थका स्वाद आता है, तो रसनेन्द्रिय उसमें आसक्त हो जाती है । आसक्त होनेपर रसनेन्द्रिय मनको भी खींच लेती है, तो मन उस स्वादमें प्रसन्न हो जाता है, राजी हो जाता है ।

‘तदस्य हरति प्रज्ञाम्’—जब मनमें विषयका महत्त्व बैठ जाता है, तो फिर वह अकेला मन ही साधककी बुद्धिको हर लेता

सरल बनानेके लिये ‘कर्मकर्तृ’ का प्रयोग किया जाता है अर्थात् कर्मको कर्ता बनाया जाता है, तो वहाँ उस कर्ताको कर्मवद्भाव किया जाता है । इससे कर्मको लेकर जो कार्य होते हैं, वे सभी कार्य कर्ताको लेकर हो जाते हैं । यहाँ मनकी मुख्यता दिखानेके लिये अर्थात् इन्द्रियोंके बिना मन ही सब कुछ करता है—यह दिखानेके लिये कर्मरूप मनको कर्ता बना दिया गया है । मन प्रथम पुरुष होनेसे प्रथम पुरुष ‘अनुविधीयते’ क्रियाका प्रयोग हुआ है । अब जो कर्तृवाच्यका कर्ता इन्द्रिय थी, उसकी आवश्यकता न होनेसे वह कर्ता हट गया, तो पूरा वाक्य बना—‘इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते’ जो कि उपर्युक्त श्लोकमें है । इस कर्मकर्तृका प्रयोग करनेका तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियाँ जिन विषयोंमें विचरती हैं, उन विषयोंमेंसे मन जिस किसी विषयमें खिंच जाता है, रस लेने लग जाता है, वह अकेला मन ही बुद्धिको हर लेता है अर्थात् मनमें विषयभोगकी प्रधानता हो जाती है ।

है अर्थात् साधकमें कर्तव्य-परायणता न रहकर भोगबुद्धि पैदा हो जाती है। वह भोगबुद्धि होनेसे साधकमें 'मुझे परमात्माकी प्राप्ति ही करना है'—यह व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं रहती। इस तरहका विवेचन करनेमें तो देरी लगती है, पर बुद्धि विचलित होनेमें देरी नहीं लगती अर्थात् जहाँ इन्द्रियने मनको अपना अनुगामी बनाया कि मनमें भोगबुद्धि पैदा हो जाती है और उसी समय बुद्धि मारी जाती है।

‘वायुर्नौवमिवाम्भसि’—वह बुद्धि किस तरह हर ली जाती है—इसको दृष्टान्तरूपसे समझाते हैं कि जलमें चळती हुई नौकाको वायु जैसे हर लेती है, ऐसे ही मन बुद्धिको हर लेता है। जैसे, कोई मनुष्य नौकाके द्वारा नदी या समुद्रको पार करते हुए अपने गन्तव्य स्थानको जा रहा है। अगर उस समय नौकाके विपरीत वायु चळती है, तो वह वायु उस नौकाको गन्तव्य स्थानसे विपरीत ले जाती है। ऐसे ही साधक व्यवसायात्मिका बुद्धिरूप नौकापर आखड़ होकर संसार-सागरको पार करता हुआ परमात्माकी तरफ चळता है, तो एक इन्द्रिय जिस मनको अपना अनुगामी बनाती है, वह अकेला मन ही बुद्धिरूप नौकाको हर लेता है अर्थात् संसारकी तरफ ले जाता है। इससे साधककी विषयोंमें सुखबुद्धि और उनके उपयोगी पदार्थोंमें महस्वबुद्धि हो जाती है।

वायु नौकाको दो तरहसे विचलित करती है—नौकाको पथभ्रष्ट कर देती है अथवा जलमें डुबा देती है। परन्तु कोई चतुर नाविक होता है तो वह वायुकी क्रियाको अपने अनुकूल बना लेता

है, जिससे वायु नौकाको अपने मार्गसे अलग नहीं ले जा सकती, प्रत्युत उसको गन्तव्य स्थानतक पहुँचानेमें सहायता करती है। ऐसे ही इन्द्रियोके अनुगामी हुआ मन बुद्धिको दो तरहसे विचलित करता है—परमात्मप्राप्तिके निश्चयको दबाकर भोगबुद्धि पैदा कर देता है अथवा निषिद्ध भोगोंमें लगाकर पतन करा देता है। परन्तु जिसका मन और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसकी बुद्धिको मन विचलित नहीं करत, प्रत्युत परमात्माके पास पहुँचानेमें सहायता करता है (२।६४-६५)।

सम्बन्ध—

अयुक्त पुरुषकी निश्चयात्मिका बुद्धि क्यों नहीं होती, इसका हेतु तो पूर्वश्लोकमें बता दिया। अब जो युक्त होता है, उसकी स्थितिका वर्णन करनेके लिये आगेका श्लोक कहते हैं।

श्लोक—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

अर्थ—

इसलिये हे महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सर्वथा निगृहीत (वशमें की हुई) हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है।

व्याख्या—

‘तस्माद्यस्य’.....‘प्रज्ञा प्रतिष्ठिता’—साठवें श्लोकसे मन और इन्द्रियोको वशमें करनेका जो विषय चला आ रहा है, उसका उपसंहार करते हुए ‘तस्मात्’ पदसे कहते हैं कि जिसके

मन और इन्द्रियोंमें संसारका आकर्षण नहीं रहा है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है ।

यहाँ 'सर्वशः' पद देनेका तात्पर्य है कि संसारके साथ व्यवहार करते हुए अथवा एकान्तमें चिन्तन करते हुए— किसी भी अवस्थामें उसकी इन्द्रियाँ भोगोंमें, विषयोंमें प्रवृत्त नहीं होतीं । व्यवहारकालमें कितने ही विषय उसके सम्पर्कमें क्यों न आ जायँ, पर वे विषय उसको विचलित नहीं कर सकते । उसका मन भी इन्द्रियके साथ मिलकर उसकी बुद्धिको विचलित नहीं कर सकता । जैसे पहाड़को कोई ढिगा नहीं सकता, ऐसे ही उसकी बुद्धिमें इतनी दृढ़ता आ जाती है कि उसको मन किसी भी अवस्थामें ढिगा नहीं सकता । कारण कि उसके मनमें विषयोंका महत्त्व नहीं रहा ।

'निगृह्योतानि' का तात्पर्य है कि इन्द्रियाँ विषयोंसे पूरी तरहसे वशमें की हुई हैं अर्थात् विषयोंमें उनका लेशमात्र भी राग, आसक्ति, खिंचाव नहीं रहा है । जैसे साँपके दाँत निकाल दिये जायँ, तो फिर उसमें जहर नहीं रहता । वह किसीको काट भी लेता है तो उसका कोई असर नहीं होता । ऐसे ही इन्द्रियोंको राग-द्वेषसे रहित कर देना ही मानो उनके जहरीले दाँत निकाल देना है । फिर उन इन्द्रियोंमें यह ताकत नहीं रहती कि वे साधकको पतनके मार्गमें ले जायँ ।

इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि साधकको दृढ़तासे यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मेरा लक्ष्य परमात्माकी प्राप्ति करना

है, भोग भोगना और संग्रह करना मेरा लक्ष्य नहीं है । ऐसी सावधानी साधकमें निरन्तर बनी रहे, तो उसकी बुद्धि स्थिर हो जायगी ।

सम्बन्ध—

जिसकी इन्द्रियाँ सर्वथा वशमें हैं, उसमें और साधारण प्राणियोंमें क्या अन्तर है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

अर्थ—

सम्पूर्ण प्राणियोंकी जो रात (परमात्मासे विमुख रहना) है, उसमें संयमी पुरुष जागता है, और जिसमें साधारण प्राणी जागते हैं (भोग और संग्रहमें लगे रहते हैं), वह तत्त्वको जाननेवाले मुनिकी दृष्टिमें रात है ।

व्याख्या—

‘या निशा सर्वभूतानाम्’—जिनकी इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं हैं, जो भोगोंमें आसक्त हैं, वे सब परमात्मतत्त्वकी तरफसे सोये हुए हैं । परमात्मा क्या है ? तत्त्वज्ञान क्या है ? हम दुःख क्यों पा रहे हैं ? सन्ताप-जलन क्यों हो रही है ? हम जो कुछ कर रहे हैं, उसका परिणाम क्या होगा—इस तरफ बिल्कुल न देखना ही उनकी रात है, उनके लिये बिल्कुल अँधेरा है ।

यहाँ ‘भूतानाम्’ कहनेका तात्पर्य है कि जैसे पशु-पक्षी आदि दिनभर खाने-पीनेमें ही लगे रहते हैं, ऐसे ही जो मनुष्य रात-दिन

खाने-पीनेमें, सुख-आराममें, भोगों और संग्रहमें, धन कमानेमें ही लगे हुए हैं, उन मनुष्योंकी गणना भी पशु-पक्षी आदिमें ही है । कारण कि परमात्मतत्त्वसे विमुख रहनेमें, पशु-पक्षी आदिमें और मनुष्योंमें कोई अन्तर नहीं है । दोनों ही परमात्मतत्त्वकी तरफसे सोये हुए हैं । हाँ, अगर कोई अन्तर है तो वह इतना ही है कि पशु-पक्षी आदिमें विवेकशक्ति इतनी जाग्रत् नहीं है, इसलिये वे खाने-पीने आदिमें ही लगे रहते हैं; और मनुष्योंमें भगवान्की कृपासे वह विवेकशक्ति जाग्रत् है, जिससे वह अपना कल्याण कर सकता है, प्राणिमात्रकी सेवा कर सकता है, परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है । परन्तु उस विवेकशक्तिका दुरुपयोग करके मनुष्य पदार्थोंका संग्रह करनेमें और उनका भोग करनेमें लग जाते हैं, जिससे वे संसारके लिये पशुओंसे भी अधिक दुःखदायी हो जाते हैं । कारण कि पशु-पक्षी तो वेचारे जितनेसे पेट भर जाय उतना ही खाते हैं संग्रह नहीं करते; परन्तु मनुष्यको कहीं भी जो कुछ पदार्थ आदि मिल जाता है, वह उसके काममें आये चाहे न आये, उसका तो वह संग्रह कर ही लेता है और दूसरोंके काममें आनेमें बाधा डाल देता है ।

‘तस्यां जागर्ति संयमी’—प्राणियोंकी जो रात है अर्थात् परमात्माकी तरफसे, अपने कल्याणकी तरफसे जो विमुखता है, उसमें संयमी पुरुष जागता है । जिसने इन्द्रियों और मनको वशमें किया है, जो भोग और संग्रहमें आसक्त नहीं है, जिसका ध्येय केवल परमात्मा है, वह संयमी पुरुष है । परमात्मतत्त्वको, अपने

स्वरूपको, संसारको यथार्थरूपसे जानना ही उसका प्राणियोंकी रानमें जागना है ।

‘यस्यां जाग्रति भूतानि’—जो भोग और संग्रहमें बड़े सावधान रहते हैं, एक-एक पाईका हिसाब रखते हैं, जमीनके एक-एक इंचका ख्याल रखते हैं; जितने रुपये अधिकारमें आ जायें, वे चाहे न्यायपूर्वक हो अथवा अन्यायपूर्वक, उसमें वे बड़े खुश होते हैं कि इतनी पूँजी तो हमने ले ही ली है, इतना लाभ तो हमें हो ही गया है—इस तरह वे सांसारिक क्षणभङ्गुर भोगोंको बटोरनेमें और आदर-सत्कार, मान-बड़ाई आदि प्राप्त करनेमें ही लगे रहते हैं, उनमें बड़े सावधान रहते हैं, यही उन लोगोंका जागना है ।

‘सा निशा पश्यतो मुनेः’—जिन सांसारिक पदार्थोंका भोग और संग्रह करनेमें मनुष्य अपनेको बड़ा बुद्धिमान्, चतुर मानते हैं और उसीमें राजी होते हैं, संसार और परमात्मतत्त्वको जाननेवाले मननशील संयमी पुरुषकी दृष्टिमें वह सब रातके समान है, बिल्कुल अँधेरा है ।

जैसे बच्चे खेलते हैं तो वे कंकड़-पत्थर, काँचके लाल-पीले टुकड़ोंको लेकर आपसमें लड़ते हैं । अगर वह मिल जाता है तो राजी होते हैं कि मैंने बहुत बड़ा लाभ ले लिया और अगर वह नहीं मिलता तो दुःखी हो जाते हैं कि मेरी बड़ी भारी हानि हो गयी । परन्तु जिसके मनमें कंकड़-पत्थर आदिका महत्त्व नहीं है, ऐसा समझदार व्यक्ति समझता है कि इन कंकड़-

पत्थरोंके मिलनेसे क्या लाभ हुआ और उनके न मिलनेसे क्या हानि हुई ! इन बच्चोंको अगर कंकड़-पत्थर मिल भी जायँगे, तो ये कबतक उनके साथ रहेंगे ? इसी तरह भोग और संग्रहमें लगे हुए मनुष्य भोगोंके लिये लड़ाई-झगड़ा, झूठ-कपट, बेईमानी आदि करते हैं और उनको प्राप्त करके राजी होते हैं, खुशी मनाते हैं कि हमने बहुत लाभ ले लिया है । परन्तु संसारको और परमात्मतत्त्वको जाननेवाला मननशील संयमी पुरुष साफ देखता है कि भोग मिल गये, आदर-सत्कार हो गया, सुख-आराम हो गया, खा-पी लिया, खूब शृङ्गार कर लिया तो क्या हो गया ? इसमें मनुष्योंको क्या मिला ? इनमें-से इनके साथ क्या चलेगा ? ये कबतक इन भोगोंको साथमें रखेंगे ? इन भोगोंसे होनेवाली तृप्ति कितने दिनोंतक ठहरेगी ? इस तरह उसकी दृष्टिमें प्राणियोंका जगना रातके समान है ।

वह मननशील संयमी पुरुष परमात्माको, अपने स्वरूपको और संसारके परिणामको तो जानता ही है, वह पदार्थोंको भी अच्छी तरहसे जानता है कि कौन-सा पदार्थ किसके हितमें लगा सकता है, इससे दूसरोंको कितना लाभ होगा । वह पदार्थोंका अपनी-अपनी जगह ठीक तरहसे सदुपयोग करता है । उनको दूसरोंकी सेवामें लगाता है ।

जैसे नेत्रोंमें दोष होनेपर जब हम आकाशको देखते हैं, तो उसमें जाले-से दीखते हैं और आँखें मीच लेनेपर भी मोरपंखकी तरह वे जाले दीखते हैं; परन्तु उनके दीखनेपर भी हमारी

बुद्धिमें यह अटल निश्चय रहता है कि आकाशमें जाले नहीं हैं ।
ऐसे ही इन्द्रियों और अन्तःकरणके द्वारा संसार देखनेपर भी
मननशील संयमी पुरुषकी बुद्धिमें यह अटल निश्चय रहता है कि
वास्तवमें संसार नहीं है, केवल प्रतीतिमात्र है ।

सम्बन्ध—

मननशील संयमी पुरुषको संसार रातकी तरह दीखता है ।
अब प्रश्न उठता है कि क्या वह सांसारिक पदार्थोंके सम्पर्कमें
आता ही नहीं ? अगर नहीं आता तो उसका जीवन-निर्वाह
कैसे होता है ? और अगर आता है तो उसकी स्थिति कैसे रहती
है ? इन बातोंका विवेचन करनेके लिये आगेका श्लोक
कहते हैं ।

श्लोक—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

अर्थ—

जैसे सम्पूर्ण नदियोंका जल चारों ओरसे जड़द्वारा परिपूर्ण
समुद्रमें आकर मिलता है, पर समुद्र अपनी मर्यादामें अचल प्रतिष्ठित
रहता है । ऐसे ही सम्पूर्ण भोग-पदार्थ जिस संयमी पुरुषमें विकार
उत्पन्न किये बिना ही उसको प्राप्त होते हैं, वही पुरुष परमशान्ति-
को प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला नहीं ।

व्याख्या—

‘आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्’—
वर्षाकालमें नदियो और नदोंका जल बहुत बढ़ जाता है; कई नदियोमें बाढ आ जाती है। परन्तु जब वह जल चारों ओरसे जलद्वारा परिपूर्ण समुद्रमें आकर मिलता है, तो समुद्र बढ़ता नहीं, अपनी मर्यादामें ही रहता है। गरमीके दिनोंमें नदियो और नदोंका जल बहुत कम हो जाता है, कई नदियाँ सूख जाती हैं। परन्तु जब वह जल समुद्रमें आकर मिलता है तो समुद्र घटता नहीं। तात्पर्य है कि नदी-नदोंका जल ज्यादा आनेसे अथवा कम आनेसे या न आनेसे तथा बड़वानल-(जलमें पैदा होनेवाली अग्नि-) द्वारा जलका शोषण होनेसे समुद्रमें कोई फर्क नहीं पड़ता, वह बढ़ता-घटता नहीं। उसको नदी-नदोंके जलकी अपेक्षा नहीं रहती। वह तो सदा-सर्वदा ज्यों-का-त्यों ही परिपूर्ण रहता है और वह अपनी मर्यादाका कभी त्याग नहीं करता।

‘तद्वत्कामा* यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति’—
ऐसे ही संसारके सम्पूर्ण भोग उस परमात्मतत्त्वको जाननेवाले संयमी पुरुषको प्राप्त होते हैं, उसके सामने आते हैं, पर वे उसके कहे जानेवाले शरीर और अन्तःकरणमें सुख-दुःखरूप विकार पैदा नहीं कर सकते। अतः वह परमशान्तिको प्राप्त होता है। उसकी जो शान्ति है, वह परमात्मतत्त्वके कारणसे है, भोग-पदार्थोंके कारणसे नहीं है (गीता २ । ४६) ।

* यहाँ ‘कामाः’ पद कामनाका वाचक नहीं है, प्रत्युत जिन पदार्थोंकी कामना की जाती है, उन भोग-पदार्थोंका वाचक है।

यहाँ जो समुद्र और नदियोंके जलका दृष्टान्त दिया गया है, वह स्थितप्रज्ञ संयमी पुरुषके विषयमें पूरा घटता नहीं है । कारण कि समुद्र और नदियोंके जलमें तो सजातीयता है अर्थात् जो जल समुद्रमें भरा हुआ है, उसी जातिका जल नद-नदियोंसे आता है और नद-नदियोंसे जो जल आता है, उसी जातिका जल समुद्रमें भरा हुआ है । परन्तु स्थितप्रज्ञ और सांसारिक भोग-पदार्थमें इतना फर्क है कि इसको समझानेके लिये रात-दिन, आकाश-पाताल आदिका दृष्टान्त भी नहीं लग सकता ! कारण कि स्थितप्रज्ञ पुरुष जिस तत्त्वमें स्थित है, वह तत्त्व चेतन है, नित्य है, सत्य है, असीम है, अनन्त है और सांसारिक भोग-पदार्थ जड़ हैं, अनित्य हैं, असत् हैं, सीमित हैं, अन्तवाले हैं ।

दूसरा अन्तर यह है कि समुद्रमें तो नदियोंका जल पहुँचता है, पर स्थितप्रज्ञ जिस तत्त्वमें स्थित है, वहाँ ये सांसारिक भोग-पदार्थ पहुँचते ही नहीं, प्रत्युत केवल उसके कहे जानेवाले शरीर-अन्तःकरणतक ही पहुँचते हैं । अतः समुद्रका दृष्टान्त केवल उसके कहे जानेवाले शरीर और अन्तःकरणकी स्थितिको बतानेके लिये ही दिया गया है । उसके वास्तविक स्वरूपको बतानेवाला कोई दृष्टान्त नहीं है ।

‘न कामकामी’—जिनके मनमें भोग-पदार्थोंकी कामना है, जो पदार्थोंको ही महत्त्व देते हैं, जिनकी दृष्टि पदार्थोंकी तरफ ही है, उनको कितने ही सांसारिक भोग-पदार्थ मिल जायँ, तो भी उनकी तृप्ति नहीं हो सकती; उनकी कामना, जलन, सन्ताप

नहीं मिट सकते, तो फिर उनको शान्ति कैसे मिल सकती है ? कारण कि चेतनस्वरूपकी तृप्ति जड़ पदार्थोंसे हो ही कैसे सकती है ?

सम्बन्ध—

अब आगेके श्लोकमें ‘स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है ?’—इस प्रश्नके उत्तरका उपसंहार करते हैं ।

श्लोक—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥
अर्थ—

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके निर्मम, निरहंकार और निःस्पृह होकर विचरता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है ।

ब्याख्या—

‘विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः’—अप्राप्त वस्तुकी इच्छाका नाम ‘कामना’ है । स्थितप्रज्ञ महापुरुष सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर देता है । कामनाओंका त्याग कर देनेपर भी शरीरके निर्वाहमात्रके लिये देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिकी जो आवश्यकता दीखती है अर्थात् जीवन-निर्वाहके प्राप्त और अप्राप्त वस्तु आदिकी जो जरूरत दीखती है, उसका नाम ‘स्पृहा’ है । स्थितप्रज्ञ पुरुष इस स्पृहाका भी त्याग कर देता है । कारण कि जिसके लिये शरीर मिला था और जिसकी आवश्यकता थी, उस तत्त्वकी प्राप्ति हो गयी, वह आवश्यकता पूरी हो गयी । अब शरीर रहे, चाहे न रहे; शरीर-निर्वाह हो, चाहे

न हो—इस तरफ वह वेपरवाह रहता है । यही उसका निःस्पृह होना है ।

निःस्पृह होनेका अर्थ यह नहीं है कि वह निर्वाहकी वस्तुओंका सेवन करता ही नहीं । वह निर्वाहकी वस्तुओंका सेवन भी करता है, पथ्य-कुपथ्यका भी ध्यान रखता है अर्थात् पहले साधनावस्थामें शरीर आदिके साथ जैसा व्यवहार करता था, वैसा ही व्यवहार अब भी करता है; परन्तु शरीर बना रहे तो अच्छा है, जीवन-निर्वाहकी वस्तुएँ मिलती रहें तो अच्छा है—ऐसी उसके भीतर कोई परवाह नहीं होती ।

इसी अध्यायके पचपनवें श्लोकमें 'प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्' पदोंसे कामना-त्यागकी जो बात कही थी, वही बात यहाँ 'विहाय कामान्यः सर्वान्' पदोंसे कही है । इसका तात्पर्य है कि कर्मयोगमें सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग किये बिना कोई स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि कामनाओंके कारण ही संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है । कामनाओंका सर्वथा त्याग करनेपर संसारके साथ सम्बन्ध रह ही नहीं सकता ।

'निर्ममः'—स्थितप्रज्ञ महापुरुष ममताका सर्वथा त्याग कर देता है । मनुष्य जिन वस्तुओंको अपनी मानता है, वे वास्तवमें अपनी नहीं हैं, प्रत्युत संसारसे मिली हुई हैं । मिली हुई वस्तुको अपनी मानना भूल है । यह भूल मिट जानेपर स्थितप्रज्ञ वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ आदिमें ममतारहित हो जाता है ।

‘निरहंकारः’—यह शरीर मैं ही हूँ—इस तरह शरीरसे तादात्म्य मानना अहंकार है। स्थितप्रज्ञमें यह अहंकार नहीं रहता। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि सभी किसी प्रकाशमें दीखते हैं, और जो ‘मैं’-पन है, इसका भी किसी प्रकाशमें भान होता है। अतः प्रकाशकी दृष्टिसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंता (‘मैं’-पन)—ये सभी दृश्य हैं। द्रष्टा दृश्यसे अलग होता है—यह नियम है। ऐसा अनुभव हो जानेसे स्थितप्रज्ञ निरंकार हो जाता है।

‘स शान्तिमधिगच्छति’—स्थितप्रज्ञ शान्तिको प्राप्त होता है। कामना, स्पृहा, ममता और अहंतासे रहित होनेपर शान्ति आकर प्राप्त होती है—ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत शान्ति तो मनुष्यमात्रमें स्वतःसिद्ध है। केवल उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुओंसे सुख भोगनेकी कामना करनेसे, उनसे ममताका सम्बन्ध रखनेसे ही अशान्ति होती है। जब संसारकी कामना, स्पृहा, ममता और अहंता सर्वथा छूट जाती है तो स्वतःसिद्ध शान्ति-ही-शान्ति रहती है अर्थात् स्वतःसिद्ध शान्तिका अनुभव हो जाता है।

इस श्लोकमें कामना, स्पृहा, ममता और अहंता—इन चारोंमें अहंता ही मुख्य है। कारण कि एक अहंताके निषेधसे सबका निषेध हो जाता है अर्थात् जब ‘मैं’-पन ही नहीं रहेगा तो, ‘मेरा’-पन कैसे होगा और कामना भी कौन करेगा और किसलिये करेगा ? अतः जब ‘निरहंकारः’ कहनेमात्रसे ही कामना आदिका त्याग उसके अन्तर्गत आ जाता था, तो फिर कामना आदिके त्यागका वर्णन क्यों किया ? इसका उत्तर यह है कि कामना, स्पृहा, और अहंता—इन चारोंमें कामना स्थूल है। कामनासे सूक्ष्म,

स्पृहा, स्पृहासे सूक्ष्म ममता और ममतासे सूक्ष्म अहंता है। इसलिये संसारसे सम्बन्ध छोड़नेमें सबसे पहले कामनाका त्याग कर दिया जाय, तो अन्य तीनोंका त्याग करना सुगम हो जाता है।

कामना करनेसे कोई वस्तु नहीं मिलती। वस्तु तो जो मिलनेवाली है, वही मिलेगी। अतः कामनाका त्याग कर देना चाहिये। कामनाका त्याग करनेके बाद भी स्पृहा रहती है। स्पृहा (शरीर-निर्वाहकी आवश्यकता) पूरी हो जाय, यह भी हमारे हाथकी बात नहीं है अर्थात् स्पृहाकी पूर्तिमें भी हम स्वतन्त्र नहीं हैं। जो होना होगा, वह तो होगा ही, फिर स्पृहा रखनेसे क्या लाभ? अतः शरीरके लिये अन्न, जल, वस्त्र आदि की आशा छोड़नेसे स्पृहा छूट जाती है।

कामना और स्पृहाको छोड़नेके बाद भी प्राप्त वस्तु शरीर आदिमें ममता रहती है। ममता रखनेसे वस्तु आदि सुरक्षित रहती हो—यह भी कोई नियम नहीं है और ममता न रखनेसे वस्तु आदि नष्ट हो जातो हो—यह भी कोई नियम नहीं है। अतः प्राप्त वस्तुमें ममता रखनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। तात्पर्य है कि कामना और स्पृहाका त्याग करनेके बाद ममताका त्याग और इन तीनोंका त्याग करनेके बाद अहंताका त्याग सुगम हो जाता है। परन्तु कामना, स्पृहा और ममताका त्याग करनेसे पहले ही अहंताका त्याग करनेमें कठिनता होती है। अतः साधक पहले क्रमशः कामना, स्पृहा और ममताका त्याग कर दे, तो अहंताका त्याग करना उसके लिये सुगम हो जायगा।

अहंता-ममतासे रहित होनेका उपाय

कर्मयोगको दृष्टिसे—‘मेरा कुछ नहीं है’; क्योंकि मेरा किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, अवस्था आदिपर स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। जब मेरा कुछ नहीं है तो ‘मेरेको कुछ नहीं चाहिये’, क्योंकि अगर शरीर मेरा है तो मेरेको अन्न, जल, वस्त्र आदिकी आवश्यकता है, पर जब शरीर मेरा है ही नहीं तो मेरेको किसीकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। जब मेरा कुछ नहीं और मेरेको कुछ नहीं चाहिये, तो फिर ‘मैं’ क्या रहा ? क्योंकि ‘मैं’ तो किसी वस्तु, शरीर, स्थिति आदिको पकड़नेसे ही होता है।

मेरे कहलानेवाले शरीर आदिका मात्र संसारके साथ सर्वथा अभिन्न सम्बन्ध है। इसलिये अपने कहलानेवाले शरीर आदिसे जो कुछ करना है, वह सब केवल संसारके हितके लिये ही करना है; क्योंकि मेरेको कुछ चाहिये ही नहीं। ऐसा भाव होनेपर ‘मैं’-का एकदेशीयपना आप-से-आप मिट जाता है और कर्मयोगी अहंता-ममतासे रहित हो जाता है।

सांख्ययोगकी दृष्टिसे—प्राणिमात्रको ‘मैं हूँ’ इस प्रकार अपने स्वरूपकी स्वतःसिद्ध सत्ता-(होनापन-) का ज्ञान रहता है। इसमें ‘मैं’ तो प्रकृतिका अंश है और ‘हूँ’ सत्ता है। यह ‘हूँ’ वास्तवमें ‘मैं’को लेकर है। अगर ‘मैं’ न रहे, तो ‘हूँ’ नहीं रहेगा, प्रत्युत ‘है’ रहेगा।

‘मैं हूँ’, ‘तू है’, ‘यह है’ और ‘वह है’—ये चारों व्यक्ति और देश-कालको लेकर हैं। अगर इन चारोंको अर्थात् व्यक्ति और

देश-कालको न पकड़े, तो केवल 'है' ही रहेगा—'है' में ही स्थिति रहेगी। 'है' में स्थिति होनेसे सांख्ययोगी अहंता-ममतासे रहित हो जाता है।

भक्तियोगकी दृष्टिसे—जिसको 'मैं' और 'मेरा' कहते हैं, वह सब प्रभुका ही है। कारण कि मेरी कहलानेवाली वस्तुपर मेरा किञ्चिन्मात्र भी अधिकार नहीं है; परन्तु प्रभुका उसपर पूरा अधिकार है। वे जिस तरह वस्तुको रखते हैं, जैसा रखना चाहते हैं, वैसा ही होता है। अतः यह सब कुछ प्रभुका ही है। इसको प्रभुकी ही सेवामें लगाना है। मेरे पास जो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि है, यह भी उसीकी है और मैं भी उसीका हूँ। ऐसा भाव होनेपर भक्तियोगी अहंता-ममतासे रहित हो जाता है।

सम्बन्ध—

कामना, स्पृहा, ममता और अहंतासे रहित होनेपर उसकी क्या स्थिति होती है—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हुए इस विषयका उपसंहार करते हैं।

श्लोक—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

अर्थ—

हे पृथानन्दन ! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर कभी कोई मोहित नहीं होता। इस स्थितिमें यदि अन्तकालमें भी स्थित हो जाय, तो निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

व्याख्या—

‘एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ’—यह ब्राह्मी स्थिति है अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है । अहंकाररहित होनेसे जब व्यक्तित्व मिट जाता है, तो उसकी स्थिति स्वतः ही ब्रह्ममें होती है । कारण कि ससारके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही व्यक्तित्व था । उस सम्बन्धको सर्वथा छोड़ देनेसे योगीकी अपनी कोई व्यक्तिगत स्थिति नहीं रहती ।

अत्यन्त नजदीकका वाचक होनेसे यहाँ ‘एषा’ पद पूर्वश्लोक-में आये ‘विहाय कामान्’, ‘निःस्पृहः’, ‘निर्ममः’ और ‘निरहङ्कारः’ पदोंका लक्ष्य करता है ।

भगवान्‌के मुखसे ‘तेरी बुद्धि जब मोहकडिल और श्रुति-विप्रतिपत्तिसे तर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा’—ऐसा सुनकर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि वह स्थिति क्या होगी ? इसपर अर्जुनने स्थितप्रज्ञके विषयमें चार प्रश्न किये । उन चारों प्रश्नोंका उत्तर देकर भगवान्‌ने यहाँ वह स्थिति बतायी कि वह ब्राह्मी स्थिति है । तात्पर्य है कि वह व्यक्तिगत स्थिति नहीं है अर्थात् उसमें व्यक्तित्व नहीं रहता । वह नित्ययोगकी प्राप्ति है । उसमें एक ही तत्त्व रहता है । इस विषयकी तरफ लक्ष्य करानेके लिये ही यहाँ ‘पार्थ’ सम्बोधन दिया गया है ।

‘नैनां प्राप्य विमुह्यति’—जबतक शरीरमें अहंकार रहता है, तभीतक मोहित होनेकी गुंजाइश रहती है । परन्तु जब अहंकारका सर्वथा अभाव होकर ब्रह्ममें अपनी स्थितिका अनुभव

हो जाता है, तो व्यक्तित्व टूटनेके कारण फिर कभी मोहित होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती ।

सत् और असत्को ठीक तरहसे न जानना ही मोह है । तात्पर्य है कि स्वयं सत् होते हुए भी असत्के साथ अपनी एकता मानते रहना ही मोह है । जब साधक असत्को ठीक तरहसे जान लेता है, तो असत्से उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है* और सत्में अपनी वास्तविक स्थितिका अनुभव हो जाता है । इस स्थितिका अनुभव होनेपर फिर कभी मोह नहीं होता—
‘यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव’ (गीता ४।३५)

‘स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति —
यह मनुष्यशरीर केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है । इसलिये भगवान् यह मोका देते हैं कि साधारण-से-साधारण और पापी-से-पापी व्यक्ति ही क्यों न हो, अगर वह अन्तकालमें भी अपनी स्थिति परमात्मामें कर ले अर्थात् जड़तासे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर ले, तो उसे भी निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी प्राप्ति हो जायगी, वह जन्म-मरणसे मुक्त हो जायगा । ऐसी ही बात भगवान्ने सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें कही है कि ‘अधिभूत,

* असत्को जाननेसे असत्की निवृत्ति हो जाती है; क्योंकि असत्की स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं । सत्में ही असत्को सत्ता मिलती है । अगर असत्को जाननेमें असत्की निवृत्ति न हो तो वास्तवमें असत्को जाना ही नहीं है, प्रत्युत सीखा है । सीखे हुए ज्ञानसे असत्की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि मनमें असत्की सत्ता रहती है ।

अधिदैव और अधियज्ञ एक भगवान् ही हैं—ऐसा प्रयाणकालमें भी मेरेको जो जान लेते हैं, वे मेरेको यथार्थरूपसे जान लेते हैं अर्थात् मेरेको प्राप्त हो जाते हैं !’ आठवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें कहा कि ‘अन्तकालमें मेरा स्मरण करता हुआ कोई प्राण छोड़ता है, वह मेरेको ही प्राप्त होता है; इसमें सन्देह नहीं है ।’

दूसरी बात, उपर्युक्त पदोंसे भगवान् उस ब्राह्मी स्थितिकी महिमा गाते हैं कि इसमें अन्तकालमें भी कोई स्थित हो जाय, तो वह शान्त ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है । जैसे समबुद्धिके विषयमें भगवान् ने कहा था कि इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान महान् भयसे रक्षा कर लेता है (२ । ४०); ऐसे ही यहाँ कहते हैं कि अन्तकालमें भी ब्राह्मी स्थिति हो जाय, जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय तो निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है । इस स्थितिका अनुभव होनेमें जड़ताका राग ही बाधक है । यह राग अन्तकालमें भी कोई छोड़ देता है तो उसको ब्रह्ममें अपनी स्वतःसिद्ध वास्तविक स्थितिका अनुभव हो जाता है ।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जो अनुभव उन्मत्तमें नहीं हुआ, वह अन्तकालमें कैसे होगा ? अर्थात् स्वस्थ अवस्थामें तो साधककी बुद्धि स्वस्थ होगी, विचार-शक्ति होगी, सावधानी होगी तो वह ब्राह्मी स्थितिका अनुभव कर लेगा; परन्तु अन्तकालमें प्राण छूटते समय बुद्धि विकल हो जाती है, सावधानी नहीं रहती—ऐसी अवस्थामें ब्राह्मी स्थितिका अनुभव कैसे होगा ?

इसका समाधान यह है कि मृत्युके समयमें जब प्राण छूटते हैं तो शरीर आदिसे स्वतः ही सम्बन्ध-विच्छेद होता है। अगर उस समय उस स्वतःसिद्ध तत्त्वकी तरफ लक्ष्य हो जाय, तो उसका अनुभव सुगमतासे हो जाता है। कारण कि निर्विकल्प अवस्थाकी प्राप्तिमें तो बुद्धि, विवेक आदिकी आवश्यकता पड़ती है, पर अवस्थातीत तत्त्वकी प्राप्तिमें केवल लक्ष्यकी आवश्यकता है*। वह लक्ष्य चाहे पहलेके अभ्याससे हो जाय, चाहे किसी शुभ संस्कारसे हो जाय, चाहे भगवान् या सन्तकी अद्वैतकी कृपासे हो जाय, लक्ष्य होनेपर उसकी प्राप्ति स्वतःसिद्ध है।

यहाँ 'अपि' पदका तात्पर्य है कि अन्तकालसे पहले अर्थात् जीवित-अवस्थामें यह स्थिति प्राप्त कर ले तो वह जीवन्मुक्त हो जाता है, परन्तु अगर अन्तकालमें भी यह स्थिति हो जाय, अर्थात् निर्मम-तिरहंकार हो जाय तो वह भी मुक्त हो जाता है। दूसरा तात्पर्य यह है कि यह स्थिति तत्काल हो जाती है। इस स्थिति-के लिये अभ्यास करने, ध्यान करने, समाधि लगानेकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है।

भगवान्ने यहाँ कर्मयोगके प्रसरणमें 'ब्रह्मनिर्वाणम्' पद दिया है। इसका तात्पर्य है कि जैसे सांख्ययोगीको निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति

* निर्विकल्प अवस्थाकी प्राप्तिमें ही अभ्यास, विचार, निदिध्यासन आदि काम करते हैं, पर निर्विकल्प बोध- (अवस्थातीत ब्राह्मी स्थिति) की प्राप्तिमें बुद्धि काम नहीं करती। उसमें बुद्धि छूट जाती है। कारण कि निर्विकल्प बोध करण-निरपेक्ष है। अर्थात् उसमें करणकी किञ्चिन्मात्र भी अपेक्षा नहीं है। उसकी प्राप्तिमें करणसे सम्बन्ध विच्छेद ही कारण है।

होती है (गीता ५ । २४-२६), ऐसे ही कर्मयोगीको भी निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है । इसी बातको पाँचवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें कहा है कि सांख्ययोगीद्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, वही स्थान कर्मयोगीद्वारा भी प्राप्त किया जाता है—
 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' ।

विशेष बात—

जड़ और चेतन—ये दो पदार्थ हैं । प्राणिमात्रका स्वरूप चेतन है और सड़ जड़का किया हुआ है । जड़की तरफ आकर्षण होना पतनकी तरफ जाना है और चिन्मय-तत्त्वकी तरफ आकर्षण होना उत्थानकी तरफ जाना है, अपना कल्याण करना है । जड़की तरफ जानेमें 'मोह' की मुख्यता होती है और परमात्म-तत्त्वकी तरफ जानेमें 'विवेक' की मुख्यता होती है ।

समझनेकी दृष्टिसे मोह और विवेकके दो-दो विभाग कर सकते हैं—(१) अहंता-ममतायुक्त मोह और कामनायुक्त मोह (२) सत्-असत्का विवेक और कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक ।

प्राप्त वस्तु शरीरादिमें अहंता-ममता करना—यह अहंता-ममतायुक्त मोह है और अप्राप्त वस्तु, घटना परिस्थिति आदिकी कामना करना—यह कामनायुक्त मोह है । शरीरी (शरीरमें रहनेवाला) अलग है और शरीर अलग है, शरीरी सत् है और शरीर असत् है, शरीरी चेतन है और शरीर जड़ है—इसको ठीक तरहसे अलग-अलग जानना सत्-असत्का विवेक है और कर्तव्य क्या है, अकर्तव्य क्या है, धर्म क्या है, अधर्म क्या है—इसको

ठीक तरहसे समझकर उसके अनुसार कर्तव्य करना और अकर्तव्य-का त्याग करना कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक है ।

पहले अध्यायमें अर्जुनको भी दो प्रकारका मोह हो गया था, जिसमें प्राणिमात्र फँसे हुए हैं । अहंताको लेकर 'हम दोषोंको जाननेवाले धर्मात्मा हैं' और ममताको लेकर 'ये कुटुम्बी मर जायँगे'—यह अहंता-ममतायुक्त मोह हुआ । हमें पाप न लगे, कुल्लके नाशका दोष न लगे, मित्रद्रोहका पाप न लगे, नरकोंमें न जाना पड़े, हमारे पितरोंका पतन न हो—यह कामना युक्त मोह हुआ ।

उपर्युक्त दोनों प्रकारके मोहको दूर करनेके लिये भगवान् ने दूसरे अध्यायमें दो प्रकारका विवेक बताया है—शरीरी-शरीरका सत्-असत्का विवेक (२ । ११-३०) और कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक (२ । ३१-५३) ।

शरीरी-शरीरका विवेक बताते हुए भगवान् ने कहा कि मैं, तू और ये राजालोग पहले नहीं थे—यह बात भी नहीं और आगे नहीं रहेंगे—यह बात भी नहीं अर्थात् हम सभी पहले भी थे और आगे भी रहेंगे, तथा ये शरीर पहले भी नहीं थे और आगे भी नहीं रहेंगे तथा बीचमें भी प्रतिक्षण बदल रहे हैं । जैसे शरीरमें कुमार, युवा और वृद्धावस्था—ये अवस्थाएँ बदलती हैं और जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड़कर नये वस्त्र धारण करता है, ऐसे ही जोव पहले शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है । यह तो अकाट्य नियम है । इसमें चिन्ताकी; शोककी बात ही क्या है ?

कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक बताते हुए भगवान् ने कहा कि क्षत्रियके लिये युद्धसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है। अनायास प्राप्त हुआ युद्ध स्वर्गप्राप्तिका खुला दरवाजा है। तू युद्धरूप स्वधर्मका पाळन नहीं करेगा तो तेरेको पाप लगेगा। अगर तू जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके युद्ध करेगा तो तेरेको पाप नहीं लगेगा। तेरा तो कर्तव्य-कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलमें कभी नहीं। तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और कर्म न करनेमें भी तेरी आसक्ति न हो। इसलिये तू कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर और समतामें स्थित होकर कर्मोंको कर; क्योंकि समता ही योग है। जो पुरुष समबुद्धिसे युक्त होकर कर्म करता है, वह जीवित-अवस्थामें ही पुण्य-पापसे रहित हो जाता है।

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दण्डलको और श्रुतिविप्रतिपत्तिको पार कर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो
नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत् — इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें 'सांख्ययोग' नामक दूसरा अध्याय पूर्ण हुआ ॥ २ ॥

कर्मयोग, सांख्ययोग, भक्तियोग आदि सभी साधनोमें विवेककी बड़ी आवश्यकता है। सांख्ययोगमें इस विवेककी मुख्यता है और

सांख्ययोगसे ही भगवान् ने अपना उपदेश आरम्भ किया है; अतः इस अध्यायका नाम 'सांख्ययोग' रखा गया है ।

दूसरे अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें 'अथ द्वितीयोऽध्यायः' के तीन, 'संजय उवाच', 'श्रीभगवानुवाच' आदि पदोंके चौदह, श्लोकोंके नौ सौ सत्तावन और पुष्पिकाके तेरह पद हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग नौ सौ सत्तासी है ।

(२) इस अध्यायमें 'अथ द्वितीयोऽध्यायः' के सात, 'संजय उवाच', 'श्रीभगवानुवाच' आदि पदोंके पैंतालीस, श्लोकोंके दो हजार चार सौ तीन और पुष्पिकाके पैंतालीस अक्षर हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग दो हजार पाँच सौ है । इस अध्यायके बहत्तर श्लोकोंमेंसे पाँचवाँ, सातवाँ, आठवाँ, बीसवाँ, बाईसवाँ और सत्तरवाँ—ये छः श्लोक चौवालीस अक्षरोंके, छठा श्लोक छियालीस अक्षरोंका और उन्तीसवाँ श्लोक पैंतालीस अक्षरोंका है । शेष चौंसठ श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं ।

(३) इस अध्यायमें सात उवाच हैं—दो 'संजय उवाच', तीन 'श्रीभगवानुवाच' और दो 'अर्जुन उवाच' ।

दूसरे अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके बहत्तर श्लोकोंमेंसे पाँचवाँ, छठा, सातवाँ, आठवाँ, बीसवाँ, बाईसवाँ, उन्तीसवाँ और सत्तरवाँ—ये आठ

श्लोक 'उपजाति' छन्दवाले हैं । दूसरे, बावनवें और सड़सठवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला'; बारहवें, छब्बीसवें और बत्तीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा इकसठवें और तिरसठवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे 'र-विपुला'; छत्तीसवें और छप्पनवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'भ-विपुला'; इकहत्तरवें श्लोकके प्रथम चरणमें और इक्कीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे 'म-विपुला'; छियालीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'सगण' प्रयुक्त होनेसे 'स-विपुला'; पैंतीसवें श्लोकके प्रथम और तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'जातिपक्ष-विपुला'; और सैंतालीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' तथा तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'संकीर्ण-विपुला' संज्ञावाले छन्द हैं । शेष उन्चास श्लोक ठीक 'पथ्याचक्षत्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं ।



